मोतीमाला का २० वाँ रत्न

कालिदास

लेखक

वासुदेव विष्णु मिराशी एम० ए०

अध्यक्ष—सस्कृतविभाग, नागपुरविश्वविद्यालय

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

हिन्दी सस्कृत पुस्तक-विक्रेता

सैदमिट्ठा बाज़ार लाहौर

प्रथम सस्करण] सन् १९३८ [मूल्य २।)

प्रास्ताविक

प्रस्तुत पुस्तक नागपुर की प्रसिद्ध 'नवभारत ग्रंथमाला' में प्रकाशित मराठी पुस्तक का अनुवाद है। हिन्दी जनता कालिदास के काव्य और नाटकों से अपरिचित नहीं है। आजतक उनके काव्य और नाटकों के अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने कालिदास की कविता के गुणदोष पर भी समालोचनात्मक रीति से बहुत कुछ लिखा है। किन्तु कालिदाससम्बन्धी सभी विषयों पर व्यापक रूप से सर्वाङ्गीण विवेचन करनेवाले ग्रन्थ का अभी तक हिन्दी साहित्य में ही नहीं किन्तु अन्य भारतीय और विदेशीय साहित्य में भी—जहां तक मैं जानता हूं—अभाव ही है।

कालिदास के जन्मस्थान और समय सम्बन्धी विवादग्रस्त प्रश्नों का विचार अनेक विद्वानों ने किया है। फिर भी प्रश्न अभी तक अनिश्चित ही है। इसलिये प्रस्तुत पुस्तक में उन प्रश्नों के विषय में केवल अपना ही मत न देकर आज तक इस विषय में प्रतिपादित प्रधान मतों का उल्लेख तथा तर्क और युक्तियों का ऊहापोहपूर्वक विवेचन किया गया है। इसलिये आशा है पाठकों को अपना मत निश्चित करने में सहायता मिलेगी। साथ ही मुझे विश्वास है संस्कृतज्ञ पाठकों को प्रस्तुत पुस्तक का यह भाग मनोरञ्जक तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होगा। अन्य पाठकों को भी सरलरीति से कालिदास की कविता का रसास्वादन हो इसलिये कालिदासकालीन परिस्थिति, तथा उनके काव्य और नाटकों के विषय में भी विस्तारपूर्वक लिखा गया है। यदि इन विषयों को पाठकगण पहले ही पढ़ लेंगे तो अन्य भागों के समझने में कठिनाई न पड़ेगी।

कालिदास के विषय में मिले हुए सभी ग्रन्थों और लेखों का उपयोग प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। इसका निर्देश उन उन स्थलों पर कृतज्ञतापूर्वक मैंने किया है। जिज्ञासु पाठक सत्यासत्य के निर्णय का स्वयं परीक्षण कर सकें इसलिये फुटनोट में स्थल निर्देश भी मैंने कर दिया है। इस पुस्तक में संशोधकों के मतों का केवल उल्लेख नहीं है किन्तु उन विषयों पर मैंने नवीन संशोधन मौलिक विचार और स्वतन्त्र मत देने का प्रयत्न किया है। मुझे दृढ विश्वास है कि बहुश्रुत और अध्ययनशील पाठकों को यह पसन्द आयगा।

प्रस्तुत अनुवाद करने का श्रेय पं० हृषीकेश शर्मा, भारतीय साहित्य परिषद् वर्धा, को है। इसलिये मैं उनका कृतज्ञ हूं। साथ ही उस अनुवाद को सुसंस्कृत करने में प्रो० सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, मॉरिस कालेज नागपुर तथा पं० उदयशंकर भट्ट लाहौर, ने जो सहायता दी है उसका कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख करना आवश्यक है। लाहौर के प्रसिद्ध संस्कृत-हिन्दी प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास ने इस पुस्तक को प्रकाशनार्थ स्वीकार किया, तदर्थ वे भी धन्यवादार्ह हैं।

नागपुर विश्वविद्यालय
नाग पंचमी सम्वत् १९९५

वा० वि० मिराशी

समर्पण

मध्यप्रान्त के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेता

और

हिंदी साहित्य के सन्मान्य लेखक

स्वर्गीय

रायबहादुर डा० हीरालाल जी

की

पुण्यस्मृति

में

अनुक्रमाणिका

पहला परिच्छेद

काल-निर्णय

'ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीता शकारातिना ।'
(शकारि विक्रमादित्य ने कालिदास की कृतियों को प्रसिद्धि दी ।)
—अभिनन्दकृत रामचरित

हमारा संस्कृत साहित्य अत्यन्त सम्पन्न और अगाध है । वेद, वेदांग, उपनिषद्, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र, व्याकरण, काव्य, नाटक इत्यादि विविध विषयक सैकड़ों ग्रंथ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं और सैकड़ों ग्रंथ अब भी 'हस्त लिपि' की हालत में किसी पुस्तक प्रकाशक की कृपादृष्टि की प्रतीक्षा कर रहे हैं । इसके अतिरिक्त हमारे सैकड़ों अनमोल ग्रंथ विधि की विडम्बना से अकाल ही में काल-कवलित हो चुके हैं । हजारों वर्षों तक अनेक विद्वान् लेखकों ने अपना अपार बुद्धि वैभव व्यय करके इस विशाल ग्रंथ भण्डार को शास्त्र सम्पत्ति से भरा है । यह सब होते हुए भी इस विशाल भण्डार में ऐतिहासिक ग्रंथों का अभाव प्रत्येक संस्कृत साहित्य प्रेमी को खटकता है । यह बात नहीं कि ऐतिहासिक ग्रंथ हमारे यहाँ हैं ही नहीं ।

हैं अवश्य, उदाहरणार्थ कल्हण कवि की 'राजतरंगिणी', बाण कवि का 'हर्षचरित', पद्मगुप्त का 'नवसाहसाङ्कचरित' और बिल्हण कवि का 'विक्रमाङ्कदेवचरित' इत्यादि अगुलियों पर गिनने लायक कुछ ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं। परन्तु इनमें से यथार्थ ऐतिहासिक सामग्री का निकालना कष्ट-साध्य है। क्योंकि अण्ट सण्ट घटनाओं, विचित्र कथा प्रबन्धों और अतिशयोक्तियों की इनमें इतनी भरमार है कि इनमें से ऐतिहासिक सत्य को ढूँढ़ निकालना असम्भव सा हो रहा है। जब हमें अपने पूर्वकालीन प्रतापी सम्राट् अशोक, विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, भोज आदि राजाओं के शासनकाल की खास खास घटनाओं तथा उनके गुण दोषों का पूरा पूरा पता नहीं, तब उनके आश्रित कवियों, लेखकों और कलाकारों के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर लेना तो और भी मुश्किल है। यद्यपि भवभूति, बाण, राजशेखर, बिल्हण आदि कवियों ने स्वरचित ग्रन्थों में अपने वंश, पाण्डित्य और आश्रयदाता के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत उल्लेख अवश्य किया है, पर उससे आधुनिक युग के पुरातत्त्व के प्रेमी पाठक को सन्तोष नहीं होता। फिर भी जिन्होंने अपने विषय में एक अक्षर तक नहीं लिखा, उन कवियों की अपेक्षा इन कवियों का दिया हुआ अपना अल्प-परिचय ऐतिहासिक आधार के लिए बहुत कुछ सहायक है। अगर इन कवियों ने 'अहमन्यता' का दोष स्वीकार करके अपने ग्रन्थों में अपना थोड़ा बहुत परिचय न दिया होता तो उनके काल का भी निर्णय करने में विवाद बना रहता, क्योंकि यह निश्चय है कि समकालीन लेखकों द्वारा उनके जीवित काल में अथवा मृत्यु के बाद उनकी कितनी ही प्रशंसा की गई हो फिर भी उनका 'जीवन चरित्र' लिखना किसी को न सूझता।

कालिदास की ही बात को लीजिये। संसार के प्राय समस्त प्राचीन

और अर्वाचीन देशी विदेशी विद्वानों ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है और उनको 'कविकुलगुरु' की उपाधि से सम्मानित कर संस्कृत कवियों में सर्वोच्च स्थान दिया है। यही क्यों, उन्हें ससार के साहित्य सम्राटों की श्रेणी में बिठाया है। बतलाइये, इस महाकवि के वश, जन्म चरित्र, स्वभाव, योग्यता आदि के बारे में जानने लायक विश्व सनीय सामग्री हमें अपने प्राचीन साहित्य भण्डार से कितनी उपलब्ध होगी? स्वय अत्यन्त विनयी होने के कारण उन्होंने स्व-रचित नाटकों में प्राचीन पद्धति का अनुसरण कर केवल अपना नाम निर्देश किया है। परन्तु स्वरचित काव्यों में तो यह भी छोड़ दिया है। कालिदास की इस नि स्पृहता का कुछ ठिकाना है? वे जिस सहृदय रसिक राजा के आश्रय में रहे, उसके सम्बन्ध में उन्होंने धन-लालसा से प्रेरित हो कर भी एक प्रशस्ति पंक्ति तक नहीं लिखी। यदि हम परोक्ष भाव से किये हुए उल्लेखों को छोड़ दें, तो अपने नाम की तरह आश्रयदाता के नाम का भी उन्होंने कहीं अपने काव्यों में उल्लेख नहीं किया है। अपने यहा देश की महान् विभूतियों, विश्व विजयी सम्राटों तथा महाकवियों के जीवनचरित्र लिखने की प्रथा न होने के कारण उनकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही उनके चरित्र की ऐतिहासिक सामग्री लुप्त हो गई। उस ऐतिहासिकता का स्थान बे सिरपैर की दंतकथाओं ने ले लिया। संस्कृत में बल्लाल कवि का 'भोज प्रबन्ध' ऐसी ही मनगढ़त कथाओं का गड्ढ है। काव्यकला की दृष्टि से इसकी शब्दयोजना में भले ही माधुर्य हो और अर्थवैशद्य में सौंदर्य हो, परन्तु इतिहास की कसौटी पर यह खरा नहीं उतरता। 'भोज प्रबन्ध' का रचना-काल सोलहवीं शताब्दी है। यह कालिदास के सैकड़ों वर्षों बाद लिखा गया था। इस लिए इसका ऐतिहासिक महत्त्व या मूल्य बहुत ही कम है। आश्चर्य तो यह है कि भिन्न-कालीन कवियों को एक ही समय

में और एक ही कतार में बल्लाल ने लाकर खड़ा कर दिया है। भोज के दरबार में कालिदास, भवभूति, भारवि, दडी, बाण, इन सबको आप समस्या पूर्ति करते हुए पाएँगे। इन कवियों का आश्रय दाता प्रसिद्ध धाराधीश भोज भी उक्त कवियों के कई सौ वर्ष बाद ११वीं सदी में हुआ था, यह तो उस के ताम्र-पत्र से भी सिद्ध हो चुका है। अब पाठक स्वय इसका निर्णय करें कि कवियों के समय निर्णय करने में उक्त 'प्रबन्ध' कितना निकम्मा है।

परपरागत विश्वसनीय सामग्री के अभाव में कालिदास के जन्म स्थान, स्थिति-काल तथा चरित्र के सम्बन्ध में अनेकों ने तरह तरह की मनमानी कल्पनाए की हैं। इन सब प्रश्नों में उनका स्थिति-काल एक अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है, साथ ही वह अत्यन्त महत्त्व का और अन्य सब प्रश्नों का विवेचन करने में आधारभूत भी। इससे इस परिच्छेद में इसी विषय का विचार किया जायगा।

कालिदास के काल की दो स्पष्ट सीमायें विद्वानों ने मानी हैं। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का कथानक शुगवशीय राजा अग्निमित्र के चरित्र से लिया है। यह अग्निमित्र, मौर्यवश का उच्छेद कर मगध साम्राज्य को छीननेवाले सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। इसका समय ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व विद्वानों ने निर्धारित किया है। तब कालिदास का समय इससे पहले नहीं हो सकता। कालिदास के नाम का स्पष्ट उल्लेख पहले पहल कन्नोज के सम्राट हर्ष के (ई० स० ६०६—६४७) आश्रित प्रसिद्ध सस्कृत महाकवि बाणभट्ट कृत हर्षचरित की प्रस्तावना में तथा दक्षिण भारत के 'ऐहोले' नामक ग्राम में प्राप्त हुए शिलालेख पर (ई० स० ६३४) खुदी हुई प्रशस्ति में आया है। ये दोनों उल्लेख ईसा की सातवीं शताब्दी के हैं। इससे इसके बाद कालिदास का काल नहीं हो सकता

है। कालिदास के स्थिति काल के विषय में निम्न लिखित मत प्रस्तुत किये जाते हैं —(१) ई० स० की पहली शताब्दी (रा० चिंतामणि वैद्य), (२) ई० स० की चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध (डा० सर रामकृष्ण भाण्डारकर आदि भारतीय तथा अनेक यूरोपियन पंडित), (३) ई० स० पाचवी शताब्दी (प्रो० पाठक), (४) ई० स० की छठी शताब्दी (प्रो० मॅक्समुलर, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री)। ये मत जिस प्रमाण भित्ति पर अधिष्ठित हैं, उनकी छानबीन उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर नीचे दी जाती है।

१ ई० स० से पूर्व पहली शताब्दी

(१) प्राचीन पण्डितों में परपरा से यह बात प्रचलित है कि कालिदास विक्रमादित्य की राज सभा के कवि थे। कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नामकरण में और नाटक के पात्रों के सभाषण में दो स्थान पर ×विक्रम शब्द का सहेतुक उपयोग किया है। जिस प्रकार शेक्सपीयर ने अपने नाटकों में इंग्लैंड के जेम्स् राजा का उल्लेख किया है, उसी प्रकार कालिदास ने भी अपने आश्रयदाता का श्लिष्ट-पदगर्भित उल्लेख किया है। इससे यह अनुमान निकलता है कि वे किसी विक्रमादित्य नामधारी राजा के दर्बार में थे। लोगों की धारणा है कि आजकल का प्रचलित विक्रम नामक सवत्सर इन्हीं विक्रमादित्य राजा का चलाया हुआ है। यह विक्रम सवत् ईसा से ५७ वर्ष पहले चला था। अत कालिदास ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में हुए थे, यह प्राचीनों का मत है और इस की पुष्टि श्री० चिं० वैद्य, प्रो० आपटे, प्रो० शारदारजन राय, प्रयाग विश्वविद्यालय के सस्कृत

× 'दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्'। विक्रमोर्वशीय अक १।

'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कार'। विक्रमोर्वशीय अक १।

प्रोफेसर चट्टोपाध्याय आदि विद्वानों ने की है। इस मत के समर्थन में इन विद्वानों ने जो प्रमाण दिये हैं, उनमें से कुछ मुख्य प्रमाणों का विवेचन हम आगे करेंगे, परन्तु इस पूर्वोक्त मत पर हमारा पहला आक्षेप यह है कि ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में विक्रमादित्य नाम का कोई राजा हुआ, इसी का निश्चित प्रमाण अबतक नहीं मिला है। इस राजा से पूर्वकालीन अशोक आदि पूर्व राजाओं के शिला लेख मिलते हैं। लेकिन विक्रमादित्य नामधारी राजा के शिला लेख का कहीं पता नहीं लगता। सस्कृत और प्राकृत भाषा के साहित्य में कहीं कहीं विक्रमादित्य का थोड़ा बहुत उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, प्राकृतगाथा 'सतसई' में विक्रमादित्य की दानशीलता का, तथा कथासरित्सागर और बृहत्कथामञ्जरी में भूत बेतालों पर पाई हुई उस की विजय का वर्णन मिलता है। जैन कथाओं में भी विक्रम का जिस ने शकों का परास्त किया था, उल्लेख है। परन्तु ईसा की कई शताब्दी बाद इन ग्रथों का निमाण हुआ है। इस कारण इनमें लिखी बातों पर हमें कहाँ तक विश्वास करना चाहिये, यह एक जटिल समस्या है। दूसरी बात यह है कि ऐतिहासिकों ने इतिहास की जो रूपरेखा खींची है, उसमें विक्रमादित्य को कहीं पर स्थान नहीं दिया गया है। इसा से पहले, प्रथम शताब्दी में शकों ने हिन्दुस्थान पर आक्रमण किया और काठियावाड़, मालवा, महाराष्ट्र, कोंकण आदि प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया था। क्षत्रप नहपान तथा उसके जामाता ऋषभ दत्त (प्राकृत उषवदात) इन दोनों के शिलालेख नासिक, कार्ले आदि स्थानों में प्राप्त हुए हैं, जिनमें इन घटनाओं का वर्णन है। परन्तु जिस ने इस नहपान का पराभव कर शकों को इन प्रांतों से मार भगाया उस गौतमी पुत्र सातकर्णी ने 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण की थी तथा अपने नाम का एक 'सवत्' भी प्रचलित किया था, इस

बात का उन लेखों में कहीं भी ज़िक्र नहीं आया है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में यदि विक्रमादित्य नामधारी कोई व्यक्ति होता जो इस संवत् का भी प्रवर्तक होता तो उसका नाम शीघ्र ही उससे सम्बद्ध हो गया होता, पर वस्तुस्थिति कुछ और ही है। 'विक्रमकाल' इस सामासिक पद का उपयोग 'एक खास संवत्' के अर्थ में पहले पहल ईसा की नवम शताब्दी में प्रयुक्त हुआ देख पड़ता है। और इस 'विक्रम' पद से विक्रमादित्य का ही मतलब निकलता है, इसमें हमें शंका है। अमितगति के 'सुभाषित-रत्न संदोह' में, जो विक्रम संवत् १०५० में लिखा गया था, 'विक्रम' शब्द विक्रमादित्य राजा के अर्थ में पहले पहल निःसन्देह रूप से प्रयुक्त हुआ है। प्रोफेसर कीलहॉर्न ने यह अनुमान निकाला है कि इस संवत् को किसी विक्रमादित्य ने शुरू नहीं किया बल्कि उसका नाम धीरे धीरे इस संवत् से सम्बद्ध हो गया। इसका कारण यह है कि जैसे 'शालिवाहन शक' का चैत्र मास में आरम्भ होता है उसी प्रकार विक्रम संवत् का आरम्भ शरद् ऋतु अर्थात् कार्तिक मास में होता था। इस ऋतु में राजा लोग युद्ध के लिए प्रस्थान करते थे, इस कारण उस ऋतु को 'विक्रम काल' का नाम दिया गया। इस अर्थ में हर्षचरित आदि अनेक ग्रंथों में 'विक्रम' शब्द का प्रयोग किया गया है। शरद् ऋतु में आरंभ होना ही विक्रम संवत् की एक विशेषता हो गयी। उसी को लोग विक्रम-काल कहने लगे। आगे इस सामासिक शब्द का ठीक अर्थ समझ में न आने से लोग उस शब्द का 'विक्रमादित्य ने चलाया हुआ संवत्' इस अर्थ में उपयोग करने लगे। इस तरह विक्रमादित्य का नाम धीरे धीरे प्रचलित संवत्सर के साथ जुड़ गया। दूसरे विद्वानों के मत में यह संवत् मालव देश में बहुत वर्षों तक प्रचलित रहा और उस प्रान्त में (चौथी शताब्दी में) प्रसिद्ध पराक्रमी, दानशूर महाराज

द्वितीय चद्रगुप्त ने विक्रमादित्य की पदवी धारण कर राज्य किया। आगे चलकर कई शताब्दी बाद जब इस सवत् का आरभ किसने किस तरह से किया, इसका लोगों को ध्यान नहीं रहा, तब (चद्रगुप्त) विक्रमादित्य के नाम से उस का सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा। उपर्युक्त दोनों मतों में से किसी को भी स्वीकार करें तो भी विक्रमादित्य ने यह सवत् जारी किया था, ऐसी धारणा इसवी नवम शताब्दी तक नहीं थी, यह बात स्पष्ट है। सवत् ४८०, ४९३, ५२९, ५८९ के शिला लेखों में इस सवत् का सर्व प्रथम उल्लेख पाया जाता है। इनमें 'मालवानां गणस्थित्या', 'श्रीमालवगणाम्नाते', 'मालवगणस्थितिवशात्' ऐसी शब्दयोजना करके इस सवत् का उल्लेख किया है इससे इस सवत् का आरम्भ मालवगण ने किया होगा ऐसा अनुमान होता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी (अ० ५, पा० ३, सू० ११४), से पता चलता है कि प्राचीन काल में मालव लोगों का एक ऐसा सघ था जो हथियार बाँध कर युद्ध द्वारा अपनी आजीविका चलाया करता था। ये लोग वेतन लेकर किसी भी पक्ष की ओर से लड़ते थे। सिकन्दर को ये लड़ाकू योधा पजाब में मिले थे। बाद में ये पजाब छोड़ कर धीरे धीरे दक्षिण की ओर बढ़ते गये और आज के मालवा प्रान्त में उत्तर की ओर उन्होंने एक गण अर्थात् प्रजासत्तात्मक राज्य स्थापित किया और अपने नाम से सिक्का भी चलाया। ऐसे सैकड़ों सिक्के राजस्थान के 'नगर' नामक ग्राम में पाये गये हैं। उनमें से कई सिक्कों पर 'मालवाना जय' अथवा 'मालवगणस्य जय' ऐसे शब्द पाये जाते हैं। इससे सुप्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता काशीप्रसाद जायसवाल ने यह अनुमान निकाला है कि उन्होंने तत्कालीन किसी प्रबल शत्रु पर (सम्भवत शकों पर) विजय पायी होगी तथा अपने गणराज्य की स्थापना करके किसी प्रबल शत्रु पर प्राप्त विजय की यादगार में

यह सवत् चला दिया और स्वय मालवे में आकर रहने लगे। होते होते लोग इस सवत् का व्यवहार करने लगे। वस्तुत यह सवत् मालवगण का ही है यह बात जब तक लोगों के ध्यान में रही तब तक, अर्थात् ईसा की छठी शताब्दी तक मालवों का नाम इस सवत् के साथ जुड़ा रहा।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों के ध्यान में यह बात आगई होगी कि ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य नामक राजा के आधुनिक विक्रम सवत् चलाने की धारणा निराधार है। ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में विक्रम राजा का अस्तित्व ही जब सशयग्रस्त है तब कालिदास की स्थिति उस काल में सभव नहीं। कारण, उनका आश्रय दाता कोई विक्रमादित्य नामधारी राजा था, यह बात उनके ग्रन्थान्तगत उल्लेखों से विदित होती है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। अब इस मत की पुष्टि के लिये जो इतर प्रमाण दिये जाते हैं उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रमाणों की परीक्षा की जायगी —

(२) रघुवश के छठे सर्ग में इदुमती स्वयवर के वर्णन में निम्न लिखित श्लोक आये हैं —

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथ दौवारिकी देवसरूपमेत्य।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टा निजगाद भोज्याम्॥ ५९॥
पाण्ड्योऽयमसार्पितलम्बहार क्लृप्ताङ्गरागो हरिचदनेन।
आभाति बालातपरक्तसानु सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराज ॥ ६० ॥

उक्त पद्य में पाण्ड्य राजा उरगपुर में राज्य करते थे ऐसा उल्लेख है। आगे ६३ वें श्लोक में "इस पाण्ड्य राजा से तू विवाह करके दक्षिण दिशा की सपत्नी बन" यह उपदेश इन्दुमती की सखी सुनदा ने उसे दिया है। उसी तरह ४ सर्ग के ४९वें श्लोक में 'रघु ने दक्षिण दिशा

× 'रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिश सपत्नी भव दक्षिणस्या'।

में पाण्ड्यों को पराजित किया' ऐसा कवि ने उल्लेख किया है। कई बार यह देखा गया है कि असावधानी के कारण बड़े बड़े कवि भी ऐतिहासिक काल विपर्यास (Anachronism) की भूल कर डालते हैं और अज्ञानवश अपने समय की परिस्थिति का वर्णन कर बैठते हैं। काव्य शास्त्र की दृष्टि से तो यह दोष समझा जाता है परन्तु इसके लिये इतिहासज्ञ प्राचीन संस्कृत कवियों को धन्यवाद देते हैं। कारण यह है कि कई बार ऐसे ही स्थलों पर कवि के काल निर्णय की अचूक कुंजी हाथ लग जाती है। इस दृष्टि से उपर्युक्त श्लोक का विचार करके श्रीयुत चिंतामणि वैद्य ने कालिदास का अस्तित्व ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वह इस प्रकार है —*

'उक्त श्लोक में पाण्ड्य राजा दक्षिण में प्रबल हो गये थे और वे उरगपुर में राज्य करते थे, ऐसा वर्णन है। मल्लिनाथ और हेमाद्रि इन दो टीकाकारों ने उरगपुर का अर्थ नागपुर निकाला है। पर कौन नागपुर, मध्यप्रांत का? यह संभव नहीं। कारण, यह नागपुर न तो दक्षिण में है और न कभी इस पर पाण्ड्य राजाओं का शासन था। इससे उरगपुर आजकल का 'उरय्यूर' होगा। प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार उरगपुर में 'ग' और 'प' इन दो व्यजनों का लोप होकर मध्य में एक 'य' घुस पड़ा और 'उरय्यूर' बन गया। ईसवी प्रथम शताब्दी में करिकाल नामक प्रसिद्ध चोल राजा से पराजित होने तक पाण्ड्य राजा दक्षिण में प्रबल थे। करिकाल ने पराजित करके उन्हें उरय्यूर से हटा दिया और कावेरीपत्तन को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। इसके पहले उरय्यूर ही पाण्ड्य राजाओं की राजधानी रही होगी। ई० स० के तीसरे शतक में पाण्ड्य राजा फिर प्रबल हुए सही, किन्तु तब उनकी राजधानी उरय्यूर न होकर मदुरा हुई। उप

* Annals of the Bhandarkar Institute Vol II p 63.

र्युक्त श्लोक में कालिदास ने अपने समय की परिस्थिति का वर्णन किया है, ऐसा माने तो उनका काल इसवी पहली शताब्दी के पूर्व होना चाहिये। कारण, इस शताब्दी के अनन्तर उरय्यूर कभी पाण्ड्य राजाओं की राजधानी न था।'

उपर्युक्त प्रमाण परीक्षा की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। उरगपुर का 'उरय्यूर' बन जाना असम्भव नहीं है। पर उरय्यूर किसी समय पाण्ड्यों की राजधानी थी, इसका न तो किसी इतिहास में और न किसी दन्तकथा में उल्लेख मिला है। अपितु मदुरा नगरी प्राचीन काल में पाण्ड्यों की राजधानी थी। विन्सेंटस्मिथ आदि इतिहासकारों का यही मत है। तामिल भाषा में मदुरा का नाम 'अलवाय' है। और इसका 'नाग' अर्थ होता है। यदि कवि का तात्पर्य उरगपुर से मदुरा का है तो यह प्रमाण जैसे इसा से पूर्व प्रथम शताब्दी के पक्ष का समथक है वैसे ही ईसा के बाद चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी के पक्ष का भी समर्थक है। कारण, ईसा की तीसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी में पल्लवराज सिंहविष्णु द्वारा पराभव होने तक पाण्ड्य राजा दक्षिण में प्रबल थे और मदुरा उनकी राजधानीं थी, यह बात प्रसिद्ध है। अत उक्त प्रमाण ठीक सिद्ध नहीं होता है।

(३) मालविकाग्निमित्र में अनावश्यक उल्लेख

स्वर्गीय प्रोफेसर शिवराम पंत पराजपे ने अपने 'साहित्य सग्रह' के एक सरस निबध "मेघदूत और कालिदास" (भाग १ पृ० ८८) में कहा है कि मालविकाग्निमित्र नाटक में इरावती और धारिणी नामक दो उपनायिकाओं को रखना और धारणी के भाई को हीनवशीय बतलाना आवश्यक न था। पाचवें अक में, अपने पत्र म पुष्यमित्र ने 'विगतरोषचेतसा' अर्थात् 'प्रसन्नचित्त हो कर' यज्ञ में सम्मिलित हो, इस प्रकार अग्निमित्र को जो लिखा, उस में रोष का कारण

न बतलाना इत्यादि अनावश्यक प्रसग से यह सिद्ध होता है कि कालिदास को शुगकालीन परिस्थिति की सूक्ष्म बातों का अच्छा ज्ञान था। इस से यह अनुमान निकलता है कि कालिदास अग्निमित्र के या उसके आसपास के समय में हुए होंगे। इसी तरह का मत प्रोफेसर चट्टोपाध्याय ने भी व्यक्त किया है। इस से यह अनुमान लगाया गया कि शुगों की कथा लोगों के स्मृति पटल से लुप्त होने के पहले, अर्थात् अग्निमित्र के काल से एक शताब्दी के अन्दर अथवा ईसा से पूर्व ५७ वर्ष के लगभग कालिदास का स्थिति-काल होगा।

एक ही उल्लेख के आधार पर ऐतिहासिक विद्वान् भिन्न भिन्न अनुमान किस प्रकार निकाल सकते हैं यह इस का अच्छा निदर्शन है। एक महाराष्ट्रीय इतिहासज्ञ कालिदास को गुप्तकालीन (ई० स० की पाचवीं शताब्दी) मानते हैं। वे कहते हैं कि साढ़े पाचसौ वर्ष के अनन्तर कवि को ऐसी प्राचीन और बहुत ही सूक्ष्म कथा का ज्ञान बना रहना सम्भव नहीं है। उपरिलिखित पात्रों और घटनाओं का इस नाटक में समावेश करन और इस तरह के सविधानक रचने में कालिदास का उद्देश्य कुछ दूसरा ही था, यह सिद्ध करने का प्रयत्न उक्त विद्वान् ने किया है। उन की कारण मीमासा इस प्रकार है — "मालविकाग्निमित्र में तत्कालीन समाज पर टीका टिप्पणी करके तालियाँ पिटवाने का कालिदास का उद्देश्य छिपा नहीं रहता। किसी रानी को मदिरा पिलाकर खुल्लम खुल्ला रगमच पर लाना और उस के भाई को हीनजातीय दिखाना इत्यादि घटनाओं को नाटक में प्रदर्शित करने के लिये कवि में बहुत बड़ा साहस होना चाहिये। कवि का अपने नाटक में प्राचीन काल का दृश्य दिखलाने का ढोंग रचना—बड़े मार्के की बात है। ग्रामीण लोगों के बीच में रानी की हँसी उड़वाने और मदिरा पिलाने का ऐतिहासिक आधार मौजूद है,

ऐसी धारणा उत्पन्न करके वाहवाही लूटना कवि के लिये कठिन नहीं"।

'मालविकाग्निमित्र' में उपर्युक्त प्रसगों के आधार पर निकाले गये दोनों अनुमान युक्तिसगत नहीं मालूम होते। शुगों के बाद ५००, ५५० वर्ष पीछे उत्पन्न हुये कालिदास के लिये उस काल की सूक्ष्म जानकारी रखना असम्भव है, ऐसा कहना युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि उन के २००,२५० वर्ष पीछे बाण हुये, जिन्होंने अपने 'हर्षचरित' में शुगकाल का जो वर्णन किया है, वह उपलब्ध पुराणों में कहीं नहीं मिलता। उदाहरणार्थ, पुराणों में सेनापति पुष्यमित्र ने बृहद्रथ मौर्य की हत्या करके मगध की राजगद्दी को अपने अधिकार में कर लिया, इस प्रकार का उल्लेख है। परन्तु उस को कब, कैसे मारा, यह वर्णन बिलकुल नहीं है। पर यही बात, बाण के 'हर्षचरित' में दिग्विजय के लिये रवाना होते समय हर्ष को गजसैन्याधिपति स्कद गुप्त के द्वारा दिये हुए उपदेश में इस प्रकार पाई जाती है—'सेना का निरीक्षण करने के बहाने मूर्ख बृहद्रथ राजा को बुलाकर सेनापति पुष्यमित्र ने उसे मार डाला।' कालिदास के बहुत पीछे उत्पन्न विशाखदत्त ने शुगकाल से भी १५० वर्ष पहले, मगध राज्य में जो क्रान्ति हुई थी उसका सविस्तर ऐतिहासिक वर्णन अपने नाटक में किया है। तब कालिदास उससे कहीं कम काल के व्यवधान पर पिछले समय का वर्णन क्यों न कर सकते? आजकल की अपेक्षा कालिदास के समय में ऐतिहासिक साधन प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। पूर्वकाल में राजा की वशावली ही नहीं, उनके शासनकाल में घटी हुई घटनाओं को लिखकर रखने की प्रथा भी अवश्य प्रचलित थी। इस प्रकार के वर्णनों में कालिंग देश के खारवेल नामक राजा के शासन-काल का सविस्तर वर्णन हाथीगुम्फा की गुफाओं में खुदा हुआ मिला है। यह प्राचीन इतिहासज्ञों को भली भाँति विदित है। इसी

प्रकार शुंग राजा के शासनकाल के वृत्तान्त की सामग्री का कालिदास के समय में मिल जाना तथा शुंग और गुप्त राजाओं की राजधानी पाटलीपुत्र में अवशिष्ट रहना और गुप्तकालीन कालिदास द्वारा उसका उपयोग किया जाना असम्भव नहीं है।

*(४) अश्वघोष के ग्रन्थों से समता

ई० स० १८९३ में अश्वघोष के 'बुद्धचरित' और १९१० में 'सौन्दरनन्द' काव्य के प्रसिद्ध होने पर विद्वानों का ध्यान इन काव्यों में और कालिदास के ग्रन्थों में दिखलाई पड़नेवाली समानता की ओर गया और दो पक्ष बने। प्रोफेसर कॉवेल सरीखे यूरोपियन और कुछ भारतीय पुरातत्त्वज्ञों ने इस साम्य से यह निष्कर्ष निकाला कि कालिदास ने अपने काव्य की कल्पना अश्वघोष से ली है। अत अश्वघोष के बाद अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद कालिदास हुए। ठीक इस के विपरीत प्रोफ़ेसर शारदारजनराय, प्रोफेसर चट्टोपाध्याय आदि ने सिद्ध किया कि अश्वघोष ने ही कालिदास की कल्पनाओं को चुराया है। और उन के मतानुसार कालिदास ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में हुए। इस विषय पर विचार करने के पहले एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। वह यह है कि कालिदास ने अश्वघोष की चोरी की हो या अश्वघोष ने कालिदास की—इस से किसी भी कवि के पक्षपाती को बुरा नहीं लगना चाहिये। राजशेखर

* अश्वघोष कवि, सुप्रसिद्ध कुशान वशीय सम्राट् कनिष्क का समकालीन था। कई भारतीय और यूरोपीय विद्वानों के मतानुसार वर्तमान काल में प्रचलित शालिवाहन शक सवत् का प्रारम्भ महाराज कनिष्क ने किया था। यह सवत् ई० स० ७८ में शुरू हुआ था। अतः हम ने अश्वघोष का समय ईसवी प्रथम शताब्दी माना है।

के कथनानुसार 'सर्वोऽपि परेभ्य एव व्युत्पद्यते' अर्थात् हर एक ग्रन्थकार अपने पूर्वकालीन ग्रन्थकार से आधार लेकर चलता है। तब निष्पक्ष मन से इन दोनों कवियों की स्थिति-काल के सम्बन्ध में कौन पहले हुआ, तथा दोनों के ग्रन्थों में जो समानता पाई जाती है उस का कारण क्या है, यह विचार करने में रुकावट नहीं होनी चाहिये। यह समानता दो प्रकार की है। प्रसग समता और दूसरी शब्दार्थोक्ति समता। इस तरह की कुछ समानता अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' तथा कालिदास के 'कुमारसम्भव' में पाई जाती है। अश्वघोष के काव्य में शाक्य कुल में उत्पन्न नन्द ने बौद्ध धर्म किस प्रकार स्वीकार किया, इस का उल्लेख है। बुद्ध ने अनेक प्रकार से नन्द को ससार त्याग करने का उपदेश दिया, तो भी उस के मन में वैराग्य उत्पन्न न हुआ। फिर बहुत आग्रह करने पर उस ने बड़ी अप्रसन्नता से सम्मति दी और अपना सिर मुँडवाया। जब यह समाचार उस की पत्नी सुन्दरी को मिला, तब वह बहुत दुखी हुई। उस के शोक का वर्णन काव्य के छठे सर्ग में आया है। उस में और 'कुमारसभव' में शिवद्वारा भस्मीकृत मदन के निधनानन्तर रति के विलाप में कहीं कहीं बहुत अधिक समता पाई गई है। उसी तरह नन्द के सर्ग का नन्द-विलाप और 'रघुवश' का 'अजविलाप' बहुत कुछ मिलता है। तथापि उस से यह निर्णय करना कि एक ने दूसरे की नक़ल की है, ठीक नहीं मालूम होता। इस तरह तो और भी कई समान प्रसग दिखाये जा सकते हैं। 'बुद्धचरित' के तीसरे सर्ग में शीत ऋतु में तरुण राजकुमार गौतम पिता की आज्ञा से जब नगर से बाहर विहार के लिये गये तो उन को देखने के लिये नगर की स्त्रियों की जो भीड़ जमा हुई। इसी तरह 'कुमारसभव' के सप्तम सर्ग में विवाहार्थ हिमालय के ओषधिप्रस्थ नामक नगर में शिव ने और

'रघुवश' के सप्तम सग में इन्दुमती के स्वयवर के बाद कुण्डिनपुर में अज ने जब प्रवेश किया उस समय उन के अवलोकनार्थ नगर की स्त्रियों की भीड़ जमा हुई। दोनों कवियों के प्रसग की समानता की ओर विद्वानों का ध्यान गया और दोनों पक्षों ने अपने अपने अनुमान निकाले। परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ऐसे प्रसग रोज ही उपस्थित होते हैं। इस कारण प्रतिभा-सम्पन्न कवि का लक्ष्य इस ओर अनायास ही चला जाता है। ईसा की १०वीं शताब्दी में उत्पन्न पद्मगुप्त कवि ने अपने 'नवसाहसाङ्क चरित' काव्य में इसी प्रकार का वर्णन किया है। इस से भी यह बात स्पष्ट हो जायगी। दूसरी बात यह है कि दोनों कवियों के वर्णन में बहुत थोड़ा कल्पना-साम्य है। दोनों वर्णनों को ज़रा ग़ौर से पढ़ने पर निम्नलिखित स्थलों पर ही हमें उन की कल्पना समता दिखाई पड़ती है —

अश्वघोष—वातायनेभ्यस्तु विनि सृतानि परस्परोपासितकुण्डलानि ।
स्त्रीणा विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥
बुद्ध० ३, १६।

अर्थ—खिड़कियों के बाहर झाँकनेवाली कामिनियों के मुख कमल—जिन के कर्णभूषण एक दूसरे से रगड़ खा रहे थे—महलों के परस्पर लग्न कमल की तरह शोभित होते थे।

कालिदास—तासा मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तरा सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षा सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥
कुमार० ७, ६२, रघु० ७, ११

अथ—अति कुतूहलपूर्ण कामिनियों के मद्यपानसुगन्धित और भ्रमरसदृश चञ्चलनेत्रयुक्त मुखों के कारण महल की खिड़कियाँ कमलपत्रभूषित सी प्रतीत होती थीं।

इन दोना वर्णनो म खिड़कियो मे झाँकनेवाली स्त्रियों के मुख को कमल की उपमा दी गई है। अश्वघोष यह उपमा देकर चुप रह गये। पर कालिदास के पद्या में उसी उपमा की कल्पना का पूर्ण विकास हुआ है। अगर इस से ही अनुमान निकालना हो तो कालिदास की कल्पना ही बाद की ठहरेगी।

अब शब्दार्थ की समानता का विचार करें। प्राफेसर चट्टोपाध्याय ने 'कालिदास का स्थितिकाल' (The date of Kalidasa) नामक निबंध में कालिदास और अश्वघोष इन दोनों के कार्यों की परीक्षा करके समानता के कई उदाहरण दिये हैं। परन्तु उनमें से चार पाच में ही विशेष साम्य है। कुछ समानता ऐसी है, जो दूसरी जगह—वाल्मीकि रामायण में भी मिलती है। उस से कोई अनुमान निकालना उचित नहीं। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित पद्यों में समानता देखिये —

अश्वघोष—वाता वबु स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्त।
सूर्य स एवाभ्यधिक चकाशे जज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्नि॥
बुद्ध० १ ४१

कालिदास—दिश प्रसेदुर्मरुतो वबु सुखा प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्व शुभशंसि तत्क्षण भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥
रघु० ३, १४

इस में शक नहीं कि उक्त दोनों अवतरणों में कल्पना-साम्य अधिक है। तथापि इनमें से एक वर्णन पढ़े बिना दूसरा सूझ ही नहीं सकता, ऐसा नहीं कह सकते, क्यों कि ऐसे वर्णन करने का सम्प्रदाय कवियों में प्रचलित था। दोनों ही कवियों ने अपनी कल्पना वाल्मीकि रामायण से ली है। विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण यज्ञ की रक्षा के लिये अयोध्या से निकले उस समय का वाल्मीकिकृत वर्णन पढ़िये —

ततो वायु सुखस्पर्शो नीरजस्को ववौ तदा ।
विश्वामित्रगत राम दृष्ट्वा राजीवलोचनम् ॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुदुभिनि स्वनै ।
शखदुदुभिनिर्घोष प्रयाते तु महात्मनि ॥

बालकाण्ड २२, ४–५

सरस्वती के साम्राज्य में किसी कवि को किसी विशेष कल्पना की ठेकेदारी नहीं मिलती । कल्पनासाम्य के साथ ही साथ अगर उक्ति साम्य हुआ तो उधार लेने का दोषारोपण किया जा सकता है । इस प्रकार के बहुत ही थोड़े स्थल हैं जहाँ कवि की कल्पना इतनी मिलती जुलती है । जैसे—

१ अश्वघोष—त गौरव बुद्धगत चकर्ष भार्यानुराग पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरस्तरङ्गेष्विव राजहस ।

सौन्दर० ४, ४२

कालिदास—त वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि—
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धु
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

कुमार० ५, ८५

२ अश्वघोष—आदित्यपूर्व विपुल कुल ते नव वयो दीप्तमिद वपुश्च ।
कस्मादिय ते मतिरक्रमेण भैक्षाक एवाभिरता न राज्ये ॥

बुद्ध० १०, ४

कालिदास—एकातपत्र जगत प्रभुत्व नव वय कान्तमिद वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढ प्रतिभासि मे त्वम् ॥

रघु० २, ४७

३ अश्वघोष—द्वन्द्वानि सर्वस्य यत प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।

अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःख पुरुषः पृथिव्याम्॥
बुद्ध० ११, ४३

कालिदास—कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ मेघ० ११८

इन अवतरणों की समानता आश्चर्यजनक है। ऐसा मालूम होता है मानो एक कवि के काव्यों को दूसरे कवि ने अवश्य देखा है। परन्तु इन अवतरणों में किसने किस की नक़ल की, यह कहना ज़रा टेढ़ी खीर है। अश्वघोष की अपेक्षा कालिदास के उक्त पद्यों में अधिक लालित्य है, यह समझदार पाठक जान सकते हैं। अश्वघोष महान् दार्शनिक था। उसने यह बात स्वयं कही है कि 'सर्वसाधारण के मन का आकर्षण करने के लिये ही इन काव्यों के लेखन में प्रवृत्त हुआ हूँ।' इस में सन्देह नहीं कि वह असाधारण प्रतिभाशाली था, तथापि काव्य निर्माण करना उसका उद्देश्य न होने से उसका ध्यान अपने काव्यों के परिमार्जन की तरफ़ नहीं गया। इस से उलटी बात कालिदास के सम्बन्ध में है। "कालिदास ने अश्वघोष की कल्पना और उनकी शब्द-योजना को उड़ाकर और उस पर पॉलिश चढ़ाकर उसे अपने काव्य में मिला लिया है" ऐसा कुछ विद्वान कहें तो अन्य पक्षीय यह कह सकते हैं कि "कालिदास की अपेक्षा अश्वघोष के काव्यों में कृत्रिमता अधिक है और जिस संस्कृत काव्येतिहास में जितनी कृत्रिमता की मात्रा रहती है कवि भी उतना ही अर्वाचीन माना जाता है" ऐसा सामान्य नियम होने से अश्वघोष कालिदास के पश्चात् हुए। अतः इस विवाद का निर्णय करने के लिये कोई अन्य प्रमाण खोजना चाहिये। उदाहरणार्थ, एक कवि के कुछ खास शब्दों के प्रयोग को दूसरे कवि ने अपहरण किया है ऐसा हम दिखा सकें तो इस समस्या को हल करने में सहायता मिलेगी। इस दृष्टि से अश्वघोष के काव्यों

का अध्ययन करते हुये जो उदाहरण मिले हैं उन्हें हम पाठकों के आगे प्रस्तुत करते हैं।

अश्वघोष ने 'प्रागेव' शब्द का उपयोग संस्कृत के 'किमुत' (अब और क्या कहना!) इस अर्थ में बहुत बार किया है। निम्न-लिखित श्लोक देखिये—

एवमाद्या महात्मानो विषयान् गर्हितानपि।
रतिहेतोर्बुभुजिरे प्रागेव गुणसंहितान्॥ बुद्ध० ४, ८१

नीतिशास्त्रज्ञ उदायी नामक गौतम का मित्र उनके विरक्त मन को विषयों में पुनः अनुरक्त करने के लिये प्राचीन कथाओं से अनेक उदाहरण देकर कहता है, "जब इस प्रकार के निंदनीय विषयभोगों को बड़े बड़े लोगों ने भोगलालसा से प्रेरित होकर भोगा है, तब अच्छे विषयों के उपभोग के बारे में कहना ही क्या है।" 'प्रागेव' शब्द का इस अर्थ में उपयोग संस्कृत बौद्ध साहित्य में अनेक[1] स्थलों पर हुआ है। परन्तु आर्य साहित्य में इस प्रयोग का कहीं पता नहीं चलता। प्रोफेसर आप्टे के संस्कृत कोश में और अमरकोश आदि अन्य प्राचीन संस्कृत कोशों में भी 'प्रागेव' का यह अर्थ नहीं दिया गया है। यह आश्चर्य की बात है कि कालिदास ने 'ऋतुसंहार' में एक श्लोक में 'प्रागेव' का इसी अर्थ में प्रयोग किया है—

कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातै—
उद्योतितान्युपवनानि मनोहराणि।
चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं
प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम्॥

"जब विलासिनी युवतियों के हास्य के समान शुभ्र कुंदपुष्पों से उज्ज्वल उपवन, मुनियों के विरक्त मन को अपनी ओर खींचते हैं

१—बुद्धचरित ४ २६ आर्यशूरकृत जातकमाला पृ० ९१ इत्यादि देखिये।

तब अनुरागी तरुणों के मन को अपनी ओर खींच लें तो इस में आश्चर्य क्या ?"

', इस में 'प्रागेव' का प्रयोग संस्कृत टीकाकारों को इतना अपरिचित था कि, एक टीकाकार ने 'मुनिचित्तापहरणात्प्रागेव' ऐसा उस शब्द का अर्थ कर डाला। उस से इसका मतलब ठीक नहीं निकलता क्या इस से यह सिद्ध नहीं होता कि कालिदास ने संस्कृत बौद्ध ग्रंथ विशेषकर अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य पढ़े थे ? अगर हम कालिदास को ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में उत्पन्न हुआ मानें तो कालिदास से पूर्व संस्कृत भाषा में बौद्ध साहित्य का निर्माण हुआ होगा, ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु ईसा के बाद पहली शताब्दी में महायान पंथ के उत्कर्ष को प्राप्त होने पर बौद्ध लोग संस्कृत में ग्रंथ रचना करने लगे। उस के पहले उनके ग्रन्थ पाली भाषा में पाये जाते थे। तब कालिदास को अश्वघोष से पहले का अर्थात् ईसा के पूर्व पहली शताब्दी को हम नहीं मान सकते। इसके विपरीत, यदि वे गुप्तकाल में या उसके बाद हुए तो पहले उन्होंने अपने पूर्ववर्ती बौद्ध कवियों के काव्य अवश्य पढ़े होंगे और उनमें से कुछ ख़ास ख़ास शब्दों के प्रयोग अनजान में पहले पहल उन के काव्यों म आगये होंगे। बाद में ये प्रयोग हिन्दू-ग्रंथों में नहीं आते ऐसा ध्यान आने पर उन्होंने उनका प्रयोग छोड़ दिया होगा ऐसा अनुमान कर सकते हैं।

(५) भीटा का पदक—

१९०९–१० ई०स० में प्रयाग के पास भीटा नामक गांव में खुदाई का काम शुरू हुआ। वहां खोदते हुए एक बड़े आकार का मृण्मय पदक मिला। उस पदक के बीच में चार घोड़े वाला रथ है और उस रथ पर दो व्यक्ति बैठे हुए दिखाई पड़ते हैं। आगे जरत्कारु के समान एक

अस्थिपंजर मात्र मनुष्य, पीछे की तरफ एक झोपड़ी, उसके पास ही एक वृक्ष के पास एक स्त्री की आकृति, ये वस्तुयें दिखाई देती हैं । नीचे की तरफ मत्स्य कमल आदि से युक्त तालाब और बीच में एक व्यक्ति और उसके बगल में दो हिरन, पंख फैलाकर नाचता हुआ मोर देख पड़ते हैं* । प्रो० शारदारंजन राय ने यह अनुमान निकाला है कि इस पदक पर शाकुंतल नाटक के प्रथमांक का दृश्य दिखलाया गया है । रथ पर के दो व्यक्ति राजा दुष्यन्त और उनका सारथी, उस के बाद अस्थिपंजर अवशिष्ट व्यक्ति कण्वाश्रमवासी तापस और वृक्ष के पास की स्त्री शकुंतला है, यह प्रोफेसर साहब का कथन है । कुछ विद्वानों का मत है कि यह शुंगकालीन पदक है । अतः कालिदास ईसवी सन् से पहली शताब्दी में हुए थे यह प्रोफेसर राय महाशय का अनुमान है† ।

पर इस अनुमान में कोई तथ्य नहीं । प्रथम तो यह पदक शुंग कालीन है, इसके लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता । दूसरी बात यह कि पदक पर जो दृश्य दिखाया गया है वह शाकुंतल का ही है यह मानने में कुछ अड़चनें हैं । रथ के आगे हिरण को भागता हुआ नहीं दिखलाया गया है । उस में पर्याप्त जगह न होने से हिरन को नीचे दिखलाया गया है, ऐसा कहें तो वहां पर एक नहीं बल्कि दो हिरन दीखते हैं और वे भयभीत होकर दौड़ते हुए नहीं बल्कि स्वच्छन्द होकर विहार करते हुए दिखलाये गये हैं । कारण यह है कि पास ही में मोर पंख फैलाकर नृत्य करता हुआ दिखाई पड़ता है । तरुण सिद्धार्थ कुमार रथ पर सवार होकर विहार करने के लिए जब

---

* Cambridge History of India Vol, 1 (Ancient India) में इस पदक का फोटो दिया गया है ।

† Ray Kalidasa's Shakuntala (1920), Introduction P 9

निकले तो उनको मार्ग में एक वृद्ध मनुष्य मिला। उससे उन्हें प्रथम वृद्धावस्था की कल्पना उत्पन्न हुई। अनेक प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार का जो वर्णन आया है, शिल्पकारों ने वही इस में दिखलाया है। यह कल्पना पूर्वोक्त कल्पना की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त देख पड़ती है। बुद्ध चरित के ऐसे अनेक प्रसंग प्रस्तर स्तूप आदि पर चित्रित करने की पहले प्रथा थी, यह साँची स्तूपों से सिद्ध हो चुका है। शाकुन्तल आदि नाटकों के दृश्य इस प्रकार पदकों पर उल्लिखित करने की प्रथा प्राचीनकाल में प्रचलित न थी और न हमें उसका कुछ उद्देश्य ही मालूम होता है*।

कालिदास ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में हुए थे इस मत का अनेक भारतीय विद्वानों ने समर्थन किया है और प्रचलित दंतकथा का आधार मिलने से सर्वसाधारण पाठकों को वही मत ठीक सा जँचता है। इसी लिए इस मत का हमने सविस्तर विवेचन किया। इस मत के समर्थन के लिये कालिदास-कालीन रीति और उन के काव्यों में उपलब्ध अकृत्रिम रमणीयता इत्यादि कुछ प्रमाण कई संशोधक विद्वानों ने उपस्थित किये हैं किन्तु वे सर्वमान्य नहीं है और उन सब का विस्तारभय से यहाँ परीक्षण नहीं किया जा सकता है। अत अब हम अन्य मतों का परीक्षण करेंगे।—

ईसा की पांचवी शताब्दी

'रघुवंश' के चौथे सर्ग में रघु के दिग्विजय का वर्णन करते हुए कालिदास ने निम्नोद्धृत श्लोक दिये हैं।—

तत प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव॥
विनीताध्वश्रमास्तस्य वङ्क्षुतीरविचेष्टनै।

* K Chattopadhyaya The Date of Kalidasa' pp 57 8

दुधुवुवाजिन स्कधाक्षॅग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥
तत्र हूणावरोधाना भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥

रघुवश, ४, ६६–६८

इन श्लोकों में रघु ने उत्तर दिशा में 'वक्षुनदी' के किनारे हूणों को पराजित किया, ऐसा वर्णन है । 'अमरकोश' के टीकाकार क्षीर स्वामी ने केसर को 'वाल्हीक' क्यों कहते हैं इसका स्पष्टीकरण करते समय उक्त श्लोकों को उद्धृत किया है । इससे यह 'वक्षुनदी' वाल्हीक (पहले के बॅक्ट्रिया, आधुनिक बलख) देश में बहने वाली आक्सस् नदी पर ४५० ई० स० के लगभग अपना राज्य स्थापित किया और भारतवर्ष पर चढ़ाई की । यह आक्रमण कुमार गुप्त के अंतिम समय में हुआ था और उसके युवराज स्कन्दगुप्त ने बड़ी वीरता स हूणों का मुकाबिला किया । यह बात जूनागढ़ के समीप गिरनार के ई० स० के ४५५–४५६ शिलालेख से सिद्ध हो चुकी है । 'रघुवश' में हूण लोग आक्सस् नदी पर थे ऐसा कालिदास ने वर्णन किया है । यह परिस्थिति कालिदास के समय की होगी । इससे यह ग्रथ ई० स० ४५० (ऑक्सस् नदी के किनारे हूणराज्य की स्थापना का काल) तथा ४५५–४५६ (गिरनार शिलालेख का काल) इसके मध्य में लिखा गया होगा । अर्थात् कालिदास पाचवीं शताब्दी के मध्य के लगभग हुए इस तरह से प्रो० पाठक ने अपने पक्ष का समर्थन किया है ।*

ये ऊपर के अनुमान प्रबल निर्णायक हैं ऐसा हम नहीं मानते। इसा की पाचवीं शताब्दी तक भारतीयों को हूण लोगों का परिचय नहीं था, ऐसा प्रोफेसर पाठक ने कहा है यह सगत नहीं है । पार्सियों

* K B Pathak: Meghaduta (96) Introduction, X

के 'अवेस्ता' ग्रन्थ में और 'महाभारत' में हूणों का उल्लेख है। ईसा की तीसरी शताब्दी में लिखित 'ललितविस्तर' ग्रन्थ में बुद्ध ने अपने बाल्य-काल में जिन लिपियों को सीखा था उनकी नामावली में हूणों का भी उल्लेख है। ईसा से पूर्व ६४० वर्ष के लगभग हूणों ने 'यूएची' (जिनका आगे चलकर कुशान नाम पड़ा) लोगों को ऑक्सस् नदी के दक्षिण किनारे पर मारकर भगा दिया। तब से ऑक्सस् के उत्तरी किनारे पर उन लोगों का अधिकार होता गया अथवा उस तरफ उनके दल के दल आते गये। ईसा से पाँचवीं शताब्दी में उन लोगों ने ऑक्सस् नदी के किनारे राज्य स्थापित किया। ऑक्सस् के उत्तर की तरफ हूण लोगों की स्थिति का पता इसके पहले कालिदास जैसे जानकार व्यक्ति को न हो यह सम्भव नहीं है। फलत उनका स्थिति-काल ईसवी सन् के पाँचवीं शताब्दी के मध्य तक खाचने की जरूरत नहीं है।

ईसवी छठी शताब्दी।

इसवी सन् की छठी शताब्दी में भारतवर्ष में संस्कृत विद्या का पुनरुज्जीवन हुआ और उस समय कालिदास उत्पन्न हुए, यह मत अध्यापक मेक्समूलर ने प्रगट किया था। अनेक कारणों से यह मत आज कल किसी को मान्य नहीं है। परन्तु अभी हाल में कुछ विद्वानों ने दूसरे ही प्रमाणों के आधार पर उक्त मत को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। स्वर्गवासी महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'बिहार ऐंड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल' के पहले और दूसरे खण्ड में तथा धार के रा०का०कृ० लेले,और शि० का० ओक इन दोनों महाशयों ने मराठी के 'विविधज्ञानविस्तार' के ५३ वें खड में इस मत की पुष्टि के लिये अनेक प्रमाण पेश किये हैं। विस्तार भय से इन

सब प्रमाणों की चर्चा करना सम्भव नहीं। फिर भी कुछ मुख्य मुख्य प्रमाणों का यहाँ परीक्षण किया जाता है—

(१) यशोधर्मन्-विक्रमादित्य और मातृगुप्त-कालिदास।

प्रसिद्ध यात्री हुएनसाग ने ई० स० ६१६ से ६४५ तक भारत वर्ष में प्रवास किया था। इस यात्री ने एक जगह लिखा है कि 'मालव देश में (Molapo) शिलादित्य नामक राजा ने ५३० से ५८० तक लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया था।' कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' से यह विदित है कि उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने काश्मीर के सिंहासन पर अपने विद्वान् मित्र, कवि मातृगुप्त को बिठाया था। विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद मातृगुप्त ने राज गद्दी छोड़ दी और उनके बाद राज्य का वास्तविक हकदार प्रवरसेन राजा हुआ। इस राजा का बसाया हुआ प्रवरपुर हुएनसांग के वर्णन से छठी शताब्दी का ठहरता है। तब विक्रमादित्य का समय भी छठी शताब्दी में मानना पड़ेगा। इस लिए हुएनसाग ने जिस मालवराज शिलादित्य का वर्णन किया है वह और विक्रमादित्य दोनों एक ही होंगे। 'राजतरंगिणी' में विक्रमादित्य के द्वारा शकों के पराभव का वर्णन है। इसी शताब्दी में मालव देश में यशोधर्म देव नाम का एक प्रबल पराक्रमी राजा हुआ था। उसके दो खुदे हुए लेख* मंदसोर में मिले हैं। उनसे यह स्पष्ट होता है कि इस राजा ने मिहिरकुल नामक महाबली हूण राजा को परास्त कर दिया था और अपने साम्राज्य का विस्तार गुप्त और हूण राजाओं के साम्राज्य की अपेक्षा बहुत अधिक किया तथा 'राजाधिराज' और 'परमेश्वर' की पदवियाँ उसने अपने नाम के साथ जोड़ ली थीं। यशोधर्मन् ही हुएनसाग का शिलादित्य तथा कल्हण का विक्रमादित्य है। पराजित

* इन में से एक लेख ई० स० ५३२ का है।

हुए हूणों को ही कल्हण ने और अल्बेरूनी ने 'शक' यह नाम दिया होगा। विक्रमादित्य ने जिसको काश्मीर के सिंहासन पर बिठाया वह मातृगुप्त ही कालिदास रहा होगा। मातृगुप्त के काश्मीर की राजगद्दी छोड़ने पर प्रवरसेन बैठा। प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध हुए 'सेतुबन्ध' प्राकृत काव्य को विक्रमादित्य की आज्ञा से कालिदास ने लिखा—यह आख्यायिका विद्वानों में प्रचलित थी, ऐसा उस काव्य के एक अकबरकालीन टीकाकार के किये हुए उल्लेख से मालूम होता है। इस से विक्रमादित्य, प्रवरसेन और कालिदास समकालीन सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों में कई जगह आक्षेप हो सकता है। हुएनसांग जिस को मोलापो (Molapo) कहता है वह प्रदेश है कौन सा ? इस सम्बध में विद्वानों में काफ़ी चर्चा हो चुकी है। इतिहास के धुरंधर लेखक विन्सेंट स्मिथ† साहब ने लिखा है कि मही नदी के किनारे साबरमती के पूर्व का थोड़ा सा भाग तथा दक्षिण राजपूताना का पर्वतीय प्रदेश हुएनसांग का 'मोलापो' है। उस की राजधानी उज्जयिनी नहीं थी। कारण यह है कि हुएनसांग ने आगे चलकर उज्जयिनी राज्य का अलग ही वर्णन किया है। हुएनसांग ने जिस की अत्यंत स्तुति की है वह यशोधर्मन् न हो कर वलभी का पहला शिलादित्य होगा, ऐसा प्रो० सिल्वन् लेवी का मत है। 'राजतरंगिणी' ग्रंथ की रचना ईसा की १२ वीं शताब्दी में हुई। वह अपने काल के इतिहास की विश्वसनीय सामग्री प्रस्तुत करती है किन्तु उस में प्राचीन काल का इतिहास उतना विश्वसनीय नहीं है। उस में तो बहुत सी असंभव और अतिशयोक्ति की बातें भरी हैं, यह सिद्ध हो चुका है। यदि यशोधर्मन् ही विक्रमादित्य होता तो उसने

† Early History of India (3rd Ed) P 323

जैसे 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधियाँ अपने नाम के साथ जोड़ ली थीं उसी तरह अत्यन्त माननीय 'विक्रमादित्य' पदवी भी उस के नाम के साथ अवश्य उस लेख में उल्लिखित होती। उस को 'शकारि' तो बिलकुल नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि ईसा के बाद छठी शताब्दी में शकों का कहीं नाम तक नहीं मिलता। यदि मातृगुप्त ही कालिदास होता तो कल्हण ने मातृगुप्त के वर्णन में जो दो सौ श्लोक लिखे हैं उन में किसी एक श्लोक में तो उस के कालिदास होने की बात का उल्लेख होता। मातृगुप्त ने प्रवरसेन के लिये 'सेतुबन्ध' काव्य की रचना की यह भी सम्भव नहीं। कारण—(१) 'राजतरंगिणी' में इस का उल्लेख नहीं, (२) प्रवरसेन और विक्रमादित्य में दुश्मनी थी ऐसा कल्हण ने कहा है। अत प्रवरसेन के लिये विक्रमादित्य ने कालिदास को 'सेतुबन्ध' काव्य लिखने के लिये प्ररित किया होगा, इस में भी सन्देह है। (३) प्रवरसेन के राजसिंहासन पर बैठते ही उस के आग्रह करने पर भी मातृगुप्त काश्मीर में नहीं रहे। तुरन्त काशी जाकर उन्होंने सन्यास ले लिया* ऐसा कल्हण ने वर्णन किया है। इन सब कारणों से उपर्युक्त बातें ठीक नहीं मालूम पड़ती।

(२) वराहमिहिर के ग्रंथों में पाई गई समानता

वराहमिहिर छठी शताब्दी में हुए थे। वे ज्योतिषशास्त्र के धुरंधर आचार्य थे। उन्होंने 'अयनबिन्दु' का निश्चय किया। और उन के समय से वर्षाऋतु का आरम्भ आषाढ़ मास से माना जाने लगा। उन के पहले श्रावण में दक्षिणायन का अर्थात् वर्षा ऋतु का आरम्भ माना जाता था, इस का उल्लेख वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ में किया है। कालिदास ने अपने मेघदूत के 'आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्' इत्यादि वर्णन में वर्षाऋतु का

*राजतरंगिणी ३, २६ ३१०।

आरम्भ आषाढ़ मास से माना है। उन के समय में यह प्रथा थी। इस से यह मालूम होता है कि कालिदास वराहमिहिर के समकालान या उस के बाद हुए थे। और भी कई जगह वराहमिहिर के ग्रन्थों से उन्होंने ज्योतिर्विषयक कई कल्पनायें ली हैं। नीचे दिये हुये उदाहरण देखिये—

(अ) वराहमिहिर—भूच्छाया स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दु।

बृहत्संहिता—राहुचार

कालिदास—छाया हि भूमे शशिनो मलत्वे

नारोपिता शुद्धिमत प्रजाभि ॥ रघु० १४,४०

इन दोनों अवतरणों में भूमि की छाया के कारण चन्द्र को ग्रहण लगता है, ऐसा वर्णन है।

(आ) वराहमिहिर—सलिलमये शशिनि रवर्दीधितयो मूर्छितास्तमो नैशम्

बृहत्संहिता—चन्द्रचार

कालिदास—पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बाल

चद्रमा ॥ रघु० ३, २२

इन दोनों स्थलों में चन्द्र सूर्य की किरणों स प्रकाशित होता है यह कल्पना पायी जाती है। अत वराहमिहिर और कालिदास ये दोनों ही विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे, यह परम्परागत कथा सत्य होनी चाहिये।

किन्तु उपर्युक्त प्रमाण विशेष प्रबल नहीं दीखते। आषाढ़ के महीने में वर्षारंभ वराहमिहिर से पहले कई वर्ष पूर्व चल पड़ा होगा। इससे कालिदास को वराहमिहिर का समकालीन या उनके पीछे का मानना आवश्यक नहीं। कारण यह है कि आषाढ़ के महीने में वर्षा होने लगती है यह देखकर कालिदास ने अपने काव्य में वैसा उल्लेख किया। इससे उनका समय वराहमिहिर के समय से आगे पीछे सौ

सवा सौ वर्ष होना चाहिये, इतना ही कहा जा सकता है। ऊपर जो ज्योतिष विषयक कल्पना के समान स्थल दिखलाये गये हैं उन में से कालिदास चन्द्रग्रहण के विषय में न कहकर चन्द्र में दीखनेवाला जो धब्बा है उसका कारण वर्णन करते हैं। दूसरे स्थल की, चंद्र सूर्य किरणों से प्रकाशित होता है, यह कल्पना अत्यन्त प्राचीन है। ईसा से पूर्व ८ वीं शताब्दी में यास्काचार्य हुए जिन्होंने अपने निरुक्त में 'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति।' (अ० २,६) इस प्रकार चन्द्र के सूर्य किरण द्वारा प्रकाशित होने का वर्णन किया है। अतः इन प्रमाणों से कालिदास को वराहमिहिर का समकालीन मानना युक्तिसंगत नहीं दीखता।

(३) मेघदूत में दिङ्नागाचार्य का उल्लेख—कालिदास ने अपने 'मेघदूत' काव्य में यक्ष के द्वारा मेघ को अलकापुरी का मार्ग दिखलाते हुए लिखा है —

स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खम्।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्॥

मेघदूत, १४

इस श्लोकार्ध में श्लेष के द्वारा अपने समकालीन निचुल और दिङ्नाग, इन दो कवियों का उल्लेख किया है, ऐसा दक्षिणावर्त तथा मल्लिनाथ, इन दो मेघदूत के टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में कहा है—"उनमें से रामगिरि के समीप रहनेवाला कालिदास का सहाध्यायी मित्र निचुल कवि कालिदास के काव्यों पर उठाये हुए आक्षेपों को दूर करता था, तो कालिदास का प्रतिस्पर्धी दिङ्नाग— 'कालिदास ने अपनी कल्पनाएँ दूसरे ग्रन्थों से चुराई हैं'—इस प्रकार बड़े आग्रह के साथ हाथ उठा उठा कर आक्षेप किया करता था।

अत उस दिङ्नागाचार्य के मोटे मोटे हाथों को दूर ही से बचाकर, हे मेघ, तू उत्तर की तरफ अपने मार्ग को चले जाना, ऐसा कालिदास ने यक्ष के मुख से मेघ के प्रति कहलाया है। दिङ्नाग एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक, ईसवी सन् की छठी शताब्दी में हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास भी इसी समय मौजूद थे।

यह प्रमाण भी प्रबल नहीं दीखता। यह ठीक है कि कालिदास अपने काव्यों में कहीं कहीं श्लेष का प्रयोग करते हैं। फिर भी बाण, सुबन्धु, श्रीहर्ष आदि की तरह वे प्रचुरमात्रा में श्लेष का उपयोग नहीं करते थे। इस लिये किसी विशेष प्रमाण के न रहते हुए श्लेषमूलक व्यक्तिगत उल्लेख उनके काव्य में देखना ही उचित नहीं है। दूसरी बात यह है, 'दिङ्नागानाम्' इस पद से यदि कवि को अपने प्रतिस्पर्धी का उल्लेख करना होता तो बहुवचन का उपयोग न करता। इसके सिवा दिङ्नाथ एक तार्किक विद्वान् था। काव्य-शास्त्र का उसे व्यासंग था ऐसा कहीं उल्लेख नहीं। तब उसने कालिदास के दोष दिखलाने के लिये उछल-कूद मचायी होगी ऐसा मालूम नहीं होता। उपर्युक्त श्लोक में जिन निचुल और दिङ्नाग का उल्लेख है, अगर हम उनको कोई व्यक्तिविशेष मान लें तो भी कालिदास के उक्त समय का निर्णय नहीं हो पाता। क्योंकि डा० कीथ, प्रो० मेक्डानाल्ड आदि के मत से, दिङ्नाग का स्थिति-काल ई० स० ४०० के लगभग ठहरता है। दिङ्नाग का गुरु वसुबन्धु महाराज चन्द्रगुप्त का मन्त्री था। इसका उल्लेख वामन ने अपनी 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में किया है। अनेक विद्वानों के मत में यह चन्द्रगुप्त, गुप्त राज्य का संस्थापक प्रसिद्ध पहला चन्द्रगुप्त (ई० स० ३१९—३३०) तथा उसका पुत्र, प्रसिद्ध सम्राट् समुद्रगुप्त है तथा वसुबन्धु का काल चौथी शताब्दी का मध्यभाग और उसके शिष्य दिङ्नाग का समय चौथी

शताब्दी का अन्तिम भाग ठहरता है।

(४) 'ज्योर्विदाभरण' में आया हुआ उल्लेख—

'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ के १२ वें अध्याय में यह पाया जाता है कि यह ग्रन्थ शकारि विक्रमादित्य के आश्रय में रहनेवाले कालिदास कवि का बनाया हुआ है और वह कवि उस के नवरत्नों में से एक था*। इसी ग्रन्थ में ज्योतिष विषयक उल्लेख के कारण यह ग्रन्थ १३वीं शताब्दी का बना हुआ ठहरता है। परन्तु उक्त ग्रन्थकार ने वराहमिहिर के अनुसार कलियुग के आरम्भ का जो समय निश्चित किया है उस से इस ग्रन्थ का रचना काल ५८० ठहरता है। इस ग्रन्थ और कालिदास के काव्य में अनेक जगह कल्पना साम्य पाया जाता है†। इसके अन्त में आई हुई विक्रम की प्रशस्ति की भाषा जितनी ज़ोरदार होनी चाहिये, उतनी नहीं है, यह सत्य है। पर महाकवि की भाषा में सर्वत्र एक सा ही सौष्ठव और धारा प्रवाह रहना ही चाहिये यह सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ, भाषा की क्रमबद्धता और सौष्ठव को लेकर बहुत दिनों तक ' ऋतु-संहार ' और 'मालविकाग्निमित्र' के सम्बन्ध में विद्वानों में विवाद होता रहा। अत कालिदास ई० स० की छठी शताब्दी में यशोधर्मन विष्णुवर्धन के दरबार में मौजूद रहे होंगे।'

उपर्युक्त मत भी ठीक नहीं जँचता। 'ज्योतिर्विदाभरण' का काल छठी शताब्दी को मान लिया जाय तो भी वह रघुवंशादि उत्कृष्ट ग्रन्थ-लेखक कालिदास का रचा हुआ मालूम नहीं पड़ता।

---

* धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥
॥ २२, १०।

† ज्योति० ४, ८५ और कुमार० १, ३ देखिये।

'ज्योतिर्विदाभरण' के २२ वें अध्याय के बीसवें श्लोक को पढ़िये। अगर यह निर्देश ठीक है तो रघुवंश आदि काव्यों के अनंतर ही कालिदास ने इस ग्रन्थ को लिखा होगा। उस समय कालिदास की बुद्धि परिपक्व हो गई थी। उसकी लेखनी से इस ग्रन्थ में सदोष भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता। 'ऋतुसंहार' और 'मालविकाग्निमित्र' का धर घसीटना ठीक नहीं। क्योंकि कवि ने उन्हें पहले ही लिखा है। यदि कवि की भाषा शैली उन कार्यों में उतनी परिमार्जित, निर्दोष और मधुर नहीं दीखती तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अत किसी दूसरे व्यक्ति ने कालिदास के नाम पर इस ग्रन्थ को बनाया या किसी दूसरे व्यक्ति कालिदास नामक ग्रन्थकार ने ही इसे लिखा होगा, यह ठीक नहीं। हा, इस प्रकार के तीन कालिदास राजशेखर के समय (ई० स० की दसवीं शताब्दी) में लोगों को विदित थे। उन्हीं को लक्ष्य करके राजशेखर ने एक जगह कहा है—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

शृंगार रस के वर्णन करने में और मधुर भाषाशैली में एक कालिदास की बराबरी करने वाला आज तक कोई उत्पन्न नहीं हुआ, फिर तीन कालिदासों को (भिन्न भिन्न विषयों में) परास्त करने वाला कहाँ मिलेगा!

यहाँ तक हमने कालिदास के विषय में कुछ विभिन्न मतों का समीक्षण किया और वे मत युक्तिसगत नहीं, यह भी दिखाया। अब हम अपना मत सप्रमाण पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। कालिदास के छठी शताब्दी में रहने का मत निराधार बतलाया जा चुका है। अगर इससे पहले जायँ तो पाँचवीं शताब्दी के द्वितीयार्ध के पहले कालि

दास विद्यमान रहे होंगे यह निम्नलिखित प्रमाण के आधार पर कहा जा सकता है।

मध्य भारत के मदसोर नामक स्थान में ई० स० ४७३ का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। डा० फ्लीट ने उसको अपने गुप्तकालीन शिलालेख नामक पुस्तक* में प्रकाशित किया है। इस लेख में, लाट अर्थात् मध्य और दक्षिण गुजरात से निकल कर मदसोर में आकर बसे हुए जुलाहों के सघ ने सम्राट् कुमारगुप्त के शासनकाल में (ई० स० ४३७ में) एक सूर्यमन्दिर बनवाया था और फिर ई० स० ४७३ में उसका जीर्णोद्धार किया, इस प्रकार का वर्णन आया है। उस अवसर पर सघ ने वत्सभट्टि नामक कवि द्वारा शिलाखड पर खुदवाकर मन्दिर में एक सस्कृत प्रशस्ति स्थापित की। इस प्रशस्ति में कई जगह कालिदास की कविता का अनुकरण किया गया है। डा० बूलर, कीलहॉर्न, मेक्डोनल, कीथ वगैरह विद्वानों का भी यही मत है। उदाहरणार्थ कालिदास और वत्सभट्टि की समानता नीचे दी जाती है—

कालिदास—विद्युद्वन्त ललितवनिता से न्द्रचाप सचित्रा
सगीताय प्रहतमुरजा स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोय मणिमयभुवस्तुगमभ्रलिहाग्रा
प्रासादास्त्वा तुलयितुमल यत्र तैस्तैर्विशेषै ॥

मेघदूत, ६६

वत्सभट्टि—

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥

श्लोक १०

* Dr Fleet Gupta Inscriptions (No 18)

इन दोनों पद्यों में उत्तुग भवनों और मेघों की एक ही प्रकार की तुलना दृष्टिगोचर होती है । निम्नोद्धृत पद्यों में पाया हुआ साम्य भी ध्यान देने योग्य है—

कालिदास—

निरुद्धवातायनमंदिरोदर हुताशनो भानुमतो गभस्तय ।
गुरूणि वासास्यबला सयौवना प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥
न चन्दन चारुमरीचिशीतल न हर्म्यपृष्ठ शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायव सान्द्रतुषारशीतला जनस्य चित्त रमयन्ति साम्प्रतम् ॥

ऋतु सहार ५, २—३

वत्सभट्टि—

रामासनाथभवनोदरभास्कराशुवह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने ।
चन्द्राशुहर्म्यतलचन्दनतालवृन्तहारोपभोगरहिते हिमदिग्धपद्मे ॥

श्लोक ३१

वत्सभट्टि के पद्यों में कालिदास का प्रतिबिंब साफ़ साफ़ झलक रहा है । वत्सभट्टि एक निम्न कोटि का कवि था । उसकी कृति में विद्वानों ने अनेक दोष निकाले हैं* । इस से यह सहज ही में अनुमान निकलता है कि उसी ने कालिदास की कल्पना की नक़ल की है । इस प्रमाण द्वारा हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि कालिदास पाँचवीं शताब्दी के द्वितीयार्ध के पहले हुए होंगे ।

अब कालिदास के स्थितिकाल की पूर्व की सीमा और भी अधिक निश्चित रूप से कितनी ठहरती है, इस पर भी हम विचार करेंगे । कालिदास ने वात्स्यायन के कामशास्त्र का बहुत गहरा अध्ययन किया था । विवाहित स्त्री के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए वात्स्यायन ने निम्नलिखित सूत्र लिखे हैं—

---

* डा० बूलर का लेख—Indian Antiquary (No 18)

श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता ।
भोगेष्वनुत्सेक । परिजने दाक्षिण्यम् ।
नायकापचारेषु किञ्चित्कलुषता नात्यर्थं निवदेत् ।

कामसूत्र, पृ० २३६, २३६

उक्त सूत्रों में इधर उधर बिखरे हुए विचारों की एक सुन्दर पुष्पमाला गूँथकर कालिदास ने कुलपति कण्व के मुख से नववधू शकुन्तला को एक बहुत ही उत्कृष्ट, भावपूर्ण उपदेश निम्नलिखित श्लोक द्वारा दिलाया है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीप गम ।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येव गृहिणीपद युवतयो वामा कुलस्याधय ॥

शाकु० ४, १७

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जो सर्वोत्कृष्ट चार श्लोक माने जाते है उन में काव्यरसिकों ने इस श्लोक को परिगणित किया है। परतु इस श्लोक में मूल कल्पना वात्स्यायन की है, यह स्पष्ट हो जाता है। इस से कालिदास वात्स्यायन के पीछे के ठहरते हैं। कामशास्त्र में जिस राजकीय परिस्थिति का उल्लेख किया है, उस के अनुसार वात्स्यायन का काल, विद्वानों ने ईसवी तीसरी शताब्दी का मध्यकाल ठहराया है* अत कालिदास ई० स० के २५० के पीछे हुए होंगे।

हमें ई० स० २५० से ४५० अर्थात् इन दो सौ वर्षों के बीच में कालिदास का समय खोजना होगा। उनके ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वे उज्जयिनी में रहते थे। परपरागत कथाओं के आधार पर और उनके ग्रथों में 'विक्रम' इस श्लेषगर्भित नाम से यह

*H C Chakladhar Social Life in Ancient India, p 33

अनुमान होता है कि उनका आश्रयदाता कोई शकारि विक्रमादित्य अवश्य रहा होगा। इस बात का उल्लेख ऊपर भी किया जा चुका है। इस प्रकरण के आरम्भ में, ११ वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए अभिनन्द कवि की जिस उक्ति को हमने उद्धृत किया है उसी में किसी शकारि के आश्रय से कालिदास के ग्रन्थों में प्रसिद्धि मिली, ऐसा कहा है। उपर्युक्त २०० वष के समय में द्वितीय चन्द्रगुप्त और उसके पौत्र स्कन्दगुप्त इन दोनों ने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी, यह बात उनके समय के मिले हुये सिक्कों से स्पष्ट होती है। उन में से द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही शकारि कह सकते हैं। इस का कारण यह है कि इस राजा ने ई० स० ३९५ के लगभग काठियावाड़ के शकवंशीय क्षत्रपों का समूल उच्छेद कर उस प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया था। यह बात शिलालेख और मुद्राओं से भी प्रमाणित हो चुकी है। उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। वह बड़ा दानशूर था और दूर दूर तक उसकी ख्याति थी और उसने उदारता पूर्वक विद्वानों को आश्रय दे रक्खा था। कौत्स शाब नाम के उस के एक सान्धिविग्रहिक मन्त्री ने मध्यभारत के उदयगिरि में एक लेख† खुदवाया था। उस लेख में उसने अपने को 'शब्दार्थन्यायलोकज्ञ' और 'कवि' होने का स्पष्ट निर्देश किया है। इस से द्वितीय चन्द्रगुप्त विद्वान् व्यक्तियों को राज्य के ऊँचे पदों पर नियुक्त किया करता था, ऐसा मालूम होता है। यह राजा स्वयं भी बड़ा विद्वान् था। कालिदास, मेण्ठ इत्यादि विद्वानों की तरह उज्जयिनी की विद्वत्परिषद् के सामने उसने स्वयं परीक्षा दी थी, ऐसा उल्लेख राजशेखर की

---

† Dr Fleet : Gupta Inscriptions (No 6)

'काव्यमीमासा' में पाया जाता है* । राजशेखर के कथनानुसार राजा के कवि होने पर सब लोग काव्यरचना करने लग जाते हैं और उनको राजा का आश्रय मिलता है अत इस चद्रगुप्त विक्रमादित्य के ही आश्रय में कालिदास रहे होंगे ऐसा अनुमान होता है ।

कालिदास के चरित्र के सबध में जो कुछ जानकारी अब तक हुई है उस के द्वारा भी उपर्युक्त अनुमानों की पुष्टि होती है । कवि क्षेमेंद्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में अधिकरण कारक के औचित्य के उदाहरण देते समय निम्नाकित श्लोक कालिदास के 'कुन्तलेश्वरदौत्य' नामक ग्रथ से लिया है ।

इह निवसति मेरु शेखर क्ष्माधराणा
मिह विनिहितभारा सागरा सप्त चान्ये ।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमान
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥

औचित्यविचारचर्चा पृ० १४०

इस श्लोक में स्थानवर्णन का औचित्य क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार से व्यक्त किया है कि 'किसी सम्राट् का एक माडलिक राजा की सभा में गया, उसे अपने स्वामी के सम्मान के अनुकूल उस सभा में बैठने के लिये आसन न मिला तो आवश्यक राजकार्य होने के कारण वह भूमि पर बैठ गया । दरबारियों ने जब उसका परिहास किया तब धीर गभीर स्वर से वह बोला—' शेष फण रूपी स्तम्भों पर स्थिर, यह

---

* श्रूयते चोज्जयिन्या काव्यकारपरीक्षा ।—इह कालिदासमेण्ठा वत्रामररूपसूरभारवयः । हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥- काव्यमीमांसा अ० १०

कवीन्द्रवचनसमुच्चयादि प्राचीन श्लोकसग्रह में विक्रमादित्य के नाम पर आये हुये श्लोक द्वितीय चंद्रगुप्त के होंगे ।

भूमितल ही हमारे बैठने योग्य स्थान है। कारण कि पर्वतश्रेष्ठ मेरु और सात महासागर इस आसन पर विराजमान हैं। उन्हीं की जैसी मेरी योग्यता है।' यह दूत अथवा राजप्रतिनिधि कौन था और किस सम्राट् का था इसका पता लगाने के लिये अभी हाल में एक साधन उपलब्ध हुआ है। कुछ वर्ष पहले मद्रास प्रान्त में धाराधीश भोजराज का 'शृंगार-प्रकाश' नाम का एक ग्रंथ मिला। उस के आठवें प्रकाश में कालिदास के मुख से निम्नलिखित श्लोक कहलाया गया है—

असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्तकर्णोत्पलानि ।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणा
त्वयि विनिहितभार कुन्तलानामधीश ॥

[कुन्तल देश का राजा तुम पर राज्य का सम्पूर्ण भार डालकर अपनी प्रिया का सुरापान से सुगन्धित मुख चूम रहा है जिस मुख पर मन्द हास्य ने एक आभा छिड़क दी है और नेत्र बन्द कर लेने से जिसके कानों के कमल स्पष्ट देख पड़ते हैं।] इससे सिद्ध होता है कि कालिदास ही दूत बनकर कुन्तलेश्वर नामक राजा की सभा में गये होंगे। लौट जाने पर विक्रमादित्य ने कालिदास से कुन्तलेश्वर के संबंध में जब प्रश्न किया तब उसने यह उत्तर दिया कि कुन्तलेश तुम्हारे ऊपर राज्य का भार डाल कर अंत पुर में स्त्रियों के साथ रस रंग मचाने में मस्त है। यह श्लोक भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' में और राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में उद्धृत है। राजशेखर ने उक्त श्लोक में थोड़ासा हेर फेर करके—

पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणा
मयि विनिहितभार कुन्तलानामधीश ॥ काव्यमीमांसा, अ० ११

'अर्थात् मुझ पर भार डाल कर कुन्तलेश्वर मधुसुगन्धित प्रिया मुख का अच्छी तरह, चुम्बन करे', यही उत्तर विक्रमादित्य ने कालिदास को दिया था। कालिदास महान् पंडित और चतुर राजदूत थे, यह हम उन के ग्रंथों से आगे दिखलाएँगे। यदि उन को अपना प्रतिनिधि बनाकर सामंत सभा में विक्रमादित्य ने भेजा हो तो इस में कुछ आश्चर्य नहीं।

यह कुन्तलेश्वर कौन था, इस का विचार करना चाहिये। इस प्रश्न पर अब तक दो मत प्रगट किये जा चुके हैं। साधारणत दक्षिण महाराष्ट्र तथा मैसूर के उत्तर भाग को 'कुन्तल देश' कहते हैं। मैसूर राज्य के शिमोगा ज़िले में तालगुण्ड नामक स्थान में कदम्बों का एक शिला लेख मिला है। उस में ऐसा उल्लेख किया गया है कि, 'काकुस्थ–वर्मन् नामक राजा ने अपनी बेटी का विवाह गुप्तराज के साथ किया था।' इससे बम्बई के सेंट जेवियर कालेज के अध्यापक प्रोफेसर हैरास ने यह अनुमान निकाला कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इस राजा की कन्या को अपने राजकुमार के लिये माँगा होगा और उस विवाह संबंध को जोड़ने के लिये कालिदास को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा होगा†।

परन्तु उपर्युक्त बात के लिये कोई विशेष आधार नहीं दीखता। कारण यह है कि तालकुण्ड के लेख में अमुक गुप्तराजा ने कदम्ब राजकन्या का वरण किया था—इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त ऊपर दिये हुए श्लोक में जैसा वर्णन है, तदनुसार कदम्ब राजा का राज्य चन्द्रगुप्त की नीति के अनुसार संचालित होता था इसका प्रमाण कहीं नहीं मिलता। दूसरी बात यह भी है कि काकुस्थवर्मन् और चन्द्रगुप्त के समय में ५०–६०

† J B O R S Vol. XII, Part IV

वर्ष का अन्तर पड़ता है। अत उक्त अनुमान के ठीक होने म हमें स देह है *। इससे प्रतिकूल मत प्रोफेसर कृष्णस्वामी एयगार ने प्रतिपादित किया है। उन्होंने लिखा है 'कि कुन्तलेश्वर च द्रगुप्त–विक्रमादित्य का नाती वाकाटक द्वितीय प्रवरसेन होना चाहिये।' यही मत युक्तिसमत मालूम होता है §। च द्रगुप्त ने अपनी बेटी प्रभावती गुप्ता वाकाटक घराने के राजा द्वितीय रुद्रसेन को दी थी। यह विवाह इ० स० ३६५ के लगभग हुआ होगा, ऐसा प्रो० विन्सेंट स्मिथ ने सिद्ध किया है। रुद्रसेन की मृत्यु बहुत जल्दी हुई। उसके दिवाकरसेन और दामोदरसेन नामक दो पुत्र थे। जब तक दोनों राजकुमार नाबालिग थे तब तक उनकी तरफ से प्रभावतीगुप्ता ने कई वर्ष तक राज्य का सचालन किया था। बाद में उन में से एक राजकुमार (द्वितीय) प्रवरसेन नाम से गद्दी पर बैठा। प्रवरसेन के बाल्यकाल में च द्रगुप्त के आदेशानुसार राज्य का कारभार चलता था और वाकाटक के राजदरबारी लोग गुप्तों के अधिकारियों के अधीन थे। यह प्रभावती गुप्ता के ताम्रपटों से मालूम होता है। इसका प्रमाण यह है कि उन ताम्रपटों पर वाकाटकों के ताम्रपटों के अनुसार वाकाटक वश की वशावली न देकर प्रभावतीगुप्ता ने अपने मायके की अर्थात् गुप्त घराने की वशावली दी है। अस्तु प्रवरसेन के सयाने होने पर वह राज्य का कारभार किस प्रकार चलाता है, यह जानने की इच्छा से विक्रमादित्य ने कालिदास को विदर्भ देश में भेजा होगा। कालिदास ने विदर्भ प्रान्त में कुछ काल तक वास किया होगा। वाकाटक राजा यात्रा के निमित्त रामटेक जाया करते थे, यह बात रा० य० रा० गुप्ते महाशय द्वारा सपादित ऋद्धपुर के प्रभावतीगुप्ता के ताम्र

---

* उपर्युक्त वृत्तान्त लिखे जाने पर प्रसिद्ध हुए श्री लक्ष्मीनारायण राव का इस विषय पर लेख देखिये—Indian Historical quarterly Vol IX, p p 197—201

§ Aiyangar: Studies in Gupta History p 54

पत्र से मालूम हुई है*। कालिदास भी बार बार वहाँ जाते रहे होंगे और इसी लिये उन्हों ने अपने 'मेघदूत' में यक्ष का निवासस्थान रामगिरि बतलाया है। उज्जयिनी से लौटने और विक्रमादित्य के पूछने पर कालिदास ने प्रवरसेन के राज्यकारभार की उपेक्षा कर देने और भोगविलास में निमग्न हो जाने की सूचना दी, यह बात ऊपर के श्लोक से मालूम होती है। द्वितीय प्रवरसेन के पितामह प्रथम पृथ्वीषेण ने कुन्तल देश को जीतकर अपने देश में मिला लिया था, यह अजंता के एक शिलालेख से सिद्ध होता है, तब से वाकाटक राजा 'कुन्तलेश' के नाम से प्रसिद्ध हुये।

कालिदास चन्द्रगुप्त कालीन थे, इसके लिये एक और प्रमाण दिया जा सकता है। "सेतुबन्ध" अथवा 'रावणवहो' (रावणवध) नामक प्राकृत भाषा का एक बड़ा प्रसिद्ध काव्य है। बाण कवि ने उसकी स्तुति अपने 'हर्षचरित' के प्रारंभ के श्लोकों में की है। इस से ई०स०सातवीं शताब्दी के पहले इसकी रचना हुई है इस में सन्देह नहीं। यह काव्य विक्रमादित्य की आज्ञा से प्रवरसेन के लिये कालिदास ने लिखा है ऐसा एक टीकाकार का निर्देश भी पाठकों के ध्यान में होगा। यह प्रवरसेन काश्मीर का राजा नहीं था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और वाकाटक (द्वितीय) प्रवरसेन इन दोनों का संबंध विचार में रखकर यह काव्य चन्द्रगुप्त की आज्ञा से कालिदास ने लिखा अथवा उसका संशोधन किया होगा ऐसा मालूम पड़ता है। इस काव्य के पहले आश्वास के नवम पद्य में यह काव्य राजा ने राजगद्दी पर बैठते ही बहुत शीघ्र बना डाला ऐसा उल्लेख है। इस श्लोक पर टीका करते हुये रामदास टीकाकार ने प्रवरसेन को 'भोज' देव के नाम से व्यवहृत किया है। विदर्भ देश का राजघराना भोज के

* देखो—भा इ स म (त्रैमासिक) वर्ष ३, अंक २ ४ पृ ११

नाम से निरयात था यह कालिदास के रघुवश से भी स्पष्ट है। इस के अतिरिक्त, 'भरतचरित' काव्य के कर्ता कृष्णकवि ने भी 'सेतुबन्ध काव्य कुन्तलेश्वर ने रचा था' ऐसा कहा है*। यह ऊपर दिखा चुके हैं कि वाकाटक राजा ही 'कुन्तलेश्वर' कहे जाते थे। इस से वाकाटक प्रवरसेन ही 'सेतुबन्ध' काव्य का कर्त्ता और उसके दरबार में कालिदास का दूत बनकर जाना सिद्ध होता है।

कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आश्रय में थे यह मानने पर ही उनके ग्रन्थों में तत्कालीन राजकीय परिस्थिति का प्रतिबिंब पड़ा है, यह दिखाया जा सकता है। मालविकाग्निमित्र नाटक, वाकाटक नृप, द्वितीय रुद्रसेन और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावतीगुप्ता के विवाहकाल में लिखा गया होगा। वाकाटक के दरबार में रहते हुए कालिदास ने मेघदूत की रचना की और सेतुबन्ध काव्य लिखा अथवा उसका सशोधन किया यह ऊपर बतलाया जा चुका है। विक्रमोर्वशीय नाटक में विक्रमादित्य के नाम का सबध प्रत्यक्ष दीख रहा है। चद्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्मोत्सव प्रसग पर कुमारसभव लिखा गया होगा। रघुवश में रघु के दिग्विजय के वर्णन में कवि का अभिप्राय द्वितीय चद्रगुप्त के दिग्विजय वर्णन करने का रहा होगा। यह बात भी ध्यान में रखने लायक है कि इस प्रकार का सबध और किसी राजा से नहीं जोड़ा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के आश्रय में थे यह स्पष्ट हो जाता है। चद्रगुप्त ने ई० स० ३८० से लेकर ४१३ पर्यंत राज्य किया। अर्थात् कालिदास चौथी शताब्दी के अत में या पाँचवी शताब्दी के आरभ में हुये होंगे।

---

* जलाशयस्थान्तरगाढमार्गमलब्धरन्ध्र गिरि चौर्यवृत्त्या।
लोकेष्वलं कान्तमपूर्वसेतु बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेश ॥ (१ ४)

दूसरा परिच्छेद

कालिदासकालीन परिस्थिति

महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्ध हि राज्य पदमै न्द्रमाहु ।

—रघु० २, ५०

[समस्त समृद्धियों से सम्पन्न राज्य 'इन्द्रपद' के तुल्य है । भेद इतना ही है, कि यह राज्य पृथ्वी पर है और इन्द्र का राज्य स्वग में है ।]

पिछले प्रकरण में हम ने कालिदास का काल निश्चित किया है। उस काल में कालिदास के सदृश अद्वितीय कवि के उत्पन्न होने में कौन से कारण हुए उनका परीक्षण करने के लिये तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

परिस्थिति का लोगों के कार्य पर कितना प्रभाव होता है, इस विषय में दो मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि महान् पुरुष ईश्वर की देन हैं। वे किसी समयविशेष की परिस्थिति के कारण उत्पन्न होते हैं ऐसा मान लेना भूल है। यह कहना तो ऐसा हुआ कि पुष्प की सुगन्ध चारों तरफ़ फैलने क लिये उसका पौधा उद्यान में ही उगना चाहिये! कालिदास स्वय कहते हैं, कि कभी कभी वन में उत्पन्न हुई लता अपने उत्तम गुणों से उद्यानोत्पन्न लता के महत्त्व को कम कर देती है, इस उक्ति में बहुत अश तक सचाई है। श्रेष्ठ मनुष्य में दैवी अश रहता है, यह बात भगवान ने भी गीता में कही है। हम देखते हैं, कि कई बार कुछ थोड़े से लोग अपने गुणों के प्रभाव से प्रतिकूल परिस्थिति को अनुकूल बना लेते हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा

सकता कि उनके कार्य पर परिस्थिति का प्रभाव बिलकुल नहीं पड़ता। संसार की विचित्रता पर सुप्रसिद्ध विद्वान् एडिसन ने कहा है कि यदि एक ओर बोझ के भार से दबा हुआ अत्यन्त कृश शरीर मज़दूर दिखाई पड़ता है, तो दूसरी ओर हम एक हट्टे कट्टे तन्दुरुस्त आदमी को एक गज़ भर कपड़े पर महीन सुई से टाँके मारते हुये देखते हैं। इस से यह प्रतीत होता है, कि जब मनुष्य को अपने योग्य परिस्थिति नहीं मिलती तब उसके गुणों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। जैसे वन की लता अपने पुष्पों के सुवास से चारों दिशाओं को सुवासित करती है परन्तु कोई विरला ही रसिक व्यक्ति उसका गुणग्राहक बनता है। इसी प्रकार कालिदास के पहिले कम या अधिक प्रतिभाशाली ग्रन्थकार अवश्य हुये होंगे। परन्तु 'निराश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लता' की उक्ति के अनुसार उन्हें किसी रसिक राजा का आश्रय न मिलने या लोकरुचि का साहाय्य न होने से उनके ग्रन्थों के नाम आज लुप्त हो गये। कालिदास के हाथों से जो इतनी उत्कृष्ट ग्रन्थ-रचना हुई है, उसके लिये निश्चय ही उन्हें तत्कालीन परिस्थिति बहुत अनुकूल पड़ी होगी।

कालिदासकालीन परिस्थिति का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त करने के लिये उनके पहिले काल का सिंहावलोकन करना नितान्त आवश्यक है। प्रामाणिक ऐतिहासिक साधनों द्वारा भारतवर्ष का इतिहास ईसा से पूर्व चौथे शतक से स्थूलरूप में मिलता है। ईसा से पहिले ३२६वें वर्ष में सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। उस समय उत्तरीय भारत पर नन्द राजा का आधिपत्य था। पाटलिपुत्र उसकी राजधानी थी। सिकन्दर के वापिस लौट जाने पर चन्द्रगुप्त ने विष्णुगुप्त (चाणक्य) नामक मन्त्री की सहायता से मगध देश में राज्यक्रान्ति की और उससे लाभ उठा कर पाटलिपुत्र के

सिंहासन पर अपना अधिकार जमाया। चन्द्रगुप्त ने अपने राज्य की बड़ी उत्तम व्यवस्था की तथा बड़ी वीरता के साथ यवनसेनापति सेल्यूकस को हरा कर बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान, पंजाब—इन तीनों प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। उसके मन्त्री चाणक्य (कौटिल्य) का 'अर्थशास्त्र' विषयक उच्चकोटि का राज नैतिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। उस ग्रन्थ से तत्कालीन राज कीय सामाजिक परिस्थिति पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार और पौत्र अशोक इन दोनों के शासन काल में मगध साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ। उत्तर में हिन्दुकुश पर्वत से लेकर पूर्व में बङ्गाल तक सारा प्रदेश अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत आ चुका था। इतने बड़े साम्राज्य की व्यवस्था अशोक ने बड़ी उत्तम रीति से की थी।

अशोक ने अपने शिलालेखों में जगह जगह पर इस बात का आदेश दे रक्खा था कि बौद्ध भिक्षुओं के समान ही ब्राह्मणों का मान किया जाय। तथापि उसके शासनकाल में संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन नहीं मिला। बौद्ध धर्म के प्राचीन सम्प्रदायानुसार उसके प्रस्तरलेख तत्कालीन भाषा में लिखे हुये हैं। ईसा से पूर्व २३२ वें वर्ष में अशोक की मृत्यु हुई। उसके पीछे उसका राज्य लगभग ५० वर्ष तक टिका। ईसा से पूर्व १८५ के लगभग शुंगवंशीय पुष्यमित्र ने मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मार कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। सिंहासनारूढ़ होने पर पुष्यमित्र ने हिन्दूधर्मावलम्बियों से बौद्धधर्मी अशोकादि राजाओं के लगाये हुये कड़े नियन्त्रण हटा दिये। उसने स्वयं दो अश्वमेध यज्ञ किये थे, इसका उल्लेख अयोध्या के एक शिलालेख में आया है। इस से यह मालूम होता है कि पुष्यमित्र ने वैदिक धर्मानुयायियों को यज्ञ

में पशुवध करने की स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। संस्कृत विद्या को भी उससे प्रोत्साहन मिला। पतञ्जलि ने अपना सर्वमान्य व्याकरण महाभाष्य इसी राजा के शासन काल में लिखा और स्वयं उस के हाथ से यज्ञ कराया, ऐसा महाभाष्य में उल्लेख आया है।

अशोक के हिन्दुस्थान में राज्य करते समय ईसा से पूर्व २५० के लगभग ग्रीकों ने बॅक्ट्रिया में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। अशोक के पीछे मौर्य राजा शक्तिशाली न रहे। इस लिये ग्रीक लोगों ने पूर्व की तरफ़ हाथ फैलाना शुरू किया और धीरे धीरे पंजाब और सिन्ध इन दो प्रान्तों पर अपना अधिकार जमा लिया। पुष्यमित्र के अश्वमेधीय घोड़े को ग्रीक सेना ने पकड़ लिया था, पर उस समय पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने अपने पराक्रम से ग्रीकों को हरा कर घोड़ा वापिस ले लिया। यह कथांश 'मालविकाग्निमित्र' में आया है और सत्य भी प्रतीत होता है। शुंगों का राज्य ईसा से पूर्व ७३ वर्ष के उपरान्त नष्ट हो गया और उस के स्थान पर काण्व ब्राह्मण राजा हुये। उन्हों ने लगभग ४५ वर्ष तक राज्य किया, फिर दक्षिण भारत के आन्ध्रों ने आक्रमण कर के उन की राज्यसत्ता पर अधिकार कर लिया। शुंग और काण्व राजाओं के राज्य में हिन्दूधर्म और संस्कृत विद्या को उत्तेजना मिली। मनुस्मृति को वर्तमान रूप इसी समय में प्राप्त हुआ, ऐसा संशोधकों का मत है। परन्तु एक तरह से यह काल बड़ा अशान्तिमय था। कारण कि इस काल में शक और यवनों के अनेक आक्रमण हो रहे थे यह बात गर्गसंहिता के युगपुराण में वर्णित है। एक समय अम्लात नामक शक राजा ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया और शहर पर कब्जा कर लिया, उस ने वहां लोगों का सर्वनाश किया तथा चातुर्वर्ण्य के बाहर के (शक) लोगों को लाकर वहां बसाया। शक और हूणों

के आक्रमणों से जो भीषण परिस्थिति उत्पन्न हुइ उस का हृदयद्रावक वर्णन गर्गाचार्य ने इस प्रकार किया है—

"इस भयङ्कर युद्ध में राष्ट्र के सब पुरुष मारे गये, इस कारण स्त्रियों को ही सब काम करने पड़े। उन्हों ने जमीन जोती तथा धनुष बाण लेकर खेतों की रखवाली की। जहां तहां स्त्रियों ने सगठन कर सघ कायम किये। पुरुष इतने दुर्लभ हो गये कि एक पुरुष को दस दस बीस बीस स्त्रिया वरने लगीं। ग्रामों में और उसी तरह शहरों में स्त्रिया ही सारा व्यवहार देखने लगीं। चातुर्वर्ण्य की मर्यादा भग हो चुकी थी। शूद्र ब्राह्मणों के कम करने लगे थे और जटा वल्कल धारण कर के घूमने लगे थे। वैदिक धर्म में विधर्मी लोग आकर घुसने लगे और जहा तहा दम्भ का साम्राज्य हो गया। गृहस्थाश्रम को आपत्ति समझ कर लोग धड़ाधड़ सन्यास लेने लगे थे। इसी काल में लगातार दो वर्ष तक पानी नहीं बरसा, बड़ा भारी अकाल पड़ा, हजारों लोग मृत्यु के मुख में पड़े।"

गत यूरोपीय महायुद्ध के अनन्तर बेल्जियम और फ्रान्स में उत्पन्न हुई परिस्थिति का वर्णन जिन्होंने पढ़ा है, उनको गर्गाचार्य का उपर्युक्त वर्णन ज़रा भी अतिशयोक्तिपूर्ण न मालूम होगा। गर्ग सहिता में कण्वों के राज्यकाल का अन्तिम वर्णन आने से यह प्रतीत होता है, कि आखिरी कण्व राजा के शासनकाल के अन्तिम भाग में वह ग्रन्थ लिखा गया होगा। अत इस वर्णन को विश्वसनीय मानने में हानि नहीं मालूम होती। विदेशियों के आक्रमणों से उत्तर हिन्दुस्थान में कुछ काल तक अत्यन्त अन्धेर मच गया था। इस अवधि में अनेक हिन्दू ग्रथों और जैन ग्रथों का नाश हो गया। पतञ्जलि के महाभाष्य में प्रसगवशात् आये हुए अवतरणों से यह विदित होता है कि शुग काल में काव्य साहित्य उन्नति के शिखर

पर पहुँच चुका था। यह साहित्य और उसी तरह अनेक श्रौत स्मार्त ग्रन्थ और पुराण वगैरह नष्ट भ्रष्ट हो गये। स्वयं महाभाष्य की एक भी प्रति उत्तरभारत में उपलब्ध न हो सकी, इसी लिये चन्द्राचार्य नामक वैयाकरण ने उस ग्रन्थ को महान् परिश्रम से दक्षिण से प्राप्त कर उसका उत्तरभारत में प्रचार किया, इसका उल्लेख भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में मिलता है।

अशोक की मृत्यु के बाद शीघ्र ही आन्ध्रों ने दक्षिण में अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इनका मूलपुरुष सिमुक शातवाहन था। उसके बाद राजगद्दी पर बैठे हुए श्री शातकर्णी के अश्वमेध यज्ञ करने का नानेघाट के शिलालेख में उल्लेख है *। इसके सिवाय उस लेख म इसका भी वर्णन है कि, गवामयन, आप्तोर्याम, गार्गत्रिरात्र वगैरह श्रौत यज्ञ किये जाते थे और उस समय ब्राह्मणों को हजारों गायें, घोड़े तथा कार्षापण (उस समय का सिक्का) दिये जाते थे। अशोक की मृत्यु के बाद शीघ्र ही उत्तरभारत की तरह दक्षिण में भी वैदिक धर्म ने राजाश्रय के बल पर अपना मस्तक ऊँचा उठा लिया था। उत्तरभारत में अन्धाधुन्ध मचाते हुए शकों ने दक्षिण में भी राज्य स्थापन का प्रयत्न किया और कुछ काल तक वह सफल भी हुआ। दक्षिणभारत की चढ़ाई में भूमक तथा नहपान नाम के शक अग्रणी बने थे। आगे चलकर नहपान को बहुत बड़े प्रदेश की सूबेदारी मिली और वह क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हुआ। शिलालेख तथा प्राप्त मुद्राओं से यह सिद्ध होता है कि नहपान के अधिकार में काठियावाड़, राजपूताने का कुछ भाग, मालवा, गुजरात, उत्तर कोंकण और पूना जिला का भूभाग था।

---

* Nanaghat Cave Inscription—Archaeological Survey of Western India Vol X p 60 ff

नहपान ने महाराष्ट्र में जिस समय अपना अधिकार जमाया उस समय सातवाहन को देशत्याग करना पड़ा। किन्तु शीघ्र ही गौतमीपुत्र सातकर्णी ने मौका पाकर नहपान के वंशजों को पूरी तरह से हराकर उनके वंश का समूल उच्छेद कर डाला और अपने राज्य का विस्तार उज्जयिनी तक किया। गौतमीपुत्र ने नहपान के चलाये हुए सिक्के लोगों से वापस लेकर उन पर अपनी छाप लगाई और उन का फिर से प्रचार करवाया। इस वंश में आगे चलकर वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायी, यज्ञश्री सातकर्णी वगैरह राजा हुए। पुराणों में दी हुई गणना के अनुसार आन्ध्रों ने लगभग ४५० वर्ष तक अर्थात् ईसा से पूर्व २२५ से लेकर ईसा के बाद २२५ तक राज्य किया होगा।

सातवाहन राजा वैदिकधर्मानुयायी थे। नासिक के एक शिला लेख में गौतमीपुत्र को 'क्षत्रियों का दर्प हरण करने वाला' तथा 'एक ब्राह्मण' नाम से संबोधित करने के कारण उसका ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है। शकों के शासनकाल में चातुर्वर्ण्य में जो धाँधली मच गई थी उसका उसने पुनः संगठन किया। यह बात भी नासिक के एक शिलालेख से सिद्ध होती है। फिर भी वह बौद्धधर्म का आश्रयदाता था। गौतमीपुत्र, उसकी माता बालश्री, उसकी रानी और पुत्र पुलुमायी इन सबने बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिये गुफाएँ बनवाईं। उनके निर्वाह के लिये कई ग्राम लगा दिये। इस का उल्लेख नासिक तथा कार्ले की गुफाओं में मिलता है। इस से यह मालूम होता है कि उस राजा के शासनकाल में दोनों धर्मों के अनुयायियों को समानता के साथ देखा जाता था। सातवाहन राजा वैदिकधर्मानुयायी थे तो भी उन्होंने संस्कृत विद्या को आश्रय नहीं दिया। 'कथासरित्सागर' में इसका प्रमाण यों मिलता है कि एक सातवाहन राजा के जलविहार के समय किसी स्त्री ने जब 'मोदकै

स्ताडय' (जल के छींटों से मत मारो) ऐसा एक सीधा सा वाक्य कहा तो इस संस्कृत वाक्य का अर्थ उसके समझ में न आया। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में कुन्तलेश्वर सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में प्राकृतभाषा के व्यवहार करने का कड़ा नियम बना दिया था, ऐसा उल्लेख है। इस से उक्त बात का समर्थन होता है। इसके सिवा सातवाहन के समस्त लेख प्राकृतभाषा में हैं। बौद्धधर्म के प्रचार से पाली को तथा उसके बाद प्राकृतभाषा को जो महत्त्व मिला वह आगे गुप्त राजाओं की अमलदारी तक अक्षुण्ण बना रहा।

शकों के बाद उत्तर हिन्दुस्थान में पहले पल्हवों का फिर उन के पाछे कुशानों का साम्राज्य फैला। कुशानवंश में कुजूल काड फीसस्, वीम काडफीसस, कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव इन के नाम प्रसिद्ध हैं। वीम काडफीसस् ने हिन्दुधर्म स्वीकार कर लिया था, क्योंकि अपने सिक्के पर उस ने अपने को 'माहेश्वर' लिखा है और शिव तथा नंदी दोनों की आकृति उस पर खुदवाई है। समस्त कुशान राजाओं में कनिष्क राजा श्रेष्ठ माना गया है। दक्षिणभारत में अब तक प्रचलित शालिवाहन शक इसी कनिष्क ने ई. स. ७८ वें वर्ष में चलाया था ऐसा कई विद्वानों का मत है। इसके सिक्के काबुल से लेकर गाजीपुर तक मिलते हैं। एक समय उसने पाटलिपुत्र नगर पर आक्रमण किया और वहाँ के पण्डित अश्वघोष को पकड़ कर अपनी राजधानी ले गया। दक्षिण में काठियावाड़ और मालवे में राज्य करने वाले क्षत्रप इसके अधीन थे। इसी से भारतवर्ष पर किये हुये उसके साम्राज्य विस्तार की कल्पना पाठकों के ध्यान में आ जायगी। वह स्वयं बौद्धधर्मी था। बौद्धधर्म के प्रचारार्थ उसने जगह जगह स्तूप खड़े किये और

काश्मीर में विद्वान् भिक्षुओं की एक परिषद् की आयोजना की। इस परिषद् का अध्यक्ष प्रसिद्ध दार्शनिक और कवि अश्वघोष को बनाया था।

ईसा के बाद दूसरी शताब्दी के अ त में कुशानों का साम्राज्य क्षीण हो चला था। उनका राज्य पाँचवी शताब्दी में हूणों के आक्रमण तक पञ्जाब और काबुल इन दोनों प्रान्तों पर ही रह गया था। मालवा और काठियावाड़ प्रान्तों में शकवंशीय क्षत्रपों ने चौथी शताब्दी के अन्त तक राज्य किया। दक्षिण में आ ध्र साम्राज्य का अ त तीसरा शताब्दी के आरम्भ में ही हो गया था। कुशान और आ ध्र साम्राज्य जिन जिन प्रदेशों में फैला हुआ था वहाँ अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। चौथी शताब्दी में गुप्तों के उत्तरभारत में और वाकाटकों के दाक्षिणभारत में राज्यप्रसार होने के समय तक ये राज्य किसी तरह जीवित रहे। इसका प्रमाण गुप्त तथा वाकाटकों के शिलालेखों में मिलता है।

यहाँ तक हमने ऐतिहासिक सिंहावलोकन किया। इससे ईसा के पूर्व चौथी शता दी से लेकर ईसवी चौथी शताब्दी तक की देश की राजनैतिक स्थिति का सामान्य ज्ञान पाठकों को होगा। शुंग साम्राज्य के अवसा । से गुप्तों के उदयकाल तक लगभग चार शता ब्दियाँ हुईं। इस काल में उत्तर हि दुस्तान में हिन्दू धर्म को और सस्कृत विद्या को किसी प्रभावशाली राजा ने प्रोत्साहन नहीं दिया *। दक्षिण देश में महाराष्ट्रों में आ ध्र राजा वैदिकधर्मी

---

* गुप्त राजाओं के उदय से पहले लगभग सौ वर्ष तक नाग वंशीय राजाओं ने उत्तरभारत में अश्वमेध यज्ञ करके हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार किया तथा सस्कृत विद्या को आश्रय दिया यह बैरिस्टर

नुयायी थे। तो भी उनका लक्ष्य सस्कृत विद्या की ओर नहीं था। इस काल के प्राय सभी लेख प्राकृत भाषा म हैं । सिक्कों पर राजाओ के नाम और उनकी विरुदावली प्राकृत भाषा म लिखी हुई मिलती है। स्तूपों और चैत्यों (देवालयों) के बनवाने म, बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए गुफाओं के निर्माण में और स्तूपों और गुफाओं की शोभा बढ़ाने के लिए शिल्प तथा चित्रकारी के काय में लोग बहुत सा धन खच करते थे। साँची तथा भरहूत के स्तूप, कार्ले, नासिक तथा अजता इत्यादि स्थानों की गुफाओ के निर्माण के लिए राजाओं की तरह सेठ, साहूकार, व्यापारी, सुनार, बढ़इ, कारिंदा आदि विविध धन्धा करने वाले लोगों ने तथा शक यवनादि विदेशियों ने भी दान दिये इसका शिलालेखों में प्रमाण मोजूद है *। इस काल का एक भी हिन्दूधर्म देवालय या शिल्पकला का नमूना आजकल नहीं मिलता इससे भी उपयुक्त मत का समथन होता है। इस काल में हिन्दूधम जैसे तैसे टिका हुआ था और कहीं कहीं उसे राजा का आश्रय भी मिला होगा। उत्तर में वीम काडफीसस् और दक्षिण में मालवा का राजा रुद्रदामन् आदि क्षत्रप राजाओं ने हिन्दूधर्म को अपनाया, अत हिन्दूधम को इन लोगों से सहायता मिली होगी । खास करके क्षत्रियों की राजधानी उज्जयिनी में सस्कृत विद्या को प्रोत्साहन मिला था। ई० स० १५० में रुद्रदामन् के गिरनार के शिला लेख से, व्याकरण शास्त्र, सगीतादि कला, गद्य पद्य मय काव्य-वाङ्मय और उसके

जायसवाल का मत है ।(History of India 150—350 A D p 7) परन्तु यह मत अभी तक सर्वसम्मत नहीं है ।

* Cf Dr Sir R G Bhandarkar A Peep into the Early History of India, (1920) p 43

उपयोगी अलकारशास्त्र आदि का उस काल में अभ्यास होता था ऐसा मालूम होता है । क्षत्रपराज्य में भास, सौमिल्ल और कविपुत्र के नाटक तथा वात्स्यायन के कामसूत्र आदि लिखे गए होंगे। सर्वसाधारण जनता की सस्कृत विद्या में श्रद्धा न होने पर भी विद्वानों पर अपने लालित्य आदि गुणों से सस्कृत भाषा ने अपना मोहिनी डालना प्रारम्भ किया था, इसमें सशय नहीं है । अगर ऐसा न होता तो अश्वघोष जैसे कट्टर बौद्धधर्मी अपनी रचना सस्कृत में न करते । अपने 'सौन्दरनन्द' काव्य के अन्त में अश्वघोष ने स्पष्ट लिखा है, कि 'जिस प्रकार वैद्य रोगियों को कड़वी औषध मधु के साथ मिलाकर चटाते हैं उसी प्रकार मैंने जनता का ध्यान अन्य सासारिक विषयों से हटाकर 'मोक्ष' की ओर लगाने के लिए ही इस काव्य की रचना सस्कृत में की है ।' तथापि इन चार सौ वर्षों के काल में उत्तम सस्कृत काव्य नाटकादि ग्रन्थ नहीं रचे गए। प्रत्युत इस काल में पाली वाङ्मय की खूब वृद्धि हुई और प्राकृत में भी बृहत्कथादि ग्रथ रचे गये । अत सस्कृत विद्या को राजाश्रय मिलने के उदाहरण अपवादरूप हैं ।

इस काल में हिन्दू धर्म को विशेष राजाश्रय न था और जनता में भी उसका प्रसार बौद्धधर्म की अपेक्षा कम था । तो भी विचार शील पुरुष नये काल के अनुसार उसकी पुनर्घटना करने में व्यग्र थे ऐसा मालूम होता है । वैदिकधर्म के तत्त्व सब लोग समझ सकें इस लिए पूर्वकाल के सक्षिप्त व दुर्बोध सूत्रग्रन्थों के स्थान में मनु स्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति जैसी स्मृतिया सुबोध अनुष्टुब् छद में लिखी गईं । महाभारत और रामायण को भी वर्तमानरूप इसी काल में प्राप्त हुआ होगा । बौद्ध और जैनधर्म का अहिंसा सिद्धान्त पर विशेष आग्रह है और वह तत्त्व सर्वमान्य सा हो गया है ऐसा देख

कर इन स्मृतियों में भी वही तत्त्व जोरदार भाषा म प्रतिपादित किया गया और पहिले के हिंसाविधान करने वाले वचनों के बहुत से अपवाद-वचन बनाये गये। इस काल के आरम्भ में शिव, कुबेर, अश्विनीकुमार, धम, इन्द्र, सकर्षण, वासुदेव इत्यादि देवताओं का पूजा होती थी, यह कौटिलीय अर्थशास्त्र और नाणेघाट के सातवाहन के शिलालेख से प्रगट होता है। इन में से बाद में ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओं को प्रधानता प्राप्त हुई।

इसके सिवा स्कन्द, सूर्य इत्यादि की पूजा का प्रचार हुआ। पहिले ही से तत्त्वज्ञान वैदिकधर्म की विशेषता थी। उपनिषदों में ईश्वर, जीव और जगत् के विषयों पर अनेक स्थान पर गम्भीर और उद्बोधक विचार निखरे हुए थे। उनका समन्वय करके वेदान्तसूत्र लिखे गये। इसी तरह योग, न्याय, मीमासा इत्यादि शास्त्रों के मूलभूत सूत्रग्रन्थ इसी काल में लिखे गये। इस सम्पूर्ण वाङ्मय को देखने पर बौद्धधम से टक्कर लेने के लिये वैदिक धर्म ने कैसी तैयारी की थी और राजाश्रय का अवसर मिलते ही उसने उसका कैसे अध पात किया यह ध्यान में आजायगा।

तीसरी शताब्दी के अन्त में उत्तर हिन्दुस्तान में गुप्त, और विदर्भ देश में वाकाटक के राजवश अभ्युदय को प्राप्त होते हुए दीखते हैं। इनमें से पहले घराने के सस्थापक महाराज गुप्त मगध देश के एक सस्थान के राजा थे। पहिली दो पीढ़ियों में गुप्तों का राज्य गगा के किनारे मगध से लेकर अयोध्या तक फैला हुआ था। महाराज गुप्त के नाती प्रथम चन्द्रगुप्त ने वैशाली की लिच्छवी कुलोत्पन्न राजकन्या से विवाह किया। इस विवाह के योग से वैशाली

* Buhler—Nanaghat Cave Inscription, A S, W I Vol IX, pp 60 ff

श्रार मगधराज्य एक छत्र के नीचे श्रा गये श्रौर इस कारण चन्द्र गुप्त की शक्ति बढ़ गई। उसने श्रासपास के छोटे मोटे राज्यों को जीतकर श्रपने राज्य में मिला लिया श्रौर महाराजाधिराज की पदवी धारण की। श्रपना श्रौर लिच्छवी कुल का सम्मान्य संबंध प्रकट करने के लिये उसने श्रपने श्रौर श्रपनी पत्नी के नाम से सोने के सिक्के ढाले। उसने एक नया संवत् भी शुरू किया, जिसका नाम श्रागे चलकर गुप्त संवत् हुश्रा। उसका पुत्र समुद्रगुप्त उस से भी ज्यादा शूर श्रौर महत्त्वाकांक्षी निकला। उसने उत्तर हिंदुस्तान के श्रनेक राजाश्रों को हराकर उनका प्रदेश श्रपने राज्य में जोड़ लिया श्रौर दक्षिण हिंदुस्थान पर भी चढ़ाई कर दी। इस दिग्विजय के श्रनन्तर उसने हरिषेण नाम के श्रपने दर्बारी कवि को श्रपना पराक्रम गद्यपद्य काव्य में वर्णन करने के लिए कहकर वह वर्णन श्रशोक के शिला स्तम्भ पर खुदवाया *। वह स्तम्भ श्रब भी प्रयाग के किले में है यद्यपि उसका लेख थोड़ा खराब हो गया है तो भी उससे उसके दिग्विजय की पूर्ण कल्पना हो सकती है।

समुद्रगुप्त हिन्दूधर्म का कट्टर श्रभिमानी श्रौर श्राश्रयदाता था। उसने दिग्विजय प्राप्त कर श्रश्वमेध यज्ञ किया श्रौर उसके प्रमाणस्वरूप सिक्के जारी किये। पुष्यमित्र शुंग के मरने के बाद लगभग पांच सौ वर्ष तक उत्तर हिंदुस्थान में कुछ श्रपवाद को छोड़कर किसी के भी श्रश्वमेध करने का उल्लेख नहीं पाया जाता। इस कारण उसके वंशजों के लेखों में 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्ता' इस यथार्थ विशेषण से समुद्रगुप्त की प्रशंसा की गई है। उसके श्रश्वमेधकालीन सिक्कों पर उसका नाम 'श्रश्वमेधपराक्रम' लिखा

* See ' Allahabad Stone Pillar Inscription of Samudra gupta'' (G I NO 1)

हुआ मिलता है। समुद्रगुप्त स्वयं बड़ा विद्वान्, रसिक और कलाभिज्ञ था। उसे विद्वानों की संगति बहुत प्रिय थी। उसने स्वयं शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था तथा अपनी कुशाग्र बुद्धि से बृहस्पति को और संगीत के अद्भुत कौशल से तुम्बुरु और नारद को लज्जित कर दिया था। उत्कृष्ट काव्यरचना करने के कारण उसको 'कविराज' की पदवी मिली थी। हरिषेणादि कवियों ने उसके सान्निध्य में काव्यरचना सीखी थी, यह सब प्रयाग के शिलास्तम्भ पर खुदे हुए लेख में पाया गया है।

ई० स० ३७५ के लगभग समुद्रगुप्त की मृत्यु हुई होगी। अनन्तर उसका पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सिंहासन पर बैठा, यही लोग अब तक समझते थे। परन्तु पिछले दस वर्षों में जो खोज* हुई है उस से यह पता लगता है, कि समुद्रगुप्त के बाद उसके पुत्र रामगुप्त को राजगद्दी मिली। पंजाब और काबुल में राज्य करने वाले कुशानों ने समुद्रगुप्त के आगे अपना सिर झुका दिया था परन्तु उसकी मृत्यु के बाद कुशानों ने फिर सिर उठाया और राज्य में अशान्ति उत्पन्न करदी। उनका दमन करने के लिए रामगुप्त ने उन पर चढ़ाई की। उसके साथ उस आक्रमण में उस का भाई चन्द्रगुप्त और रानी ध्रुवस्वामिनी भी थी इस चढ़ाई में उसे अपकीर्ति ही मिली तथा अपनी रानी को शत्रु के अन्तःपुर में भेजदेने की शर्त पर ही उसने अपना और अपने साथियों का छुटकारा पाया। उसका भाई चन्द्रगुप्त बड़ा वीर और स्वकुलाभिमा

---

* इस विषय पर J B O R S Vol XIV p 223 में डा अलते कर का 'एक नवीन गुप्त राजा' लेख तथा Ind Ant Vol L XII pp 201 205 में प्रसिद्ध 'रामगुप्त पर नया प्रकाश' नामक हमारा लेख पढ़िए।

नी था। उसे इस शर्त से बहुल ठेस पहुँची परन्तु उस समय शत्रु के पंजे में होने के कारण उस शर्त को मानने के सिवाय दूसरा चारा न था। तथापि वह बड़ा धैर्यवान् और चालाक था। उस ने स्वयं स्त्री का वेश धारण कर अपने स्त्री वेशधारी सैनिकों के साथ शत्रु शकराज के शिविर में प्रवेश किया और मौका पाकर उसे मार दिया और उसकी सेना को तहसनहस कर डाला। ध्रुवस्वामिनी रानी का अपने पति के प्रति तिरस्कारभाव और अपने देवर चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम भाव उत्पन्न हुआ। आगे चलकर चन्द्रगुप्त अपने भाई को गद्दी से उतार कर आप उस पर बैठा। गुप्तों के घराने में यह प्रथा थी कि पुरुषार्थी तथा कर्मवीर व्यक्ति को ही राज्य सिंहासन मिले। इस से यह मालूम होता है, कि चन्द्रगुप्त के इस कार्य में कुशल और विचारशील मन्त्रियों का प्रबल हाथ रहा होगा। इस के बाद उस ने ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया और उस से कुमारगुप्त तथा गोविन्द गुप्त दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसकी कुबेरनागा नाम की एक दूसरी रानी थी जिस से प्रभावतीगुप्ता नामक कन्या उत्पन्न हुई। राज गद्दी पर बैठते ही चन्द्रगुप्त ने पहले उत्तर में कुशान राजाओं को मार भगाया तथा मालवा और काठियावाड़ में राज्य करने वाले क्षत्रपों पर चढ़ाई की। ये शकवंशीय क्षत्रप कुशानवंशीय राजाओं द्वारा नियुक्त सिंध, काठियावाड़ और मालवा प्रान्तों के सूबेदार थे। उनका इन प्रान्तों पर लगभग सवा तीन सौ वर्ष तक आधिपत्य रहा था और अन्त में जब उत्तर में उनके सम्राट की सत्ता बिलकुल कम होने लगी तब वे लोग बाहर से तो अपने को क्षत्रप अथवा महाक्षत्रप ज़ाहिर करते थे, पर थे वे पूर्ण स्वतन्त्र। ऐसे प्रबल शत्रुओं को परास्त करने के लिए किसी दूसरे बलिष्ठ राजा की

सहायता की आवश्यकता थी। उस समय विदर्भ म वाकाटक राजाओं का उदय हो रहा था। इस घराने के मूलपुरुष विन्ध्यशक्ति का नाम पुराणों में और अजता के एक भग्न लेख में आया है। अजता के लेख में उस को 'द्विज' के नाम से सम्बोधित किया गया है। अत आन्ध्रों की तरह वाकाटकों का भी ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। विन्ध्यशक्ति मगध के महाराज गुप्त का समकालीन होगा। उसके प्रथम पुत्र प्रवरसेन ने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम इत्यादि श्रौत यज्ञ किये थे। आगे चलकर इस वंश में पृथ्वीषेण नाम का महापराक्रमी राजा हुआ जो समुद्रगुप्त का समकालीन था। अजन्ता के लेख में यह वर्णित है कि इसने कुन्तल देश को जीता था तथा उसके सामन्त के दो शिलालेख बुन्देलखंड के अजयगढ़ नामक स्थान में प्राप्त हुये हैं। इससे उसका राज्य महाराष्ट्र, विदर्भ तथा बुन्देलखण्ड के कुछ भूभाग पर फैला हुआ था, यह प्रमाणित होता है। समुद्रगुप्त ने दक्षिण के पूर्वतट के देश जीत लिये थे परन्तु पश्चिम के देशों पर आक्रमण न कर वह बीच ही में वापिस लौट आया था। इससे यह अनुमान निकलता है, उसने जान बूझ कर वाकाटकों से छेड़छाड़ नहीं की। वाकाटक और क्षत्रप राजाओं की राज्यसीमा एक दूसरे से मिली हुई थी, इसलिये उन दोनों में राजनैतिक सिद्धान्त के अनुसार असन्तोष बना रहता होगा। अत चन्द्रगुप्त ने वाकाटकों के साथ मैत्रीसम्बध स्थापित कर क्षत्रपों पर चढ़ाई की और उनका पूरा नाश कर दिया। राजनैतिक कारणों से उत्पन्न हुए इस सबध को दृढ़ करने के लिये उसने अपनी लड़की प्रभावती गुप्ता पृथ्वीषेण के लड़के द्वितीय रुद्रसेन को ब्याह दी। यह घटना ई० स० ३६५ के लगभग घटित हुई होगी। सिक्कों तथा शिला

लेखों से सशोधकों ने यह अनुमान निकाला है* ।

क्षत्रपों का जड़-मूल से उच्छेद कर मालवा और काठियावाड़ इन दो प्रान्तों को चन्द्रगुप्त ने अपने राज्य में मिला लिया। उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया और 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण की। तब से उज्जयिनी के साथ विक्रमादित्य का नाम संलग्न हुआ। इसके बाद कुछ ही वर्षों में उसके जामाता द्वितीय रुद्रसेन की मृत्यु हुई। उस समय द्वितीय रुद्रसेन के दामोदरसेन तथा दिवाकरसेन (प्रवर सेन) नामक दोनों पुत्र अत्यन्त छोटे थे। इसलिये चन्द्रगुप्त ने अपने दरबार के होशियार तथा कार्यपटु अधिकारी विदर्भदेश को भेज कर वहाँ का राजकाज चलाने में अपनी बेटी प्रभावतीगुप्ता की सहायता की। प्रवरसेन के सयाने होने पर विदर्भ की राज धानी उसे मिली। उस के बाद वह राजकाज किस तरह चलाता है यह देखने के लिए चन्द्रगुप्त ने अपनी सभा के प्रधान सभ्य तथा कवि कालिदास को विदर्भ में भेजा। उस समय का सारा वृत्तान्त इस पुस्तक के प्रथम प्रकरण में आचुका है।

इस तरह चन्द्रगुप्त का राज्य सारे उत्तर हिन्दुस्थान में फैला हुआ था। दाक्षिणभारत में महाराष्ट्र तथा विदर्भ का राजकाज उस के आदेश क अनुसार सचालित होता था। उसके विस्तृत साम्राज्य में हिन्दूधम का सर्वत्र प्रसार हो गया था। इस समय से हिन्दू देवताओं के लिये दिये हुए दानों का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। पिछले दिनों प्राप्त हुए मथुरा के एक शिलालेख में एक शैव आचार्य द्वारा शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा करने का उल्लेख आया है। चन्द्रगुप्त के एक माण्डलिक राजा ने उदयगिरि में विष्णु और चण्डी

* V A Smith: The Vakataka Dynasty of Berar in the fourth and fifth Century A C (J R. A S for 1914 p 317)

की मूर्ति बनवायी थी जो अब तक मौजूद है। दूसरे एक शिलालेख में चद्रगुप्त के एक वीरसेन नामक परराष्ट्र मन्त्री ने शिवकी पूजा के लिये एक गुफा तैयार कराई थी उसका उल्लेख है। विदर्भ में प्रभावतीगुप्ता द्वारा रामटेक में कार्तिक शुक्ल द्वादशी को श्री रामचन्द्र के मन्दिर में एक ब्राह्मण को दिया गया ताम्रपत्र प्रसिद्ध है। चन्द्रगुप्त और उसका जामाता दोनों विष्णुभक्त थे, इधर चन्द्रगुप्त का नाती द्वितीय प्रवरसेन शिवोपासक था। इन सब उल्लेखों से चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में हिन्दूधर्मका उत्कर्ष कितना बढा चढ़ा था, यह मालूम हो जाता है।

चन्द्रगुप्त स्वयं महान् विद्वान्, रसिक तथा संस्कृत विद्या का अभिमानी था। *उज्जयिनी की विद्वत्परिषद्* के सामने उसने *कालि*दासादि कवियों की तरह स्वयं परीक्षा दी थी, यह पिछले प्रमाण में हम लिख चुके हैं। उसकी एक सुवर्णमुद्रापर उसे 'रूपकृती' कहा गया है। इस से यह मालूम होता है, कि उस ने रूपक (नाटक) लिखें होंगे। चन्द्रगुप्त ने अपने अन्तःपुर में संस्कृत भाषा के व्यवहार करने का नियम बना दिया था। उसकी सुवर्णमुद्रा पर श्लोकार्ध में तरह तरह के आलंकारिक वर्णन हैं। उस से उसके संस्कृतभाषा के प्रति प्रेम का निदर्शन मिलता है। संस्कृतविद्या को ऐसा प्रोत्साहन देनेवाला राजा जब मिला तभी वह अत्यन्त वैभवसम्पन्न हुई। चन्द्रगुप्त विद्वान् लोगों को राज्य के बड़े बड़े अधिकार पूर्ण पदों पर नियुक्त करता था। उसका परराष्ट्र मन्त्री कौत्सगोत्रीय वीरसेन, शाब, व्याकरण, अर्थशास्त्र और न्यायशास्त्र में पारंगत तथा कवि भी था, ऐसा उस के लेख में पाया जाता है। 'मुद्राराक्षस' नाटक का रचयिता विशाखदत्त भी चन्द्रगुप्त का दरबारी था ऐसा कुछ लोगों का मत है। इस कविके

रचे हुये 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटकके कुछ अवतरण हाल में मिले हैं। उन से उपर्युक्त रामगुप्त का वृत्तान्त मालूम होता है। इसके अतिरिक्त कामन्दक का नीतिसार नामक अर्थशास्त्र का ग्रंथ तथा कुछ पुराण इसी काल में निर्मित हुए। इस काल में स्थापत्य, शिल्प चित्र सम्बन्धी कलाएँ समुन्नत हुईं। गुप्तकालकी इमारतें अद्यापि कहीं कहीं दृष्टिगोचर होती है। उदयगिरि में तथा अन्य स्थलों में शिल्पकला के नमूने तथा अजन्ता की गुफाओं में चित्रकला के थोड़े से चिह्न अवशिष्ट हैं। उस समय इस कला में तत्कालीन कारीगरों ने कितनी प्रवीणता प्राप्त करली थी इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

चन्द्रगुप्त के राज्य में सर्वत्र शान्ति, सुव्यवस्था और सौराज्य का आधिपत्य था, यह तत्कालीन लेखों से प्रमाणित होता है। हिन्दू, बौद्ध जैन इत्यादि भारतीय सर्व धर्मों के अनुयायियों को अपने धर्म के आदेशों के अनुसार रहने की पूरी स्वतन्त्रता थी। समुद्रगुप्त के दिग्विजय से राज्य का विस्तार बढ़ा। अनेक राजा उसको भेट तथा कर देते थे। व्यापार के मार्ग खुल गये और शूरों तथा गुणी जनों को अपने अपने गुण दिखाने का मौका मिला तथा विद्वानों की विद्वत्ता की क़द्र होने लगी। मुद्राशास्त्र का सिद्धान्त है, कि देश के वैभव का प्रतिबिम्ब तत्कालीन प्रचलित सिक्कों से देखा जा सकता है। चन्द्रगुप्त की सुवर्णमुद्रा (मोहर) कई तरह की तथा प्रचुरमात्रा में मिलती है। उस से उसके राज्य में सर्वतोमुखी उन्नति का प्रवाह बह रहा था यह अनुमान किया जा सकता है। फाहियान (चीनी यात्री) ने उत्तर हिन्दुस्तान में सैकड़ों मील की यात्रा की थी पर उसे कहीं भी चोर डाकुओं का भय नहीं हुआ। इस से चन्द्रगुप्त के राज्य की सुव्यवस्था का पता चलता है। सब लोग सुखी

और निश्चिन्त रहकर अपने गुणों की उन्नति करने तथा एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की स्पर्धा में लीन थे। देश में सर्वत्र धर्मार्थ औषधालय और धर्मशालायें बनी हुई थीं तथा उन में अन्नजल और औषधि की मुफ्त वितरण की व्यवस्था थी। राज्य का कारोबार बड़ी दक्षता से चलाया जाता था तथा अपराधियों को बहुत कड़ी सजायें नहीं दी जाती थीं। साराश यह, कि उस समय के लोगों को चन्द्रगुप्त के राज्य में रामराज्य का सुख मिल रहा था

इस गुप्तकालीन परिस्थिति का प्रतिबिम्ब कालिदास के काव्यों में स्पष्ट झलकता है। प्रोफेसर कीथ के कथनानुसार कालिदास के समस्त ग्रन्थों में स्वकालीन परिस्थिति के संबध में जो सन्तोष और शान्ति के चिह्न दिखाइ पड़ते हैं वे गुप्तकालीन परिस्थिति के द्योतक हैं। इसी तरह उस के ग्रन्थों में जो दिग्विजय अश्वमेध आदि का वर्णन आया है उस में ऐतिहासिकों को गुप्तकालीन परिस्थिति स्पष्ट दीखती है। दिलीप ,रघु, राम इत्यादि एक से एक बढ़कर राजर्षियों के चरित्रों को सरस वाणी में वर्णन करते समय कालिदास की आँखों के सामने समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त सदृश शूर, धीर, विद्वान्, प्रतिभासंपन्न रसिक तथा उदार राजाधिराजों के उदाहरण नाचते रहे होंगे। वशिष्ठ के आश्रम की ओर जाते हुये दिलीप को ब्राह्मणों को दान में दिये हुये ग्रामों में यज्ञस्तम्भ दीख पड़े। उस की प्रजा मनुद्वारा निर्धारित मर्यादा से रेखामात्र भी विचलित नहीं होती थी , अपने पास गुरु दक्षिणा के लिये आया हुआ ब्राह्मण विमुख न जाने पावे इस लिए रघु ने कुबेर पर चढ़ाई का निश्चय किया, अतिथि के राज्य में व्यापारियों को नदियाँ अपने घर के कुओं की तरह दीखतीं थीं तथा वे जगलों और पहाड़ों में अपने घर की तरह निःशङ्क होकर फिरते थे, इसी तरह खानों से रत्न , खेतों से उत्कृष्ट अन्नसम्पत्ति , जगलों

तृतीय परिच्छेद

जन्मस्थान की समस्या

Others abide our question Thou art free !
We ask and ask—Thou smilest and art still,
Outtopping knowledge *

Matthew Arnold

'अन्य कवि हमारे प्रश्नों का उत्तर देते हैं किन्तु तुम उनसे परे हो। हम बार बार पूछते हैं तो भी हमारी ज्ञान की परिधि से बाहर रहकर तुम मुस्करा भर देते हो।'

कालिदास के जीवनकाल के सम्बन्ध में विविध मतों का परीक्षण कर हमने प्रथम परिच्छेद में यह बात सिद्ध की है कि वे उज्जयिनी के द्वितीय चन्द्रगुप्त—विक्रमादित्य के शासनकाल में हुए। इससे यह भी स्पष्ट है कि उनके जीवन का उत्तरकाल उज्जयिनी में ही बीता। इस सम्बन्ध में सब एकमत हैं। फिर भी उनका मूल स्थान कहाँ पर है, उनकी जन्मभूमि किस प्रान्त में है, स्वभाव ही से सस्कारक्षम उनके हृदय पर सब से पहले किस प्रदेश की प्रकृति तथा लोकरीति की प्रतिमा अङ्कित हुई थी, इन बातों के सम्बन्ध में

---

* अंग्रेज़ी के महाकवि शेक्सपीयर के सम्बन्ध में कही गई यह उक्ति कविकुलगुरु कालिदास के भी विषय में अक्षरशः लागू होती है।

संशोधकों ने भिन्न भिन्न मत प्रगट किये हैं। अब हम संक्षेप में उनपर विचार करेंगे—

यहाँ हमें सब से पहले अपने भावुकताप्रधान बङ्गाली भाइयों के मत का समीक्षण करना है। उनका साभिमान कथन है कि सारे भारत के ललामभूत इस महाकवि का जन्म हमारे ही प्रान्त में हुआ था। कलकत्ते में इन लोगों ने एक 'कालिदास संशोधन समिति' क़ायम कर रखी है, जिस के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष की आषाढ़ प्रतिपदा को प्रबन्ध वाचन, व्याख्यान, गायन, वादन, आदि कार्यक्रम के द्वारा 'कालिदास-उत्सव' मनाया करते हैं। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि मुर्शिदाबाद के 'गङ्गा सिंगरू' नामक गाँव में कालिदास का जन्म हुआ था। उक्त स्थान पर उनका एक स्मृति चिन्ह स्थापित करने की चेष्टा भी वे कर रहे हैं। वहाँ पर एक 'कालिदास जन्मपीठोत्सव कमेटी' स्थापित हुई है, जिसकी ओर से एक 'कालिदास पाठशाला' भी चल रही है, और प्रतिवर्ष सरस्वती पूजन के अवसर पर वहाँ साहित्य सम्मेलन तथा अन्य मनोरंजक कार्यक्रम भी सम्पन्न किये जाते हैं। सरकारी सहायता से उन लोगों ने वहाँ पर एक तालाब खुदवाकर उसे 'कालिदास-सागर' नाम दे रक्खा है। कालिदास की तीन पत्नियाँ थीं, जिन के साथ वह विभिन्न स्थानों में रहते थे, विद्युन्माला नामक अपनी पत्नी के साथ उन्हों ने 'ब्रह्मानीतला' नामक गाँव में कुछ दिन तक वास किया था, 'श्रीपाट दोगाछिया' नामक गाँव में उन्हों ने अपनी दूसरी शादी कर अपने पुत्र का भी विवाह किया। इस प्रकार की कई दन्तकथायें* अब भी बङ्गाल में प्रचलित हैं। हम पहले कह चुके हैं कि दन्तकथाओं का प्रमाण

* उक्त विवरण कालिदाससमिति के 'कालिदास जन्मपीठसभार अनुष्ठानपत्र' नामक बंगला पुस्तिका से लिया गया है।

पूर्णरूप से विश्वसनीय नहीं होता। अत अब हमारे लिये यह आवश्यक है कि कालिदास बङ्गाली थे, इस बात को प्रमाणित करने के लिये बङ्गाली सशोधक जिन प्रमाणों को पेश करते है, उन पर कुछ विचार किया जाय।

(१) कवि के कालिदास नाम ही से प्रमाणित होता है कि वे बगाली थे। प्राय सब प्रान्तों के प्राचीन परम्परा के पण्डित इस आख्यायिका को जानते हैं कि कालिदास पहले बिलकुल अनपढ़ थे, किन्तु बाद में उनकी तपस्या के कारण काली देवी उन पर प्रसन्न हुई, और उनकी कृपा से वे विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न कवि हुए। काली देवी का पूजन बगाल में ही सर्वत्र होता है और अबतक बगाल में कई लोग कालिदास नाम भी धारण करते हैं। इस बात से प्रमाणित होता है कि कालिदास का जन्मस्थान बगाल ही था।

इस प्रमाण में विशेष तथ्य दिखाई नहीं देता। हम आगे चलकर दिखायेंगे कि कालिदास अचानक किसी देवी की कृपा से उच्च श्रेणी के कवि बन गये इस प्रकार की परम्परागत लौकिक आख्यायिका कितनी निराधार है। इसके अलावा यह भी दिखाई नहीं देता कि कालिदास कालीदेवी के बड़े भक्त थे। उनके ग्रथों के प्रारम्भ में कहीं भी कालीदेवी की स्तुति नहीं पायी जाती। कालिदास रचित जो 'ऋतुसहार' आदि सात सर्वमान्य ग्रथ हैं उन में कालीदेवी का वर्णन केवल एक ही श्लोक में (कुमार० ७ । ३९) और वह भी उस समय, जब भगवान् शकर विवाह के लिये हिमालय के घर जा रहे थे कालीदेवी उनके अनुचरपरिवार* में थी, आया है।

* कुमारसम्भव के ८, ४९ श्लोक में भी यह वर्णन पाया जाता है कि 'पार्वती जी का मनोरञ्जन करने के लिये काली ने विकट नृत्य किया था।' लेकिन सशोधकों की राय में वह और उसके आगे के सर्ग

इससे यह बात स्पष्ट है कि कालीदेवी की भक्ति के कारण कवि ने यह नामधारण नहीं किया किन्तु उनके माता पिता ने यह नाम रक्खा था। उज्जयिनी में अब भी काली का मन्दिर दिखाई देता है। मध्यभारत में काली चामुण्डा आदि जैसी देवियों का पूजन कालिदास के बाद भी एक दो शताब्दियों तक प्रचलित था, इस बात का प्रमाण आठवीं शताब्दी में लिखे गये भवभूति के "मालती माधव" में पाया जा सकता है। उसमें एक दृश्य है कि कुछ कापालिक चामुण्डी देवी को बलि चढ़ाने के लिये मालती को पद्मावती के (वर्तमान नरवार के) स्मशान में ले गये हैं। अत स्पष्ट है कि कालिदास के माँ बाप कालीदेवी के उपासक थे। इस लिये उन्होंने कवि का नाम कालिदास रक्खा।* लेकिन कवि सौम्य प्रकृति के होने के कारण काली के नहीं किन्तु शिवजी के ही भक्त बने। हिन्दूधर्म की उस उत्क्रमणावस्था के समय में यदि माता पिता किसी एक देवता के उपासक होते थे तो उनके लड़के किसी अन्य देवता के उपासक हो जाते थे। यह बात तत्कालीन इतिहास से प्रतीत होती है। द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावतीगुप्ता तथा जामाता द्वितीय रुद्रसेन विष्णु भगवान् के उपासक थे, लेकिन उसका पुत्र द्वितीय प्रवरसेन शिवभक्त था। इस उदाहरण से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

(२) कालिदास ने मेघदूत में लिखा है कि यक्ष ने मेघ को

कालिदास के नहीं हैं। इस सम्बन्ध में हमने आगे चल कर पाँचवें परिच्छेद में विवेचन किया है।

* इसी वर्ष (१६३६) मध्यप्रान्त में वाकाटक नृपति द्वितीय प्रवरसेन का एक ताम्रपट मिला है। उसके लेखक का नाम 'कालिदास' ही है। किन्तु वह 'कविकुलगुरु कालिदास' नहीं हो सकता।

रामगिरि पर 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' अर्थात् आषाढ मास के पहले दिन देखा था। बङ्गाल में सौर मास की गणना प्रचलित है। इससे यहाँ पर चैत्र, वैशाख आदि महीनों के दिन अंग्रेज़ी महीनों की दिनगणना के अनुसार उनतीस से लेकर इकत्तीस तक गिने जाते हैं। वहाँ पर चान्द्रमास के निदर्शक शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष नाम प्रचलित नहीं हैं और न उसके अनुसार महीने के दो पक्ष ही माने जाते हैं। कालिदास बङ्गाली थे, इसी से उन्हों ने 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' ऐसा लिखा है। आदमी चाहे जहाँ रहे, उसके पूर्वसंस्कार लुप्त नहीं होते। इसी न्याय से कार्यवश वे चाहें भले ही मालवा या विदर्भ में रहे हों, लेकिन वह अपनी बङ्गाली दिन गणना को नहीं भूले। वह स्वयं एक अच्छे ज्योतिषी थे। ज्योतिषशास्त्र के सम्बन्ध में उन्होंने 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक एक सर्वमान्य ग्रन्थ भी लिखा है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक के कालखण्ड को दिवस और चन्द्र सूर्य के भ्रमण की भिन्न गति के कारण उन में जितने समय में १२ अंशों का अन्तर पड़ जाता है, उसे तिथि कहते हैं, यह साधारण बात भी उन्हें मालूम न होगी। अतः पक्ष और तिथि का उल्लेख न करके उन्होंने दिवस शब्द का प्रयोग किया है, इससे उनका बङ्गदेशीयत्व सिद्ध होता है।

उक्त प्रमाण भी परीक्षण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। कालिदास को 'आषाढ महीने के प्रारम्भ में' इतना ही अर्थ अभिप्रेत था, इसी लिये उन्होंने 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' ऐसा प्रयोग किया है। किसी काव्य में 'शुक्लपक्षे प्रतिपत्तिथौ' इस प्रकार के प्रयोग की अपेक्षा करना उचित न होगा। दूसरी बात यह भी है कि कालगणना के सम्बन्ध में भारत के विभिन्न प्रान्तों में

आज जो विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हैं, वह कालिदास के समय में भी थीं, इस बात को भी पहले प्रमाणित करना होगा। इस विषय में खुदे शिलालेखों का प्रमाण विशेष विश्वसनीय माना जा सकता है। ईसवी सन् के पूर्व की तथा बाद की एक दो शताब्दियों में महाराष्ट्र में सातवाहनों और क्षत्रपों के तथा मथुरा में क्षत्रपों और कुशानवशीय कनिष्कादि राजाओं के लिखे शिलालेखों में कुछ तिथियाँ पाई जाती हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उस जमाने में वर्ष में ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त यह तीन ऋतुएँ मानी जाती थीं। दक्षिण* में इन ऋतुओं के आठ पखवाड़े और एक पखवाड़े के १५ दिन और उत्तर× में एक ऋतु के चार महीने और महीने के तीस दिन गिने जाते थे। काठियावाड़ और मालवा में उस समय चैत्र वैशाख आदि नाम विशेष प्रचलित नहीं थे। काठियावाड़ और मालवा में शक क्षत्रपों के आश्रय ही के कारण ज्योतिर्विद्या के अभ्यास को उत्तेजना मिली और चैत्रादि मास कृष्ण पक्ष और तिथि इत्यादि का प्रारम्भ भारत में वर्तमान प्रचलित कालगणना के अनुसार हुआ। यह कालगणना क्षत्रपों के बिलकुल प्रारंभिक लेखों में भी पायी जाती है। आगे चलकर धीरे धीरे अन्य प्रान्तों में भी उसका प्रचार हुआ। लेकिन यह कहना ठीक

---

* नासिक की गुफाओं में वाशिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमायी नामक सातवाहन राजा के लेख में खुदा हुआ यह कालनिर्देश देखिये,—'रञोवासिठि पुतस सिरि पुलुमयिस सवछरे छठे ६ गिम्ह पखे पचमे ५ दिवसे' (Ep Ind Vol VIII p 59)

× कनिष्क के शासनकाल में सारनाथ में बौद्धछत्रस्तम्भ पर खुदे हुए इस कालनिर्देश को देखिये—'महारजस्य कणिष्कस्य स ३ हे ३ दि २२ एतये पुर्वये'।

नहीं कि कालिदास के समय म अर्थात् इ० स० की चौथी पाँचवी शताब्दी में मालवा या विदर्भ में पक्ष और तिथि इन्हीं शब्दों का उपयोग साधारण रीति से किया जाता था। उदाहरण के लिये द्वितीय चन्द्रगुप्त के सेनापति आम्रकार्द्दव के साँची में खुदे हुए एक लेख के अन्त में 'स० ९३ भाद्रपद दि ४' तथा कुमारगुप्त के शासनकाल में खुदी हुई मानकुमार नामक स्थान की एक मूर्ति पर 'सवत् १२९ ज्येष्ठ मास दि १८' इस प्रकार कालनिर्देश किया है। कालिदास के मेघदूत में भी काल का उल्लेख ठीक इसी प्रकार से किया गया है। द्वितीय प्रवरसेन के दुदिया नामक गाँव के ताम्रपत्र में 'सवत्सर २३ वर्षापक्ष ४ दिवस १०' इस प्रकार का उल्लेख है। इस से स्पष्ट है कि उस समय भी प्राचीन पद्धति का प्रचार पूर्णत नष्ट नहीं हुआ था। कुछ लेखों म तो शुक्ल या कृष्ण पक्ष का निर्देश होते हुए भी 'दिन' शब्द का प्रयोग किया गया है, तिथि* का नहीं। इसी से यह बात साफ दिखाई देती है कि दिन और तिथि सम्बन्धी जिस सूक्ष्म भेद को बङ्गाली सशोधक विशेष रूप से पेश करते हैं, उसे उस समय स्वीकृति नहीं मिली थी। अत 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' इस वचन से कवि के बङ्गाली होने के सबध में अनुमान करना उचित नहीं दिखाई देता।

कालिदास के ग्रन्थों को निष्पक्ष होकर पढ़ने पर उन में एक भी ऐसा निश्चित प्रमाण नहीं मिलता, जिससे यह माना जासके कि वे बङ्गाली थे। किसी भी कवि को ले लीजिये प्राय उसके सम्बन्ध में आपको यही मिलेगा कि उसका जन्म जिस स्थान में हुआ है, बचपन से जहाँ वह खेला कूदा है, उस स्थान के सस्कार उसके हृदय पर अवश्य प्रतिबिम्बित होंगे, उस स्थान से उसका विशेष प्रेम

* विश्ववमन् का शाङ्गधर का शिलालेख (G I No 17)

होगा और उस के ग्रन्थ में उस स्थान का उल्लेख बारबार मिलेगा। लेकिन कालिदास के ग्रन्थों में बङ्गाल के सम्बन्ध में इस तरह का उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता। अतः यह कहना कि कालिदास बङ्गाली थे, भ्रम है।

अब हम 'कालिदास का जन्म काश्मीर में हुआ था' इस कथन की विवेचना करना चाहते हैं। दिल्ली यूनिवार्सिटी के संस्कृत के के प्रोफेसर महामहोपाध्याय प० लक्ष्मीधर कल्ला ने यह मत प्रकट किया है और उन्होंने एक पृथक् पुस्तक* लिखकर कई प्रमाणों के साथ उसे पुष्ट करने की चेष्टा की है। उक्त पुस्तक में दिये गये सब प्रमाणों के संबंध में यहाँ पर विस्तृत रूप से विचार करना असम्भव है। फिर भी संक्षेप में उनकी युक्तियों का सारांश देकर हम उनपर विचार करेंगे।

"कालिदास के ग्रन्थों में हिमालय का वर्णन विस्तृत तथा बहुत सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है, इस बात को सब लोग जानते हैं। 'कुमारसम्भव' में तो हिमालय ही के वर्णन से काव्य का प्रारम्भ हुआ है। 'मेघदूत' में वर्णित यक्ष की निवासभूमि अलका नगरी हिमालय पर ही थी। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवस् तथा उर्वशी की पहली मुलाकात काश्मीर के समीप गन्धमादन पहाड़ पर ही हुई थी और आगे चलकर उर्वशी के वियोग के बाद राजा उसी पहाड़ पर भटकने लगा था। 'रघुवंश' के पहले सर्ग में राजा दिलीप वशिष्ठाश्रम को जाते हैं, वह भी हिमालय ही पर था। 'शाकुन्तल' में दिखाये गये कण्व तथा मारीच ऋषि के आश्रम भी कवि ने इसी पर्वतश्रेष्ठ पर बताये हैं। इन सारी बातों से कवि का हिमालय के

* Lachhmidhar Kalla *The Birth place of Kalidasa* (1926)

प्रति कितना अधिक प्रेम था, यह दिखाइ देता है। यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि उक्त सभी स्थान काश्मीर म सिन्धु नदी की घाटी में थे। उदाहरण के लिये देखिये वशिष्ठाश्रम के पास गङ्गाप्रपात था। उसे जगह राजा दिलीप वशिष्ठ की जिस धेनु की रक्षा करते थे, उस पर एक सिंह झपटा। कालिदास ने सिंह को 'भूतेश्वरपार्श्ववर्ती' कहा है। काश्मीर में सुविख्यात भूतेश्वर तीर्थ उस प्रदेश ही में बसा है। सिन्धु तथा मालिनी नामक नदिया, शचीतीर्थ, सोमतीर्थ तथा ब्रह्मसर आदि तीर्थ तथा शक्र घाट आदि स्थान भी काश्मीर में ही है। कथासूत्र की सुविधा के लिये यद्यपि कवि ने वर्णन किया है कि पूर्वपरिचित होने ही के कारण उक्त स्थानों के नाम कालिदास को सूझे होंगे। 'रघुवश' में (२। ३५) वशिष्ठ की धेनु पर झपटने वाला सिंह अपने को निकुम्भ का मित्र बतलाता है। यह निकुम्भ कौन था, इसका ज्ञान आलोचकों को नहीं हुआ है। लेकिन काश्मीर के 'नीलमत पुराण' में इस सबध में एक कथा है। वह यह है, कि कुबेर ने दुष्ट पिशाचों के साथ युद्ध कर उन्हें काश्मीर से निकालने के लिये निकुम्भ को नियुक्त किया। इससे मालूम होता है कि कालिदास को काश्मीर की पुरानी-कथाओं का ज्ञान था। उनके कार्यों में काश्मीर के कुछ खास रीति-रिवाजों का प्रतिबिम्ब झलकता है। विवाह के समय काश्मीर में सास या कोई दूसरी सौभाग्यवती नारी वर के गले में माला पहनाती है। यह बात उस देश की विवाह प्रथा से मालूम होती है। 'रघुवश' के छठे सर्ग में जहा इन्दुमती का स्वयवर आया है, इन्दुमती ने स्वय अपने हाथों अज के कण्ठ में पुष्पहार नहीं डाला बल्कि अपनी सखी सुनदा के हाथों से जो उस की धाय थी, डलवाया। काश्मीर मे

धीवर (मछुआ) जाति को उनकी निन्द्य वृत्ति (मछलीमारना) के कारण बहिष्कृत मानते हैं। इस बात का उल्लेख 'इश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी' नाम की एक टीका में आया है। 'शाकुन्तल' में भी शकुन्तला की अँगुठी एक धीवर को मिलती है। नगररक्षक सिपाही उसे गिरफ्तार करते हैं। उनमें से एक सिपाही धीवर के धधे की ओर लक्ष्य करके 'विशुद्ध इदानीमाजीव' (बड़ा पवित्र यह धधा है) कहता है और उस पर धीवर बोल उठता है कि यह तो हमारा कुलधर्म है, अत निन्द्य नहीं। इस 'प्रवेशक' में भी उपयुक्त काश्मीर प्रथा प्रतिबिम्बित हुई है। कालिदास काश्मीरी शैव मत के अनुयायी अर्थात् 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के मानने वाले थे। इस दर्शन में शिव ही सर्वव्यापी एक तत्त्व माना गया है। सृष्टि का निर्माण उसके शिव और शक्ति नामक दो रूपों से होता है। शक्ति की सहायता से ही शिव इस चराचर जगत् की सृष्टि करते हैं और स्वय शक्ति का आवरण लेकर प्राण या आत्मा बन जाते हैं। आगे सद्गुरु के उपदेश से या आध्यात्मिक दर्शन के अभ्यास से अथवा किसी अन्य कारण से जब आत्मा का 'आवरण' नष्ट हो जाता है तब वह अपने पूर्व स्वरूप को पहचानता है। उसके उपरान्त वह परमानन्द में लीन हो जाता है। इस 'तत्त्वज्ञान' में एक प्रकार से नियति (अदृष्टशक्ति) के कारण आत्मा को अपने सत् स्वरूप का विस्मरण हो जाता है। उसके बाद कई कारणों से जब उसका वह पर्दा आवरण—उठ जाता है तब उसे अपने स्वरूप का बोध होता है। यही कल्पना मुख्य है और यही कालिदास के सभी नाटकों में दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ—'मालविकाग्निमित्र' नाटक में सिद्ध के आदेश से मालविका को एक वर्ष तक अज्ञातवास में रहना पड़ता है। आगे चलकर जब उसकी दासिया विदिशा में

आती हैं तब वह 'विदर्भराजकन्या' कह कर पहचानी जाती है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी कुमारवन में जाती है। वहाँ पहुचते ही वह कार्तिकेय के शाप से लता हो जाती है। आगे चल कर राना को सगमनीय 'मणि' मिलती है और उससे वह फिर अपना पूर्व का उर्वशीरूप धारण करती है। शाकुन्तल में दुर्वासा के भयकर शाप के कारण दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जाता है। परन्तु अँगूठी को देखते ही उसे अपनी पूर्वस्मृति होती है। इन सब कथानकों से यह मालूम होता है कि 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' ने कालिदास के सभी नाटकों पर अपना प्रभाव डाला है। कवि ने 'शाकुन्तल' नाटक के भरत-वाक्य में शकर के लिये 'परिगतशक्ति' का विशेषण प्रयुक्त किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास काश्मीरी थे। 'मेघदूत' म अलका—कुबेरनगरी—म रहने वाले यक्ष के निवासस्थान का वर्णन है। यद्यपि उस वर्णन म भाति भाति की कल्पनाएँ हैं तथापि उसमे जन्मस्थान का वर्णन प्रधानता से दिखाई पड़ता है। कवि कहता है कि अलकापुरी कैलाश पर्वत पर है। यह कैलाश काश्मीर का 'हरमुकुट' नामक पर्वत है। कहते हैं कि इस पर शकर का वास है। शिवजी प्रयाग से हरमुकुट पर्वत तक जिस मार्ग से गये उस मार्ग का वर्णन 'नीलमत' नामक पुराण में है। उस पुराण म लिखा है कि उन्हें नैमिषारण्य, गगाद्वार कुरुक्षेत्र 'विष्णुपद' 'हसद्वार' और उत्तर मानसतीर्थ आदि स्थानों से हो कर जाना पड़ा। कालिदास ने इनमें से अनेक स्थानों का वर्णन यक्ष के मुख से कराया है। इससे इस बात में सन्देह नहीं कि कवि मेघ को 'हरमुकुट' पर्वत पर भेजना चाहता था। अलका में रहने वाले यक्ष के घर का जो वर्णन है वह हरमुकुट पर्वत की उपत्यका (तलेटी) में बसे हुये प्राचीन 'मयग्राम' और आधुनिक 'मणि

ग्राम' पर अक्षरशः घटता है। उसके समीप की चोटी से उस ग्राम का सम्पूर्ण दृश्य दिखाइ देता है। उस चोटी के नीचे पत्थरों से बँधा हुआ एक सुन्दर सरोवर है। वहा के निवासी उसे अति पवित्र मानते हैं। यही यक्ष के घर के पास ही बावली रही होगी। गाव के पास ही कुछ दूर पर बड़ी बड़ी शिलाओं का ढेर लगा हुआ है। वही 'मेघदूत' में वर्णित कुबेर का प्रसाद होगा। यहा से कुछ दूर नीचे की तरफ़ वशिष्ठाश्रम और भूतेश का पवित्र देवालय है। 'मयग्राम' नाम से उस काल वहां यक्षों का निवास होगा, ऐसा मालूम होता है। ११ वीं शताब्दी तक यह 'मयग्राम' इतिहास में प्रसिद्ध था। विविध प्रकार के पुष्पों, नृत्यगीतों और सुरापान आदि बातों का वर्णन जो 'मेघदूत' में आया है वह काश्मीर पर ही घटता है। क्योंकि काश्मीर का ऐसा ही वर्णन कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' और बिल्हण के 'विक्रमाङ्कदेवचरित' आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। इसीलिये अपने काल में उन्नति के शिखर पहुँचे हुए 'मयग्राम' का अर्थात् अपनी जन्मभूमि का वर्णन कालिदास ने दिया है।

ईसा की छठी शताब्दी में हूण लोगों ने काश्मीर पर चढ़ाइ की। उस समय कालिदास को अपनी पत्नी और जन्मभूमि का त्याग करना पड़ा और अन्य काश्मीरी पण्डितों की तरह किसी राजा के आश्रय के लिये इधर उधर भटकना पड़ा। 'ऋतुसहार' में विन्ध्याचल के समीपवर्ती प्रदेशों की गर्मी कवि को अत्यन्त त्रासदायक मालूम पड़ी। अत उसे अपनी प्रिया की बारबार याद आती थी यह उस के वर्णनों से झलकता है। यक्ष की विरहदशा का वर्णन करने के बहाने कालिदास ने अपने ही वियोगदुःख का वर्णन कर डाला है यह बात ऊपर आ चुकी है। यक्ष का वास

स्थान ही कवि की ज मभूमि है और वह काश्मीर में है । इसलिये कहा जा सकता है कि कालिदास काश्मीरी थे।"

प्रोफ़ेसर लक्ष्मीधर कल्ला ने अनेक प्रमाणों से अपना मत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर तु उनका अभीष्ट सफल नहीं हुआ। प्रोफेसर कल्ला के उपयुक्त मत पर अनेक आक्षेप किये जा सकते हैं। पहली वात तो यह है कि 'कालिदास' नाम काश्मीरी नहीं है। भामह, रुद्रट, कयट, जैयट, मम्मट, कल्हण आदि काश्मीरी पण्डितों के नाम 'रसतराङ्गिणी' में और अ य ग्र थों में हमें मिले हैं। कालिदास का नाम उस नाममाला में दिखाइ नहीं देता। दूसरी बात यह है कि यदि कालिदास काश्मीर के होते तो कल्हण जैसा सावधान और जिज्ञासु इतिहासकार कालिदास के काश्मीरी होने का वर्णन 'राजतरङ्गिणी' म किये विना न रहता। इस ग्र थ में बिल्हण के जीवनक्रम का जो वर्णन है, उससे भी उपर्युक्त वात सिद्ध होती है। इस के अतिरिक्त कालिदास का भौगोलिक ज्ञान अत्यन्त वास्तविक था यह भी उनके ग्र थों से सिद्ध होता है। भारतवर्ष का ही नहीं, बाहर के कई प्रदेशों का वर्णन जो 'रघुवश' आदि काव्यों में आया है उसमें कहीं भी भौगोलिक भूल नहीं दिखाइ देती। किन्तु प्रत्येक स्थान की विशेषता का बहुत ही थोड़े किन्तु भाव पूर्ण शब्दों में अङ्कित करने में कालिदास की शैली अत्यन्त प्रश सनीय है। यह कवि काश्मीर के अप्सरस्तीर्थ शचीतीर्थ, शक्रावतार आदि स्थलों को केवल कथानक की आवश्यकता के कारण जब रदस्ती हस्तिनापुर के आस पास लाकर रक्खेगा इस तरह की कल्पना सगत प्रतीत नहीं होती। इनमें से कई स्थलों का निर्देश अ य ग्र थों में आया है। उससे यह नहीं कह सकते, कि ये स्थल काश्मीर ही में थे। उदाहरणार्थ, महाभारत से ज्ञात होता है

कि कण्व का आश्रम मालिनी नदी पर था। कालिदास ने भी वैसा ही वर्णन किया है। कैलाश, अलका मन्दाकिनी आदि के वर्णन में जो भौगोलिक कल्पनाएँ दूसरे ग्रन्थों में पायी जाती हैं, वही कालिदासकृत ग्रन्थों में दिखाई पड़नी चाहिये। साधारण तौर पर यह कोई नहीं मानता कि ये स्थल काश्मीर में हैं। कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित, नदी, तीर्थ, आश्रम आदि 'नीलमतपुराण' के काश्मीर वर्णन में आये हैं। किन्तु इस पुराण का निर्माणकाल इतना प्राचीन नहीं है कि चौथी या पाँचवीं शताब्दी हो। बल्कि यह प्रतीत होता है कि पद्मपुराण की तरह इस पुराण में भी व्यक्ति और स्थलों के नामों का उल्लेख कालिदास के ग्रन्थों के आधार पर किया गया है।

काश्मीर के खास खास रीति रिवाजों के सम्बन्ध में जो उदाहरण प्रो० कल्ला ने दिये हैं, वे भी इस बात के निर्णायक नहीं हैं। 'शाकुन्तल' में ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नहीं है कि समाज ने धीवर को बहिष्कृत कर रक्खा था। कालिदास के समय में लोगों के दिलों पर बौद्धधर्म का इतना असर हो गया था कि धीवर का धंधा (मछली मारना) भी जीव हिंसा के कारण निन्द्य माना जाता था। इस कारण कवि ने स्वकालीन लोगों को लक्ष्य करके 'शाकुन्तल' के उस प्रवेशक में कहा है कि स्वजातिप्राप्त कर्म करने में कोई पाप नहीं है। अतः नगररक्षक की उक्ति में केवल काश्मीर में प्रचलित विचार के निर्देश की कल्पना उचित नहीं प्रतीत होती है।

कालिदास के तत्त्वज्ञान का विचार करते समय कि क्या वे काश्मीरी शैवमत के अनुयायी थे, इस प्रश्न का हम विमर्श करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह मत श्रीशङ्कराचार्य के 'केवलाद्वैत' से मिलता जुलता है। अतः उनके पीछे उस मत का

काश्मीर में प्रचार हुआ होगा। इस के सिवा कालिदास के ग्र थों म इसका कहीं भी स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता। उनके नाटक में शाप से कुछ काल तक के लिये प्रेमी युगल का वियोग होता है और फिर सम्मिलन हो जाता है। यह विषय-कल्पना प्रसूत है इसमें स देह नहीं, पर तु इस युक्ति का कोई आधार नहीं है कि यह कल्पना उ हें 'प्रत्यभिज्ञादशन' से सूझी। क्योंकि यह 'दर्शन' कहीं भी नहीं कहता कि वियोग जैसा शापमूलक होता है, वैसे ही जीवा की विस्मृति भी शापमूलक होती है। 'शाकु तल' में भरतवाक्य के 'परिगतशक्ति' इस विशेषण का अर्थ 'पार्वतीसहित' होता है। इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि कवि 'प्रत्यभिज्ञादशन' का अनुयायी तथा काश्मीरी था।

यह सच है कि कोइ कवि किसी घटना का अनुभव स्वय किये बिना उसका चित्र अपनी कलम से अच्छी तरह चित्रित नहीं कर सकता। लेकिन इससे कालिदास का घर अलकापुरी में था, उनके घर की बावली में स्फटिक शिला की बनी हुई सीढियाँ थीं और उनमें सुवर्णकमल खिले रहते थे, जिन की डण्डियाँ वैडूर्यमणि की थीं ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता। उत्तरमेघ में कवि ने अपनी कल्पना को स्वच्छन्द बनाकर अलकानगरी के ऐश्वय, सौन्दर्य और सुखोपभोग का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन किया है। उसमें वास्तविकता का रूप देखना ठीक नहीं जँचता। दूसरी बात यह है कि इसवी सन् की चौथी शताब्दी में कालिदास सदृश कवि के उत्पन्न होने योग्य परिस्थिति काश्मीर में थी यह भी निश्चित नहीं है। इन सब कारणों से कालिदास का काश्मीरी होना प्रमाणित नहीं होता।

कालिदास ने भारतवष के अनेक प्रान्तों का हूबहू वणन अपने

ग्र थों में किया है। इस कारण हर एक प्रान्त उनको अपना ही समझता है। उदाहरण के लिये उनके कई ग्र थों में विदर्भदेश का वर्णन आया है, उनके 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में विदर्भ की राजकन्या की प्रेम कथा का सविधानक है। 'मेघदूत' का रामगिरि वर्तमान रामटेक नागपुर के पास है। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'रघुवश' में भी विदर्भ राजकन्या इन्दुमती का स्वयवर और उसकी अकालमृत्यु के बाद अज का असीम करुण क्रन्दन जिन सर्गों में वर्णित है वे षष्ठ और अष्टम सर्ग बहुत उत्कृष्ट माने जाते हैं। पाँचवें सर्ग में 'ऋद्धा विदर्भाधिपराजधानीम्' (५, ४०) 'सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्' (५, ६०) इत्यादि कालिदास की उक्तिया विदर्भ की तत्कालीन सुखसम्पदा और सुराज्य पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। उन्होंने अपने समस्त ग्र थों में काव्य की वैदर्भी रीति का सुन्दर और सर्वोत्कृष्ट निर्वाह कर उस रीति को विद्वन्मान्य बना दिया है। इस से कालिदास को विदर्भदेशीय कहा जा सकता है और एक सशोधक* ने कालिदास को वैदर्भ सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। तथापि कवि ने विदर्भ के किसी भागका विशेष वर्णन नहीं किया है। वह सर्वप्रथम विदर्भ की राजसभा में आये उस समय वहा के अधिकारियों ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया, इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इससे उनका किसी दूसरे ही प्रान्त से वहा आना सिद्ध होता है। अत विदर्भ को उनकी जन्मभूमि का गौरवप्रदान करना ठीक नहीं जँचता।

स्वर्गीय म० म० हरप्रसादशास्त्री और प्रो० शि० म० परांजपे

* F G Peterson A Note on Kalidasa, J R A S 1926 p 726

ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि कालिदास ने 'मेघदूत' में विदिशा का जो वर्णन किया है, उस में 'विदिशा' के आस पास के ही कुछ स्थलों का उल्लेख है। इन में 'नीचैर्गिरि' नामक पर्वत है और वननदी, निर्विन्ध्या, सिन्धु, गन्धवती और गम्भीरा नामक पाच नदिया सम्मिलित हैं। यह 'नीचैर्गिरि' अपने नामानुसार छोटा पर्वत होगा और उक्त पाच नदिया तो अप्रसिद्ध ही हैं। इन में से कुछ नक्शे में (Map) या पुरातन वर्णनों में मिलती है और कुछ का कालिदास ने वर्णन किया है। इसलिये वे उज्जयिनी और विदिशा के इर्द गिर्द कहीं न कहीं होंगी, ऐसा मानना पड़ता है (साहित्य संग्रह भा० १ पृ० १६)। उनके वर्णन से प्रतीत होता है कि इस पर्वत और इन नदियों से कालिदास का अत्यन्त प्रेम रहा होगा। अत प्रो० पराजपे ने कालिदास को विदिशा का निवासी और म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने मन्दसोर में यशोधर्मदेव का आश्रित सिद्ध किया है। पर यह युक्ति ठीक नहीं मालूम होती। यह ठीक है, कि कालिदास ने विदिशा और उज्जयिनी के मध्य में बहनेवाली छोटी छोटी नदियों का वर्णन किया है, फिर भी उन्हों ने विदिशा का वर्णन दो–तीन श्लोकों में समाप्त कर डाला है। हम अपने पहले प्रकरण में दिखला चुके हैं कि वे यशोधर्मदेव से सौ सवासौ वर्ष पहले हुये थे। कालिदास के समय में किसी प्रबल राजा की सत्ता थी, यह भी कहीं दिखाई नहीं देता। यद्यपि उन्होंने अन्यान्य स्थलों की अपेक्षा मन्दसोर और विदिशा का वर्णन अधिक किया है फिर भी उस में मातृभूमि के प्रेम की उत्कटता नहीं है। परन्तु विदिशा के अनन्तर जिस नगरी का मार्ग कवि ने यक्ष के द्वारा बतलाया है उससे वे उज्जयिनी के वर्णन में नख–शिख तक तल्लीन दिखाई पड़ते हैं। रामटेक से कैलाश पर्वत की ओर जाते हुये विदिशा

और म दसोर शायद ही रास्ते में पड़ेंगे, पर तु उज्जयिनी बहुत दूर पश्चिम की तरफ रह जाती है । अत 'उत्तर दिशा की ओर तुम्हें अगर टेढे रास्ते से भी जाना पड़े, तो भी हे मेघ ! उज्जयिनी के महलों पर क्षण भर रुकने का प्रयत्न अवश्य करना।' इस तरह यक्ष का मेघ से अनुरोध है। कालिदास ने ११ श्लोकों में उज्जयिनी का वर्णन किया है । इन श्लोकों में उज्जयिनी की अपरिमित सम्पत्ति, शिप्रा नदी की ओर से बहनेवाली शीतल मद और सुगन्धित हवा, वहाँ के स्थानों के सम्ब ध में प्रसिद्ध प्राचीन कथाएँ, उस नगरी के प्रसिद्ध महाकाल महादेव का मन्दिर, स ध्या काल की आरती के समय होने वाले वेश्यानृत्य और रात्रि में अपने प्रियतम से मिलने के लिये जानेवाली अभिसारिकाएँ, इन सबका कालिदास ने इतना रमणीय एवं हृदयहारी वर्णन किया है कि उसे पढ़ते समय उज्जयिनी का तत्कालीन दृश्य पाठकों की आँखों के सामने पूरा का पूरा नाचने लगता है । अलका को छोड़कर किसी दूसरी नगरी का इतना सु दर और विस्तृत वर्णन कवि ने नहीं किया, यह बात ध्यान में रखने योग्य है । अलका दिव्य—स्वर्गीय नगरी है । इसीलिये इसका वर्णन करते हुये कवि ने अपनी कल्पनाशक्ति को स्वच्छ द बनाया है । किन्तु भूलोक की किसी दूसरी नगरी के ऊपर उनका इतना प्रेम नहीं दिखाई पड़ता जितना उज्जयिनी पर । इस से तो यह स्पष्ट होता है के उनके बचपन के दिन उज्जयिनी में ही बीते होंगे ।

चौथा परिच्छेद

चरित्रविषयक अनुमान

'लोकोत्तराणा चेतासि को नु विज्ञातुमर्हति'

उत्तररामचरित

[लोकोत्तर पुरुषों के हृदयों को कौन जान सकता है]

कालिदास के चरित्र के सबध में निम्नलिखित दन्तकथायें * प्राचीन विचारपरम्परा के अनुयायी पडितों में प्रचलित हैं—

कालिदास ब्राह्मण बालक थे। जब वे पाच छ मास के थे तब उनके मा बाप चल बसे और बालक अनाथ हो गया। सयोग की बात, एक ग्वाले की दृष्टि उस लड़के पर पड़ी। वह इस मातृपितृ हीन बालक को अपने घर ले गया और अच्छी तरह लालन-पालन किया। जब कालिदास कुछ बड़े हुए तो अपने हमजोली ग्वालों के लड़कों के साथ खेल-कूद में मस्त रहने लगे। रग उनका गोरा था और शरीर था सुगठित तथा हृष्ट पुष्ट। इसलिये वह सबके बीच में बहुत आसानी से पहचाने जा सकते थे। वह अठारह वर्ष की अवस्था तक निरक्षर भट्टाचार्य ही बने रहे। जिस नगरी में वे रहते थे वहा के राजा के एक अत्यन्त सुन्दर और शीलगुणवती कन्या थी। जब वह विवाहयोग्य हुई तब राजा ने रूप गुण यौवन सम्पन्न अनेक वर उसके लिये खोजे। मगर एक भी वैसा मनचाहा योग्य वर न

* R V Tullu Traditionary Account of Kalidasa (Ind Ant Vol XII pp 115—7)

मिला। अन्त में लाचार होकर राजा ने राजकुमारी के योग्य वर तलाश करने का भार अपने मन्त्री को सौंपा। मन्त्री किसी कारणवश राजकन्या से बदला लेना चाहता था। वह छत पर खड़े खड़े राजकन्या के लिये एक ऐसे बुद्धू, नालायक वर की खोज में था ही कि इतने में उसने ग्वालों के लड़कों के साथ उस ब्राह्मणकुमार को जाते हुये देखा। तुरन्त मन्त्री को एक तरकीब सूझी। उसने उस गवार ब्राह्मण कुमार को अपने महल में बुलाया। बहुत बढ़िया बढ़िया रेशमी वस्त्रों और बहुमूल्य आभरणों से अलङ्कृत कर उसे अनेक नवयुवक पण्डितों के साथ राजसभा में ले आया और राजा स कहा कि ये काशी के बड़े दिग्गज विद्वान् आये हैं। आप इनका आदर सत्कार करके इन की परीक्षा लीजिये। राजसभा के पण्डित, राजा की आज्ञा से शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार हुये। परन्तु सभी पण्डित उसके शिष्यों द्वारा परास्त हो गये। राजकन्या को उस ब्राह्मणकुमार की परीक्षा लने की फिर आवश्यकता नहीं पड़ी। राजकुमारी उसके रूप लावण्य पर मोहित हो गई और शीघ्र ही उसका विवाह उस महामूर्ख ब्राह्मणकुमार से हो गया। परन्तु दो चार दिन में ही उसकी मूर्खता प्रगट हो गई। तब उसको मार डालने की धमकी देकर राजकन्या ने सारा भेद जान लिया। उस समय उसे बहुत दुःख हुआ। परन्तु विवाह होने के बाद क्या कर सकती थी। उसने उसे काली देवी की उपासना करने के लिये कहा, तब वह काली मन्दिर में जाकर आसन जमा कर बैठ गया। देवी को प्रसन्न होते न देख वह अपना सिर काटने लगा। उसकी भक्ति तथा दृढ़निश्चय देखकर देवी प्रसन्न हो उठी और उसके मस्तक पर अपना वरदहस्त रख दिया। तब से वह अत्यन्त विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न कवि हो गया और जगत् में कालिदास के नाम

से उसकी ख्याति हुई।

वहाँ से लौटने के बाद कालिदास राजकुमारी के पास गया। तब राजकन्या ने पूछा—

अस्ति कश्चित् वाग्विशेष।

[आप की वाणी में कुछ विशेषता आई कि नहीं ?]

कालिदास की वाणी इस समय देवी के प्रसाद से पवित्र हो चुकी थी। इसलिये उसने राजकन्या के वाक्य का प्रत्येक पद लेकर तुरन्त तीन काव्य रच डाले। जैसे —

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि से 'कुमारसंभव'। 'कश्चित्कान्ता विरहगुरुणा' इत्यादि से मेघदूत'। 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इत्यादि से रघुवंश। जिस राजकन्या के द्वारा वह मूर्ख से महापण्डित और कवि बना उसे वह मातासमान और गुरुसमान मानकर पूजने लगा। इससे राजकन्या चिढ़ गई और उसको शाप दिया कि तुम्हारी मृत्यु स्त्री के हाथ से होगी। उस समय से कालिदास के जीवन का प्रवाह बिलकुल बदल गया। उसका बहुतसा समय वेश्याओं की संगति में बीतने लगा। एक बार वह अपने मित्र कुमारदास से मिलने सिंहलद्वीप (लंका) गया और वहाँ उसने एक वेश्या से सुना कि 'कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते' (कमल पर दूसरे कमल की उत्पत्ति सिर्फ सुनी ही जाती है, देखी नहीं) इस श्लोक की पूर्ति के लिये राजा ने बहुत बड़ा इनाम घोषित किया है। कालिदास ने तुरंत—

'बाले तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम् ॥'

[हे बाले ! तेरे मुख कमल पर ये दो (नेत्ररूपी) नीलकमल कैसे आये ?]

इस तरह की पूर्ति कर दी। वेश्या ने राजा से मिलनेवाले

पुरस्कार के लालच में कालिदास का वध कर डाला। इस से राजा कुमारदास को शक हुआ और उसने भय दिखा कर उस वेश्या से कालिदास के बारे में पूँछा तब वेश्या ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। अपने प्रिय मित्र कालिदास की शोचनीय मृत्यु देखकर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ और कालिदास का विरहदुःख उसको यहाँ तक अखरा, कि वह पागल सा हो गया और कालिदास की चिता में कूद कर जल मरा। स्वर्गीय महामहोपाध्याय डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण कहते हैं कि अब भी सिंहलद्वीप में माटर नामक दक्षिण प्रान्त में करिन्दी नदी के मुहाने के पास वह स्थान बतलाया जाता है जहाँ कालिदास की चिता बनी थी।

राजसभा में रहते समय कालिदास ने अपनी प्रतिमा तथा समस्यापूर्तियों से बड़े बड़े दिग्गज पण्डितों और अपने आश्रय दाता विक्रमादित्य को भी अनेकों बार चकित कर दिया था। इस प्रकार बहुत सी आख्यायिकायें पण्डित समाज में प्रचलित हैं। इसी तरह की कालिदास के सम्बन्ध में कुछ आख्यायिकायें बल्लाल कवि, ने जो ग्यारहवीं शताब्दी के प्रख्यात दानशूर भोजराजा की सभा में विद्यमान थे, 'भोजप्रबन्ध' में दी हैं। उनमें से दो मनगढ़न्त आख्यायिकायें नीचे दी जाती हैं —

एक बार एक पण्डित ने राजसभा में आकर समुद्रवाचक छः संस्कृत पदों की 'अम्भोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारानिधिर्वारिधिः' यह पंक्ति पढ़ी और विद्वानों को चुनौति दी कि जो इस समस्या की पूर्ति कर देगा उसी को 'विजयपत्र' मिलेगा। सब पण्डित तो एक दूसरे का मुँह ताकने लगे, इतने में कालिदास ने आगे बढ़कर उक्त समस्या की पूर्ति निम्न लिखित श्लोक बनाकर की —

अम्बा कुप्यति तात मूर्ध्नि विधृता गङ्गेयमुत्सृज्यताम्
विद्वन् षण्मुख सन्ततं मयि रता तस्या गतिः का वद ।
कोपाटोपवशाद्विबुद्धवदनः प्रत्युत्तरं दत्तवान्
अम्भोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारानिधिर्वारिधिः ॥

"एक दिन कुमार कार्तिकेय स्वामी ने श्री शकर से कहा—'पिताजी ! यह देखकर कि आपने गगा को अपने मस्तक पर धारण किया है माताजी बहुत नाराज हैं', इस पर शकर ने कहा, 'अरे ! जो सदा से मुझ से प्रेम करती आरही है वह कहाँ जाय ?' यह सुनते ही कुमार आगबबूला हो गया और उसके छहों मुखों से एक साथ 'समुद्र में जाय' इस अभिप्राय से 'अम्भोधि' इत्यादि समुद्रवाची छ शब्द निकल पड़े ।"

यह समस्यापूर्ति सुनकर वह अभिमानी पण्डित ठडा पड़ गया। और राजा भोज को बड़ी खुशी हुई। ईश्वर की कृपा के बिना विद्या अर्जन करने में बहुत कड़ी मेहनत उठानी पड़ती है इस बात को अच्छी तरह जानने के कारण कालिदास निर्धन तथा अपठित ब्राह्मणों को राजसभा से पारितोषिक दिला दिया करते थे । एक बार एक ब्राह्मण राजसभा में आया वह वेद के पुरुषसूक्त की सिर्फ पहली ही पक्ति जानता था जिसे उसने राजसभा में आकर सुनाया, पर इससे राजा भोज कैसे प्रसन्न हो सकता था ? कालिदास सभा में मौजूद थे उन्होंने उस बेचारे ब्राह्मण की बिगड़ी हुई सूरत से ही ताड़ लिया कि इस गरीब ब्राह्मण का ज्ञानभण्डार खतम हो चुका है। इसलिये इस गरीब ब्राह्मण की सहायता करने के लिये उन्होंने आगे बढ़कर राजा से कहा—महाराज, इस ब्राह्मण ने बड़ी खुशी से आप की तारीफ की है । उसके कहने का आशय यह है—

सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
चलितश्चकितश्छन्नस्तव सैन्ये प्रधावति ॥

'राजा ! जब आपकी सेना वैरियों का दमन करने के लिये आक्रमण करती है तब शेपनाग पृथ्वी के भार से दनकर अपने स्थान से विचलित हो जाता है, इन्द्र विस्मित होता है और सूर्य धूल से ढक जाता है' इस श्लोक में कालिदास ने बड़ी चतुराई से 'यथासंख्य' अलङ्कार का चमत्कार दिखला कर भोज महाराज से उस गरीब ब्राह्मण को बहुतसा धन दिलवा दिया।

इस तरह की अनेक दन्तकथायें पण्डित समाज में प्रचालित हैं। ऐसी आख्यायिकाओं पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है इस का विवेचन इस पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में हम ने स्पष्ट रूप से किया है। इसी तरह की दन्तकथायें कालिदास के चरित्र के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थकार मेरुतुङ्ग के प्रबन्धचिन्तामणि नामक ईसा के चौदहवीं शताब्दी के ग्रन्थ में पाई जाती हैं। उनसे मालूम होता है कि वे सब कहानियां कालिदास के बाद करीब हजार वर्ष पीछे की हैं। बाण, अभिनन्द, सोड्ढल आदि पण्डितों ने कालिदास पर अनेक प्रशसात्मक श्लोक रचे हैं इन में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जो उपर्युक्त आख्यायिकाओं से मिलता जुलता हो। 'कालिदास और कुमारदास की मित्रता का उल्लेख सोलहवीं शताब्दी के एक सीलोनी ग्रन्थ में पाया जाता है। इसलिये वह भी विश्वसनीय नहीं हो सकता। प्रोफेसर कीथ* ने यह सिद्ध किया है कि 'जानकीहरण' का लेखक कुमारदास सिंहलद्वीप का राजा न था और ई स ५१७—५२६ के लगभग उसका शासनकाल भी नहीं ठहरता बल्कि वह ईसवी

* Keith : The Date of Kumaradasa J R A S 1901 pp 578—582

सन् ७००—७५० के लगभग का कवि था। पहिले प्रकरण में अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया जा चुका है कि कालिदास लगभग चौथी शताब्दी में हुये थे। इस से यह मालूम हो जायगा कि ये मनगढ़न्त आख्यायिकायें कहां तक सत्य हैं।

विश्वास योग्य परम्परागत आख्यायिकाओं के न होने से हमें कवि के समस्त ग्रन्थों की आलोचना करके उसके चरित्र के सम्बन्ध का ज्ञान कण कण के रूप में सञ्चित करना पड़ता है। यह बात अब सर्वमान्य हो चुकी है कि प्रत्येक ग्रन्थकार का मत, विद्वत्ता और स्वभाव उसके ग्रन्थों में प्रतिबिंबित होते हैं। शेक्सपीयर के सदृश ग्रन्थकार के चरित्र के विषय में भी हम लोगों को बहुत कुछ खोज करनी पड़ेगी। उस समय वेदाध्ययन, व्याकरण, ज्योतिष आदि शास्त्रों, न्यायमीमांसादि दर्शनों का केवल अध्ययन ही नहीं होता था बल्कि सुधामधुर काव्यों के निर्माण के लिये भी प्रोत्साहन मिलता था। बाण के 'हर्षचरित' में इसका विशद वर्णन आया है। बाण कवि कालिदास से दो सौ वर्ष बाद हुआ था। तो भी बाण ने जो तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन किया है उस से यह पद्धति बहुत प्राचीन काल से आई हुई मालूम होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि कालिदास की शिक्षा भी ऐसे ही किसी गुरुकुल में हुई होगी। 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में महर्षि वशिष्ठ के आश्रम का वर्णन बहुत सुन्दर रीति से किया गया है। राजा दिलीप अपनी धर्मपत्नी सहित सायंकाल के समय आश्रम में पहुँचे। उस समय तपस्वीजन वन से समिधा, दर्भ, पुष्प आदि लेकर आश्रम को लौट रहे थे। ऋषि पत्नियां पर्णकुटी के सामने आश्रम के हरिणों को दाना खिला रही थीं। और हिरण भी उनके चारों ओर उछल कूद रहे थे। ऋषि कन्यायें वृक्षों के केदारों में पानी डाल कर शीघ्र ही दूर हो जाती

थीं ताकि पक्षी नि शङ्क हो कर पानी पीसकें, आगन में धान के ढेर लगे हुये थे और पास हिरनिया बैठीं हुई रोम थ कर रही थीं। सायकाल यज्ञकर्म में जो हविर्भाग अग्नि में हवन किया गया था उसकी सुग ध चारों ओर फैल रही थी, दिलीप ने इस तरह का दृश्य आश्रम में देखा। तत्पश्चात् रात्रि में राजा पर्णशाला में दर्भशय्या पर सोये। और प्रात काल वशिष्ठ शिष्यों के वेदाध्ययन घोष से जाग उठे। इसी का य के पाचवें सग म वरत तु ऋषि के, 'शाकु तल' में कण्व और मारीच के तथा 'विक्रमोर्वशीय' में च्यवन के आश्रमों का जो मनोहर वर्णन आया है उस से मालूम होता है कि तत्कालीन आश्रमों की व्यवस्था, नियम तथा अध्ययनक्रम से कालिदास भली भाति परिचित थे।

कालिदास ने एक स्थल पर कहा है कि ऐसे गुरुकुलों में चौदह विद्याओं का अभ्यास कराया जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति में उन विद्याओं के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

पुराण यायमीमासाधमशास्त्राङ्गमिश्रिता ।
वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुदश ॥

'चार वेद, शिक्षा, व्याकरण आदि छ अङ्ग, पुराण, याय, मीमासा तथा धमशास्त्र ये मिलकर चौदह विद्यायें हैं, और ये ही धर्म के मूलभूत हैं।' कवि राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा' (अ ८) में प्राचीन आचार्यों के मत का इस प्रकार उल्लेख किया है कि कवि को श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, दर्शनशास्त्र, शैव पचरात्र आदि मत, अर्थशास्त्र कामशास्त्र और नाट्यशास्त्र यह राज सिद्धा तत्रयी, भिन्न भिन्न देशों के लोक यवहार, इसके सिवा धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा, योगशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन करना चाहिये। कालिदास ने इनमें से बहुत से विषयों का मार्मिक अध्ययन किया था यह उनके का य-नाटकग्र थों से दिखलाया जा सकता है।

इस पर विचार करने से पहले एक दो बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। उपर्युक्त विषयों में से कालिदास ने किसी एक पर न तो कोई मौलिक ग्रन्थ ही रचा और न संस्कृत साहित्य का इतिहास लिख कर उन सभी विषयों का उस में विवेचन ही किया। इन विविध विषयों का उल्लेख उन्होंने अपने कथानक के वर्णन में, उपमा आदि अलङ्कारों के प्रयोग में अथवा पात्रों की सहज बातचीत में बड़े स्वाभाविक ढङ्ग से किया है। कालिदास प्रौढ़ विद्वान् होते हुये भी अत्यन्त नम्र थे, इसलिये उन्होंने किसी स्थल पर भी अपना पाण्डित्य प्रकट करने की चेष्टा नहीं की। तो भी उनकी ग्रन्थसामग्री विविध विषयों से भरी हुई है और उसमें अनेक विषयों के उल्लेख कहीं कम और कहीं अधिक मात्रा में पाये जाते हैं, जिससे उनके ज्ञान गाम्भीर्य का पता लगता है।

यदि कालिदास की शिक्षा किसी गुरुकुल में हुई होगी तो उन्होंने एक या अनेक वेदों का अध्ययन अवश्य किया होगा। ऋग्वेद तथा उस के उदात्त आदि स्वरों का उल्लेख 'कुमारसंभव' (२ १२) और 'रघुवंश' (१५ ७६) में पाया जाता है। यजुर्वेद के अश्वमेध–यज्ञ का 'मालविकाग्निमित्र' में और राज्यसंरक्षणार्थ उपयोग में आने वाले अथर्ववेद के मन्त्रों का उल्लेख 'रघुवंश' में मिलता है। कालिदास को अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का संविधानक ऋग्वेद (१०,९५) और शतपथ ब्राह्मण (५,१–२) की कथा से सूझा होगा। उन की रची हुई कुछ उपमाओं से उन का 'ब्राह्मणग्रन्थों' से परिचय अच्छी तरह सिद्ध होता है। राजा दिलीप की रानी सुदक्षिणा यज्ञपत्नी दक्षिणा के समान थी (रघु १,३१)। मालूम होता है, यह कल्पना उनकी 'यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः' इस ब्राह्मणवाक्य से ही सूझी होगी। 'परमेश्वर ने जल में अपना वीर्य डाला जिस से

यह चराचर सृष्टि पैदा हुई और सृष्टि निर्माण के लिये भगवान् ने स्त्री पुरुष का रूप धारण किया', इस तरह की कल्पनायें उपनिषद् तथा मनुस्मृति से लेकर कवि ने 'कुमारसंभव' में रक्खी हैं। फिर भी कवि की मनोवृत्ति कर्मकाण्ड की अपेक्षा अध्यात्मविद्या की तरफ अधिक दीखती है। 'मालविकाग्निमित्र' में उन्होंने एक जगह कहा है कि तीनों वेदों की शोभा उपनिषदों की अध्यात्मविद्या से होती है। 'कुमारसंभव' में ब्रह्मा और शिव की तथा 'रघुवंश' में विष्णु की स्तुति उन के उपनिषदों के अध्ययन से निश्चित हुए 'एकेश्वरमत' की निदर्शक है। 'द्रव संघातकठिन स्थूल सूक्ष्मो लघुर्गुरु । यक्तो यक्तेतरश्चासि' इत्यादि परस्परविरोधी विशेषणों से की हुई ब्रह्मा की स्तुति पढ़ते समय 'अस्थूलमनणु, अह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादि उपनिषदों क वाक्यों की याद दिलाती है। उपनिषदों के परम तत्त्व ब्रह्म का भी उल्लेख 'कुमारसंभव' (३, १५) में आया है। मालूम होता है कालिदास ने भगवद्गीता का अध्ययन बहुत अच्छे ढंग से किया होगा, क्योंकि उसमें आई हुई अक्षर, क्षत्र और क्षेत्रज्ञ आदि संज्ञायें तथा समाधि में चित्त को लय करनेवाला योगी वायुहीन स्थल में स्थित दीपक के समान रहता है, ये उपमाएँ और स्थावर सृष्टि में हिमालय परमेश्वर की विभूति है, यह कल्पना इन सभी का उपयोग कवि ने 'कुमारसंभव'* में किया है।

इसके सिवा उन्हों ने भारतीय दर्शनशास्त्र का और उनकी भिन्न भिन्न शाखाओं का अध्ययन किया था। सारे जगत् में एक ही तत्त्व भरा है ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसी तत्त्व के भिन्न भिन्न रूप हैं, यह वेदान्तशास्त्र की कल्पना प्राय उनके सभी ग्रन्थों में पाई जाती है। पुरुष (आत्मा) उदासीन है, सृष्टि में चारों ओर जो

* कुमार० ३, ४ , ६, ७७; ३, ४८; इत्यादि ।

प्रवृत्ति दिखाई देती है वह प्रकृति की ही है, इस प्रकार का सांख्य सिद्धान्त 'कुमारसंभव' में (२, १३) उपलब्ध है, परन्तु द्वैतवादी सांख्यों का यह मत मान्य न होने के कारण कवि ने प्रकृति और पुरुष इन दोनों तत्त्वों को परमेश्वर रूप ही माना है। योगशास्त्र से कालिदास का अच्छा परिचय था। 'कुमारसंभव' के तृतीय सर्ग में ध्यानस्थित शिव का वर्णन कवि ने तीन श्लोकों में बड़ी सुन्दरता और विस्तार के साथ किया है और आगे के एक श्लोक में (३, ५८) उन्होंने 'योग से हृदय में परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं,' ऐसा सूचित किया है। 'पर्यङ्कबन्ध' (कुमार० ३, ४५) 'वीरासन' (रघु० १३, ५२) इत्यादि योगासनों का भी कवि ने कई स्थानों पर निर्देश किया है। यद्यपि न्याय और वैशेषिक दर्शन की पारिभाषिक संज्ञाओं का उपयोग करने का कवि को प्रसङ्ग नहीं मिला तो भी यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि इन शास्त्रों पर भी कवि का पूरा अधिकार था। क्यों कि 'रघुवंश' में एक स्थल पर (१३, १) शब्द को आकाश का गुण बतलाकर वैशेषिक मतका उल्लेख किया गया है।

कालिदास ने स्थान स्थान पर स्मृतियों के विविध विषयों का उल्लेख किया है। एक उपमा में उन्हों ने 'स्मृति, श्रुति का अनुसरण करती है' इस बात का उल्लेख किया है। 'कुमारसम्भव' में शिव पार्वती और 'रघुवंश' में अज इन्दुमती के विवाह का वर्णन गृह्यसूत्रों के आधार पर है। विवाह के उपरान्त पति पत्नी को कम से कम तीन रात तक ब्रह्मचर्य का पालन तथा भूमि पर शयन करना चाहिये। इस गृह्यसूत्र के नियम का पालन भगवान् शंकर जी ने किया था, ऐसा वर्णन 'कुमारसंभव' (७, ८४) में आया है। मनुस्मृति में जो नियम हैं उनके अनुसार राजा दिलीप की प्रजा बर्ताव करती थी

(रघु० १, १७)। धर्मशास्त्रों के नियम के अनुसार नि सन्तान मनुष्य की सम्पत्ति राजा के कोश में जाती है (शाकु० ६)। इन विधानों से यह सिद्ध होता है कि कालिदास ने मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों का सम्यक् अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त उन्हें व्याकरण, कामशास्त्र का भी अच्छा अभ्यास था। 'कुमारसभव' में 'पुराणस्य कवेस्तस्य' (२, १७) इस श्लोक में 'चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति' इस शब्द का प्रयोग उन्होंने पातञ्जल महाभाष्य से लिया है। कालिदास ने स्थान स्थान पर उमा, रघु, अज, चन्द्र, तपन, शतक्रतु इत्यादि नामो की व्युत्पत्ति दी है और सुन्दर व्याकरणविषयक कुछ उपमाओं की योजना की है, इस से उनके व्याकरणज्ञान का परिचय मिलता है। हम यह पहिले ही कह चुके हैं कि राजा विक्रमादित्य ने कालिदास को अपना राजदूत बनाकर वाकाटकों की सभा में भेजा था। इस से प्रतीत होता है कि कालिदास राजनीतिशास्त्रविशारद थे। उनके ग्रन्थों से भी यही बात सिद्ध होती है। 'मालविकाग्निमित्र' में 'तत्काल राज्यारूढ हुये शत्रु का नाश करना बहुत आसान है' इस सबध में तन्त्रकार का वचन उन्होंने उद्धृत किया है। 'कुमारसभव' में (३, ६) शुक्रनीति का स्पष्ट उल्लेख किया है। ससाग, यातव्य, प्रकृति, प्रशमन, मूल, प्रत्यन्त, पार्ष्णि इत्यादि अर्थशास्त्र में व्यवहृत होनेवाली अनेक पारिभाषिक सज्ञायें स्थान स्थान पर प्रयुक्त की गई हैं। 'रघु धर्मविजयी था' 'सुह्मदेश के लोगों ने वैतसी वृत्ति का अवलबन करके अपने प्राण बचाये', 'विदर्भ का राजा अग्निमित्र का प्रकृत्यमित्र (स्वभावशत्रु) था' इत्यादि विधानों से कालिदास का अर्थशास्त्र सबधी ज्ञान स्पष्ट होता है। दिन और रात के भिन्न भिन्न विभाग में राजा को किस प्रकार अपनी दिनचर्या रखनी चाहिये, इसके बारे में अर्थशास्त्रकारों ने कुछ नियम निर्माण किये हैं। उन के

अनुसार राजा चलता था यह वर्णन 'रघुवंश' में आया है। अर्थ शास्त्र के नियमानुसार अग्निमित्र, पुरुरव और दुष्यन्त की अमात्य परिषद् थी। और उनकी सलाह के अनुसार राजा लोग राज्य का सञ्चालन करते थे। पुरुरव की राजधानी में राज्य की व्यवस्था नगराध्यक्ष करता था, ऐसा कालिदास ने वर्णन किया है। उनका राजनैतिक ध्येय बहुत ऊँचा था। यह दुष्यन्त, रघु, दिलीप आदि राजर्षियों के उदात्त चरित्र से विदित होता है, इसका विस्तृत विवेचन एक स्वतन्त्र प्रकरण में करना उचित होगा।

अर्थशास्त्र की तरह कामशास्त्र का भी कवि ने सूक्ष्म अध्ययन किया था। पहिले प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि कण्व मुनि ने शकुन्तला को जो उपदेश दिया उसकी अधिकांश बातें कालिदास ने वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से ली हैं। किं बहुना 'शाकुन्तल' नाटक के प्रथम अङ्क में दुष्यन्त और शकुन्तला की सखियों में बातचीत का रमणीय प्रसङ्ग वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के 'कन्यासम्प्रयुक्तक' नामक अधिकरण के आधार पर कवि को सूझा होगा। वात्स्यायन ने उस अधिकरण में बतलाया है कि लज्जापरवश युवती को अपने प्रियतम से किस तरह बोलना चाहिये (कामसूत्र पृ० २०३–५)। 'उसको चाहिये कि अपनी सखियों के द्वारा प्रिय से सभाषण शुरू कर, बातचीत करते समय सिर झुकाकर स्मित हास्य करे। सखी के व्यंग्य करने पर उससे नाराज़ हो जावे। सखी जान बूझकर कहे कि नायिका ने मुझ से यह कहा है, तो नायिका उस बात को अस्वीकार करे। प्रियतम द्वारा उत्तर की याचना होने पर भी मुँह से एक शब्द भी न निकाले, अगर कुछ शब्द निकलें भी तो मैं कुछ नहीं जानती इस अभिप्राय से वे अस्पष्ट रहें। प्रियतम को देखकर नेत्रकटाक्ष फेंके तथा स्मित हास्य करे।' कालिदास ने इस

प्रकरण में 'कामसूत्र' की सूचनाओं का उपयोग बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से किया है । पार्वती का पाणिग्रहण करते समय शङ्कर का हाथ पसीने से तर हो गया और पार्वती का शरीर पुलकित हो गया, ऐसा वर्णन कालिदास ने किया है । यह वर्णन कामसूत्र के प्रथम सगम के वर्णनानुसार नहीं है । मालूम होता है विस्मृति के कारण कवि से गलती हो गई होगी । भूल ध्यान में आते ही 'कामसूत्र' के अनुसार उन्होंने रघुवश में अज इन्दुमती की अवस्था का वर्णन किया है । 'कामसूत्र' में नगरवासी विलासी तथा दाक्षिण्यसम्पन्न नागरों का सविस्तर वर्णन है, कवि ने उसी को लक्ष्य करके 'साधु आर्य ! नागरकोऽसि' 'अन्यसक्रान्तप्रेमाणो नागरका अधिक दक्षिणा भवन्ति ।' इस तरह 'विक्रमोर्वशीय' में तथा 'नागरवृत्त्या सान्त्वयै नाम्' इस तरह 'शाकुन्तल' में कहा है । अग्निमित्र के प्रेमसम्बन्ध में सहायता करने वाले विदूषक को रानी इरावती 'कामतन्त्रसचिव' की उपाधि देती है । इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि कवि को कामशास्त्र का अच्छा ज्ञान था ।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि शाकुन्तल आदि उत्कृष्ट नाटक निर्माण करनेवाले कवि को 'नाट्यशास्त्र' भी अच्छी तरह अवगत था । नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने अष्टरसात्मक 'लक्ष्मी स्वयवर' नामक नाटक का प्रयोग अप्सराओं द्वारा स्वर्ग में कराया था । उस समय उर्वशी ने बातचीत करते समय एक अक्षम्य अपराध कर डाला जिस के लिये मुनि ने उसे शाप दिया था । यह प्रसङ्ग 'विक्रमोर्वशीय' (अङ्क ३) में आया है । उस स्थल पर कवि ने सधि, वृत्ति, रस, राग आदि पारिभाषिक सज्ञाओं का उपयोग किया है । 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अङ्क से यह पता चलता है कि नाट्यशास्त्र की तरह साभिनय गानयुक्त नृत्य भी कालिदास को

अच्छी तरह अवगत था। इसी प्रसङ्ग में कवि ने छालेक, भाविक, पञ्चाङ्गाभिनय आदि संज्ञाओं का उपयोग किया है।

कालिदास ने ज्योतिष, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद का भी अच्छा अभ्यास किया था। जामित्र, उच्चस्थ (कुमार, ७-१ रघु० ३, १३) इत्यादि संज्ञाओं से उनका ग्रहज्योतिषसम्बन्धी ज्ञान स्पष्ट होता है। 'तारकासुर, धूमकेतु की तरह लोगों का नाश करने के लिये उत्पन्न हुआ' (कुमार० २, ३२), 'शत्रु पर चढ़ाई करने वाला राजा शुक्र युक्त दिशा को वर्ज्य करता है उसी तरह नन्दी की आँखें बचाकर मदन ने शङ्कर के तपोवन में आकर प्रवेश किया' (कुमार ३, ४३), 'चन्द्रमा का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से जब योग होता है तब मैत्र मुहूर्त्त होता है, उस समय सुहागिनी तथा पुत्रवती युवतियाँ ने पार्वती के बाल गूँथे' (कुमार० ७, ६), 'मंगल वक्रगति से पूर्वराशि पर आता है उसी प्रकार शायद रानी इरावती लौट आयगी' (मालविका० ३) इत्यादि उल्लेखों से उनके ज्योतिषशास्त्रज्ञान का पता लगता है। रात के नीरव समय में चन्द्र तथा नक्षत्रों को देखने का उन्हें शौक रहा होगा, नहीं तो 'एष चित्रलेखाद्वितीयामुर्वशीं गृहीत्वा विशाखासमीपगत इव चन्द्र उपस्थितो राजर्षि' (विक्रमो० १), 'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते' (शाकु० ३), इसी तरह की सुन्दर उपमायें तथा सुभाषित उनको न सूझते। 'वैद्य कहते हैं कि भोजन का समय टल जाने से दोष उत्पन्न होता है' (माल० १) 'मित्र! मालविका तेरे सामने ऐसी दीखती है जैसे मद्यपान से ऊब हुये मनुष्य के सामने मिश्री' (माल० ३), इस तरह के राजा के प्रति विदूषक के नर्मपरिहास वचनों में तथा दुष्ट मनुष्य का, चाहे वह उसका सगा और प्यारा ही क्यों न हो, साँप से डसी हुई उंगली के समान राजा दिलीप त्याग कर देता था (रघु० १, २८), इस

तरह का उपमाओं से उनका आयुर्वेदीय ज्ञान विशद होता है। 'आलीढ', ' वाजिनीराजना ' इत्यादि सज्ञाओं से तथा ' राजा को जगली हाथी नहीं मारना चाहिये ' इस तरह उल्लिखित नियमों से कवि का धनुर्वेदपरिशीलन व्यक्त होता है।

कालिदास के ग्र थों से खोज खोज कर यह दिखाया जा सकता है कि व्याकरण, अर्थशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि तर्ककर्कश बुद्धि प्रधान शास्त्रों की तरह सगीत, चित्रकला, प्रसाधनकला इत्यादि प्रयोगसाध्य ललितकलाओं का भी कालिदास को अच्छा अभ्यास था। वाद्यों के चार प्रकार माने जाते हैं—वीणा आदि तन्तुवाद्य, मृदङ्ग आदि चर्मवाद्य, मुरली आदि छिद्रयुक्त वाद्य, झाझ, मजारा आदि घनवाद्य। इन में से अधिकाश का वर्णन कालिदास के ग्र थों में है। नारदमुनि गोकर्ण क्षेत्रस्थ शकर के दर्शन के लिये जा रहे थे, उस समय उनके वीणा में लगी हुई पुष्पमाला इ दुमती के वक्षस्थल पर गिरा जिसमे उसकी मृत्यु हो गई। यह घटना 'रघुवश' में है। 'कुमारसभव' मे एक स्थल पर कवि ने वर्णन किया है—प्रात काल स्वरों क आरोह अवरोह का अनुसरण कर तारों पर हाथ फेरनेवाल किन्नरा के मगल गीतों से शकर जाग्रत हुये। यहा सितार सरीखा तन्तुवाद्य अभिप्रेत है। मेघदूत में भी यक्ष-स्त्री सुमधुर कठ से अपने प्रियतम के गुणवर्णन सबधी गीत को गाते समय आँसुओं से वीणा की तार भिगोती जाती थी और साफ करती जाती थी ऐसा वर्णन आया है। मालूम होता है कि कवि को सब वाद्यों में मृदङ्ग बहुत अच्छा लगता था। उनके कइ ग्र थों में मृदङ्गवादन का वर्णन आया है। 'मालविकाग्निमित्र' में एक स्थल पर मृदङ्ग बजने से नृत्य करने का समय निकट आ पहुँचा है—इस बात का उल्लेख है। कवि ने 'मेघदूत' में अलकानगरी में सगीत के समय मृदङ्ग बजते

थ—ऐसा वर्णन किया है । 'रघुवश' मे राजा अग्निवर्ण नर्तकी के नृत्य करते समय मृदङ्ग बजाकर ताल देते थे । अनेक स्थाना पर एसा वर्णन है कि मृदग की ध्वनि को मेघ का गजन समझ कर मयूर नृत्य करने लगे । इसके अतिरिक्त रघु के जन्म में इ दुमती के स्वयवर में आर अतिथि राजा के राज्यारोहण आदि अवसरा पर तुय, शहनाई आदि वाद्यों का और युद्धवर्णन में शख बजाने का उल्लेख है । कालिदास ने एक उपमा में बतलाया है कि सुस्वर वादन से मन प्रसन्न होता है और बेसुर बजाने से श्रोता ऊब उठते ह, इससे उनकी वादनाभिरुचि प्रगट होती है ।

कालिदास के ग्र थों में गायन का भी वर्णन पाया जाता है । 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अक म मालविका राजा के प्रति अपना प्रम साभिनय गीत से व्यक्त करती है । ' शाकुन्तल ' की प्रस्तावना म विद्वत्परिषद् के मनोरजनाथ नटी ग्रीष्मवर्णनात्मक गात गाती ह, जिस को सुनकर प्रेक्षक तल्लीन होकर चित्र की भाति लिखे हुये से रह जाते हैं । पञ्चम अक में उपेक्षिता हसपादिका रानी रागपूर्ण गीत गा कर अप्रत्यक्ष रीति से राजा की भर्त्सना करती है । 'कुमारसभव' में मदनदाह के उपरान्त निराश हुई पार्वती के गद् गद् मधुर कठ से गाया हुआ त्रिपुर विजय गीत सुनकर किन्नरिया आँसू बहाने लगती हैं । 'रघुवश' में कुश और लव के सुमधुर कठ से गीतमनोहर रामचरित सुनकर सारी सभा शोकाकुल हो उठी थी । इन प्रसगो में कवि ने बतलाया है कि किस तरह सुरीले गान का प्रभाव श्रोताओं के मन पर पड़ता है । मूर्छना, ध्वनि, वर्णपरिचय, षड्ज, मध्यम इत्यादि गायन वादन की पारिभाषिक सज्ञायें उनके ग्रथों में लिखी हैं । इससे उनके सगीतज्ञ होने का पता चलता है ।

नृत्य, गीतवाद्य आदि कलाओं की तरह कालिदास को चित्र

नला का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अपने कार्यों में कागज़ों तथा दीवालों पर अंकित चित्र, स्तम्भों पर उत्कीर्ण आकृति और देवमूर्तियों का उल्लेख किया है। उनके ग्रन्थों में दुष्यन्त, पुरूरवा, यक्ष, राजा अग्निवर्ण, यक्षपत्नी ये सब उत्तम चित्रकार दिखलाए गये हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में धारिणी और 'शाकुन्तल' में शकुन्तला की सखिया चित्रकला की अनुरागिणी बतलाई गई हैं। उनके नाटकों की अनेक घटनायें चित्रदर्शन अथवा चित्रलेखन पर निर्मित हुई हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में मालविका का प्रथमदर्शन एक चित्र में धारिणी के दासी के रूप में कराया जाता है और राजा उसके सौन्दर्य पर मोहित होता है। चित्र में इरावती की ओर ध्यान से देखते हुये राजा को देखकर मालविका के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। 'मेघदूत' में यक्ष विरहदुःखसहन के लिये अपनी प्रणयकुपिता प्रियतमा का चित्र गेरु से शिला पर खींचकर जब उस का प्रणाम करना चाहता है तब उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है और उसका प्रयत्न विफल हो जाता है। 'शाकुन्तल' में शकुन्तला के परित्याग कर देने पर पश्चात्ताप-पीड़ित राजा कण्वाश्रम में शकुन्तला के प्रथमदर्शन का चित्र खींचता है। इस तरह के प्रसंगों से कथानक के विकास के लिये तथा पात्रों में भावना के आविष्कार के लिये कालिदास ने अपने ग्रन्थों में चित्रकला का मार्मिक रीति से वर्णन किया है। उपर्युक्त घटनाओं में दुष्यन्त राजा द्वारा लिखित शकुन्तला का चित्र अधूरा ही रह गया था उसे पूरा करने के लिये जिन जिन बातों की आवश्यकता थी उन सब को राजा ने निम्नलिखित श्लोक में वर्णन किया है। उससे मालूम होता है कि सुन्दर चित्र के लिये पार्श्वभूमि की कितनी आवश्यकता होती है इसे कवि उत्कृष्ट रीति से जानता था।

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावना ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमाना मृगीम् ॥

शाकुन्तल, ६, १७

[इस चित्र म अन भी मालिनी नदी, उसके किनारे पर बैठे हुये हसों की जोड़िया, पास ही हिमालय की उपत्यका, जहा छोटे छोटे हरिण बैठे हुये हैं, उसी तरह एक बड़ा वृक्ष, जिस की शाखाओं पर गेरुए वस्त्र सूखने के लिये डाले गये हैं और उसकी छाया में कृष्णसार मृग के सींग पर अपना वाम नेत्र खुजाती हुई हरिणी, इतनी बातें मुझे खींचनी हैं ।]

राजा का खींचा हुआ चित्र इतना हूबहू था कि शकु तला की माता की सहेला को जो वहा खड़ी हुई थी, चित्र को देखकर एक क्षण के लिये ऐसा मालूम हुआ मानो शकुन्तला ही सामने खड़ी है । इसके बाद राजा ने वर्णन किया कि शकु तला के शरीर पर कैसे कैसे पुष्पा लकार होने चाहिये । पार्श्वभूमि, भावना का आविष्कार, समुचित अलकार आदि विषयों का सूक्ष्म रीति से वर्णन करनेवाले कवि को स्वय ही कुशल चित्रकार होना चाहिये । 'कुमारसभव' में यौवन से भरी हुई पार्वती के अलग अलग अग स्पष्ट दिखाई देने लगे, यह कल्पना व्यक्त करने के लिये कवि ने चित्रकार के द्वारा धीरे धीरे स्पष्ट होने वाले चित्र की सुन्दर उपमा दी है । चित्रकार पहिले सूक्ष्म रेखाओं से चित्र की बाह्यरेखायें (outlines) खींचता है फिर उसमें तूलिका से रग देता है । सिर्फ बाह्यरेखा खींचने से चित्र के सब भाग अलग अलग स्पष्ट हो जाते हैं परन्तु उसका स्पष्ट रूप तब ही व्यक्त होता है जब उसमें रग भर दिया जाता है ।

नहीं दो अश्वमेध यज्ञ किये थे। राजसिंहासन पर बैठ कर भी उसने अपनी सेनापति की पदवी कायम रक्खी थी। इसलिये कालिदास के मत्थे उपर्युक्त दोनों अपराध नहीं मढ़े जा सकते तथा यह भी सिद्ध होता है कि उनका ऐतिहासिक ज्ञान अचूक था।

कालिदास के ग्रन्थों में अनेक देशों का, पर्वतों का, नदियों का तथा नगरों का वर्णन है। उस में कहीं कोई भूल नहीं पायी जाती। 'कुमारसंभव' के आरम्भ में तथा 'मेघदूत' में उन्हों ने हिमालय का विस्तृत तथा यथार्थ वर्णन किया है। भारवि जैसे अन्य कवियों ने भी हिमालय का वर्णन किया है लेकिन उस में वस्तुस्थिति की अपेक्षा कल्पना पर ज्यादा जोर दिया गया है। यात्रा के मिस हिमालय पर जाने वाले अथवा ग्रीष्म-काल में जाने वाले लोगों का कहना है कि वहाँ के मेघ का रात्रि के समय प्रकाशित होनेवाली औषधि इत्यादि का वर्णन कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से किया है। वङ्क्षु अथवा सिन्धु नदी के किनारे पर केसर के वृक्ष लगते हैं—यह किसी अन्य कवि ने वर्णन नहीं किया। बंगाल के शालिधान्य, दक्षिण में ताम्रपर्णी के तीर पर मोतियों के कारखाने आदि का जो वर्णन कवि ने किया है वह वस्तुस्थिति के अनुसार है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास ने स्वयं दूर दूर प्रान्तों के प्रवास में प्रकृति निरीक्षण किया होगा तथा चन्द्रगुप्त के काल में कार्यवश दूसरे देशों में नियत किये हुये अधिकारियों से या भिन्न भिन्न देशों में व्यापार करने के लिये जानेवाले व्यापारियों से भी उनको ऐतिहासिक तथा भौगोलिक बातों का पता लगा होगा।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि कवि ने उपर्युक्त विषयों के सिवा कोश, छन्द, तथा अलंकार आदि विषयों के ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था। कविराजशेखर ने काव्यरचना करने

वाले के लिये पहले पुरातन कवियों के ग्रंथों का अभ्यास करने की आवश्यकता बतलाई है । कालिदास के ग्रन्थों से प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा यह कहा जा सकता है कि उन्हों ने अपने प्राचीन काल के व्यास-वाल्मीकि प्रणीत महाभारत-रामायणादि ग्रन्थ, कुछ पुराण, अश्वघोष आदि कवियों के काव्य तथा भास, सौमिल्ल, कवि पुत्र आदि नाटककारों के नाटकों का गहन अध्ययन किया था । 'विक्रमोर्वशीय' (अंक ४) में ' राजा कालस्य कारणम् ' यह उक्ति*, 'रघुवंश' (२, ५३) में ' क्षतात्किल त्रायत इति क्षत्रिय ' ऐसी क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति, ' मालविकाग्निमित्र' में 'तिलक' पुष्प के नाम का श्लेष आदि कल्पनायें उन्हों ने महाभारत से ली होंगी । रामायणवर्णित वर्षा और हेमन्त ऋतु की छाप उनके 'ऋतुसंहार' पर पड़ी है । 'रघुवंश में वर्णित राजाओं की नामावली उन्होंने प्राचीन पुराण ग्रन्थों से ली होगी । यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि उन्होंने अश्वघोष के काव्यों को अच्छी तरह पढा होगा । अगले छठे परिच्छेद में यह बतलाया जायगा कि भासादि नाटककारों के नाटकों से उन्होंने कुछ कल्पनायें तथा घटनायें अपनाकर अपनी प्रतिभा से उन्हें रमणीय रूप दे दिया है ।

मनुष्य कितनी ही प्रखर प्रतिभा का विद्वान् कलानिपुण और शास्त्रज्ञ क्यों न हो परन्तु जब तक उसका जीवन विशुद्ध न होगा तब तक उसके द्वारा उच्च कोटि का साहित्य सृजन नहीं हो सकता । 'जैसा कवि का स्वभाव वैसा उसका काव्य, जैसा चित्रकार वैसा ही उसका चित्र'—यह एक सामान्य नियम है, ऐसा राजशेखर ने जो कहा है वह सत्य है । (काव्यमीमांसा अ० १०) दुर्भाग्य से उनके चरित्र की विश्वसनीय बातें बहुत शीघ्र लुप्त हो गई और उनका स्थान

* मुनयोऽपि व्याहरन्ति राजा कालस्य कारणमिति ।

मनगढत बातों ने ले लिया। इसी से उनका चरित्र बिल्कुल विकृत रूप में लोगों के सामने आया। ऐसी दशा में राजशेखर के कथनानुसार हमें कवि के चरित्र को उनके ग्रन्थों से परखना है।

कालिदास के समस्त ग्रंथों का सम्यक् निरीक्षण करने से मालूम होता है कि वह विलासी तथा विनोदी स्वभाव के थे। उनके सभी ग्रन्थों में शृङ्गार रस की प्रधानता है, जिसके कारण एक सुभाषित में उनका वर्णन "कविता देवी का विलास" कहकर किया गया है। उनके विनोदी स्वभाव की झलक उनके नाटकों की कुछ मनोरंजक घटनाओं तथा खासकर उनके विदूषक-पात्रनिर्माण में व्यक्त होती है। कालिदास बहुत साफ दिल के थे। उन्होंने कहा है कि किसी के साथ सात कदम चलने से अथवा कुछ समय तक बातचीत करने से ही मित्रता हो जाती है (कुमार० ५, ३६, रघु० २, ५८)। 'पुरुषों का स्त्रियों के प्रति प्रेमभाव चंचल, लेकिन मित्रप्रेम चिरस्थायी होता है' (कुमार० ८, २८)। उनकी इन उक्तियों से हम उनके मित्रप्रेम की कल्पना कर सकते हैं। उनका हृदय अत्यन्त कोमल था। दिन में सूर्य के प्रकाश से निष्प्रभ पड़ी हुई चन्द्रकला को देखकर उनको अत्यन्त दुःख होता था (कुमार० ५, ४८)। समाज में धीवर जैसे हलके दर्जे के लोगों के चित्र भी उन्होंने बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित किये हैं, इस में उन लोगों के प्रति भी कवि की सहानुभूति व्यक्त होती है। किसी भी व्यक्ति के स्वभाव का मर्म निकाल लेने में वे सिद्धहस्त थे। नहीं तो 'शाकुन्तल' में रंग बदलने वाले पुलिस सिपाही का हूबहू शब्दचित्र उनके हाथ से न बनता। 'स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्', (कुमार० ६, १२) इस उक्ति से मालूम होता है कि वह गुणों का आदर करते थे न कि व्यक्ति का। उनका निरतिशय प्रेम केवल मनुष्यों पर

ही नहीं था, बल्कि मृग, मयूर आदि अन्य प्राणियों पर भी था। उन्होंने 'शाकुंतल' के चौथे अंक में यह दिखाया है कि यदि हम उनसे प्रेम करेंगे तो वे भी हमें चाहेंगे। उनके निर्मित स्त्री-पात्र लतावृक्षों पर अपनी संतान के समान प्रेम रखने वाले हैं। 'मेघदूत' में तथा अन्य ग्रन्थों में उन्होंने अनेक वृक्ष, लता तथा पुष्पों का मनोहर वर्णन किया है। इससे उनका निसर्गप्रेम तथा अपने निरीक्षण से प्रकृति का यथार्थ मर्म जानना सूचित होता है।

कालिदास के संबंध में यह प्रवाद है कि उनका कौटुंबिक चरित्र निर्दोष नहीं था परंतु उनके ग्रंथों में इसके संबंध में आधार नहीं मिलता। उन्होंने गृहस्थाश्रम को 'सर्वोपकारक्षम' कहकर प्रशंसा की है। 'पतिपत्नी का प्रेम सत्य सनातन है, भगवान् शंकर जैसे असाधारण इन्द्रियनिग्रही योगी पर भी प्रेम ने अपना प्रभाव जमाया फिर और सामान्य लोगों की क्या बात है' इस प्रकार उन्होंने 'कुमारसंभव' (६, ९५) में कहा है। उन्होंने अपने काव्यों में स्त्रियों के प्रति अत्यंत आदरभाव प्रगट किया है। स्त्रियों के बिना धार्मिक कृत्य बिल्कुल असम्भव है (कुमार० ६, १३), विवाहसंबंध स्थापित करने में स्त्रियां बड़ी चतुर होती हैं (कुमार० ६, ३२), पुरुष कन्याविवाह के सम्बन्ध में प्रायः स्त्रियों की सलाह के अनुसार चलते हैं (कुमार० ६, ८६) इत्यादि उक्तियां 'कुमारसंभव' में हैं। जिनके द्वारा कवि ने यह सूचित किया है कि कौटुम्बिक जीवन को सुखमय बनाने के लिये पति पत्नी को उचित है कि एक दूसरे की इच्छा और मत का ख्याल करें। उनके सब स्त्री पात्र प्रेमी, सुस्वभाव तथा ललित कलानिपुण हैं। 'रघुवंश' के अजविलाप में उन्होंने यह बतलाया है कि आदर्शपत्नी कैसी होनी चाहिये। उन्होंने 'रघुवंश' (८, ६७) में इंदुमती के वर्णन में वह अज की गृहस्वामिनी,

कठिन समय पर सलाह देने वाला मन्त्री, एकान्त म प्रियसखी और ललितकला में प्रियशिष्या जैसी थी, इस तरह का उल्लेख किया है। 'कुमारसभव' में 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' (५, १), 'स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेष' (७, २२) इत्यादि उक्तियों से तथा 'मेघदूत' में विरहिणी यक्षपत्नी के वर्णन से यह मालूम होता है कि पतिव्रता स्त्रियों के विषय में कालिदास के विचार कैसे थे। वेश्या के घर मे रातदिन पड़े रहनेवाले कवि के हाथ से इन्दुमती, यक्षपत्नी, शकुन्तला तथा सीता जैसी स्वाभिमानिनी, सुशील, प्रेम मूर्ति पतिव्रताओं के शब्दचित्र नहीं निकल सकते थे।

कालिदास का प्रेमी हृदय छोटे छोटे बच्चों के सहवास में प्रसन्न होता था (रघु० ३, २४)। उन्होंने एक जगह कहा है कि सन्तान उत्पन्न होने से दम्पती का परस्पर प्रेम कम नहीं होता बल्कि बढ़ता ही है। 'रघुवश' (१, ६६) में उन्होंने सन्तान की प्रशसा की है कि तपश्चर्या और दान से मिलने वाला पुण्य सिर्फ परलोक में काम आता है परन्तु शुद्ध वश की सन्तान इह और पर दोनों लोकों में सुखकारी होती है। उनके काव्यों में कई जगह छोटे छोटे बच्चों का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। छोटा सा बालक रघु अपनी धाय के कहे अनुसार प्रणाम कर वह अपने पिता के आनद को बढ़ाता था (रघु० ३, २५) इस श्लोक को स्वभावोक्ति अलकार का उत्कृष्ट नमूना कहकर साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। 'शाकुन्तल' (७, १७) में 'जिनके दात की कली अभी निकली ही है और जो बिना कारण ही हसने लगते हैं, जिनके बोल अस्पष्ट होते हुये भी मधुर लगते हैं, ऐसे बच्चों को गोद में लेकर उनके धूलिभरे अगों से जो अपने वस्त्र मैले करते हैं वे ही धन्य हैं।' इस तरह का सुन्दर वर्णन है। उन्होंने अपने नाटकों में यह बतलाया है कि दुष्यन्त

और पुरूरवा स्वय अपने बालकों को ही नहीं पहिचानते थे तो भी उनकी दृष्टि बच्चों पर पड़ते ही उनका सन्तानस्नेह उमड़ पड़ा। इससे उन्होंने यह दर्शाया है कि मनुष्य के स्वभाव में अपत्य प्रेम एक नैसर्गिक कोमल भावना है। मनुष्य के जीवन में कई अत्यन्त करुणोत्पादक घटनायें होती हैं। पतिगृह में भेजने के लिये कन्या की विदाई भी वैसी ही घटनाओं में शामिल है। इस अवसर पर उसके पिता के हृदय की उथल पुथल का मर्मस्पर्शी शब्द चित्र उन्होंने 'शाकुतल' के चौथे अक में अकित किया है। कण्व जैसे स्नेहार्द्र पिता के शब्द चित्र रगनेवाले कालिदास को अपत्य प्रेम का अनुभव न था ऐसा कौन सहृदय पाठक कहेगा?

कालिदास को द्वितीय चन्द्रगुप्त जैसे उदार सम्राट् का आश्रय था और उनके जीवन का उत्तरार्ध राजदर्बार में ही बीता था। सदा राजसभा में रहनेवाले कवि की दृष्टि से वहा के आचार विचार, चाल ढाल, राजाओं की इच्छा अनिच्छा, समयानुसार राजसेवकों का आदर करके उनसे काम निकालना इत्यादि बातें चूकती नहीं। इस दृष्टि से 'कुमारसभव' के तीसरे सर्ग में इन्द्र की सभा का वर्णन पढ़ने योग्य है। 'राजाओं का प्रेम अपने आश्रितों पर मतलब के अनुसार कम ज्यादा होता रहता है' (कुमार० ३, १), 'होशयार आदमी मौके से अपने मालिक से प्रार्थना कर काम निकाल लेता है' (कुमार० ७, ६३) इत्यादि उक्तिया कालिदास को अपने अनुभव से या सूक्ष्म निरीक्षण से सूझीं होंगी। जब भगवान् शकर विवाह के लिये रवाना हुये तब उन्होंने अपने समीपस्थ गणों के हाथ की तलवारों में अपना रूप देखा, सूर्य ने उनके ऊपर छत्र रखा, ब्रह्मा ने और विष्णु ने उनकी जय जयकार की। उसके बाद इन्द्र आदि देवताओं ने दर्शन की इच्छा से नन्दी को इशारा किया

और वह उन लोगों को शकर के सामने ले गया, उन्होंने अत्यन्त नम्रता से प्रणाम किया, शिवजी ने सिर हिलाकर ब्रह्मदेव का, चार शब्दों से विष्णु का, स्मितहास्य से इन्द्र का और नयनकटाक्ष से अन्य देवताओं का सन्मान किया था—इस वर्णन में राजदर्बार में होने वाले पौर्वापर्यक्रम और योग्यतानुसार प्राप्त होने वाले सन्मान का अच्छा प्रदर्शन है। राजदर्बार में रहने के कारण कालिदास की वाणी में शिष्टता दिखाई देती है। 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी जब स्वर्ग को लौटना चाहती है तब वह राजा से चित्रलेखा सखी के द्वारा विनती करती है कि 'महाराज की आज्ञा हो तो अपनी प्रिय सखी समान आपकी कीर्ति को स्वर्ग को ले जाऊं'। 'शाकुन्तल' में प्रियंवदा दुष्यन्त से कहती है 'महाराज के मधुर भाषण से मुझे धैर्य हुआ है—इसलिये मैं आपसे पूछने का साहस करती हूं कि आपने किस राजर्षि का वंश अलङ्कृत किया है, किन देशवासियों को आपने अपनी विरहव्यथा से पीड़ित किया है तथा किसलिये आपने अपने अत्यन्त कोमल शरीर को तपोवन के क्लेश पहुँचाये हैं?' इससे कविवर के राजसभोचित शिष्टाचारज्ञान का पता लगता है।

कालिदास महान् विद्वान् होते हुये भी अत्यन्त नम्रशील थे। 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय' नाटक तथा 'मेघदूत' 'कुमारसंभव' आदि काव्य लिखने के बाद किसी भी ग्रंथकार को अपनी कृति का अभिमान हो सकता है। उससे नीचे दर्जे की ग्रंथरचना करने वाले पण्डितराज जगन्नाथ की दर्पोक्तियां काफी प्रसिद्ध हैं। परन्तु 'शाकुन्तल' जैसा अद्वितीय अनुपम नाटक, 'रघुवंश' समान विविध रसों से ओतप्रोत अनुपम महाकाव्य विद्वानों के आगे प्रस्तुत करते समय कवि ने कितनी नम्रता दिखाई है। कालिदास नम्र होने पर भी राजदर्बारों में रहने वाले तथा चापलूसी करने वाले इतर

पडितों की तरह स्वाभिमान शून्य नहीं थे, नहीं तो उनके मुख से पहले कही हुई "इह निवसति मेरु' इत्यादि उक्ति कभी न निकलती। स्वाभिमानिनी शकुतला तथा सीता के शब्द चित्र उतनी सुन्दरता से उनकी कलम से अकित न होते। ऐसे महान् विद्वान्, कलाकार, प्रेमी, विनोदी, चतुर, एव स्वाभिमानी नररत्न के चरित्र को मनगढत कथाओं के आधार पर विपरीत रूप दिया जाता और परम्पराभिमानी लोगों से आज तक मा य होता—यह केवल दैव का दुश्चेष्टित नहीं तो और क्या है!

कालिदास की रहन-सहन कैसी थी तथा उनकी दिनचर्या किस प्रकार की थी यह जानने के लिये विश्वासयोग्य प्रमाण नहीं मिलते। राजशेखर की 'काव्यमीमासा' में (अ० १०) इसका वर्णन है कि आदर्शकवि का जीवन किस प्रकार का होना चाहिये, उसे काल्प निक ही मान लिया जाय तो भी वह वास्तविकता से बहुत दूर नहीं हो सकता। "कवि को सदा पवित्र रहना चाहिये और वह पवित्रता तीन प्रकार की है—वाणी, मन और शरीर की। पहिली दो पविश्रतायें शास्त्र के पठन से आती हैं, शारीरिक पवित्रता में, पैर के नाखून निकालना, ताम्बूल खाना, शरीर में सुगन्धित द्रव्यों का लेपन करना, उत्तम सादे वस्त्र पहिनना, सिर पर पुष्प धारण करना इत्यादि बातों का अन्तर्भाव होता है। शुद्ध आचरण ही सरस्वती का आकर्षक है। कवि का घर स्वच्छ लिपा पुता व धुला होना चाहिये, उस में छहों ऋतुओं के योग्य अलग अलग स्थल होने चाहिये। पास ही वृक्ष, वाटिका, क्रीडा पर्वत, वापी, पुष्करणी, नहर, मोर, हिरन आदि पशु, सारस, चक्रवाक, हस, चकोर, शुकसारिकादि पक्षी, गरमी का ताप निवारण करने के लिये फुहारे के घर, लता मण्डप होना चाहिये। काव्य रचना द्वारा थके हुये मन को आराम देने के

लिये वहा किसी तरह का शोर गुल न रहे, कवि के परिचारक अपभ्रशभाषाप्रवीण, दासिया मागधीभाषा जाननेवाली, अन्त पुर के सेवक प्राकृतसस्कृतभाषाविज्ञ तथा मित्र सब भाषाओं के जानने वाले हों। कवि का लेखक सवभाषाकुशल, शीघ्रवाक्, सुन्दर अक्षर लिखने वाला, अनक चिह्न पहिचानने वाला, अनेक लिपियों का ज्ञाता तथा स्वय काव्य रचना में निपुण होना चाहिये। यदि ऐसा सवगुणसपन्न मनुष्य हमेशा उसके पास न हो तो इन में से कुछ गुणों वाला मनुष्य तो होना ही चाहिये। नियत समय के बिना कोई काम नहीं हो सकता, इसलिये कवि को दिनरात के एक एक प्रहर के आठ विभाग कर लेने चाहियें। प्रात काल सन्ध्यावन्दन के बाद कवि सारस्वत सूक्त का जप करे, इसके बाद अपने विद्याभवन में प्रसन्नचित्त होकर अपनी काव्यरचना के लिये उपयोगी ग्रन्थों का एक प्रहर तक स्वाध्याय करे, क्योंकि स्वाध्याय से कवि की प्रतिभा का विकास होता है, दूसरे प्रहर में काव्य रचना करे, दोपहर को स्नान करके भोजन करे, भोजनोपरान्त मित्रों की साहित्यगोष्ठी करे उसमें समस्या--पूर्ति और काव्य--रचना के विविध अगों की चर्चा करे, चौथे प्रहर में पहले जो काव्य--रचना की थी उस की परीक्षा या तो स्वय करे या अपने मित्रों द्वारा करावे। रचना प्रवाह में कवि की अपने गुण दोष परखने की विवेकदृष्टि नहीं होती इसलिये परीक्षण आवश्यक है। उस समय अनावश्यक बातों को निकाल देना चाहिये, जिस बात की कमी हो उसको रख दे, जिस जगह रचना असगत हो उसको बदल दे और जो बातें छूट गई हों उनका स्मरण करे। सायकाल में फिर सध्यावदन तथा सरस्वती की उपासना करनी चाहिये। जिस रचना की परीक्षा हो चुकी है उसे रात में साफ सुन्दर अक्षरों से लिख रखना चाहिये। बाद दोपहर

अच्छी तरह निद्रा लेना चाहिये । गहरी नींद सोने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है । प्रात चौथे प्रहर शय्या से उठ जाना चाहिये क्योंकि ब्राह्म मुहूर्त में मन प्रसन्न रहता है और भिन्न भिन्न विषय आँखों के सामने आते हैं ।" उपर्युक्त राजशेखर के वर्णन में कहीं कहीं अतिशयोक्ति झलकती है । फिर भी विक्रमादित्यसदृश दानशूर सार्वभौम नृपति का आश्रय पाने का जिसे सौभाग्य मिला था उस कवि कालिदास की जीवनचर्या उपर्युक्त रीति के अनुसार रही हो इस में कोई बात असम्भव नहीं दीखती ।

कालिदास का आयुष्यमान कितना था इस सबध में अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो सका है । फिर भी अनुमान लगाकर निर्णय निकालने के लिये जगह है । कालिदास के ग्र थों में 'ऋतु सहार' और 'मालविकाग्निमित्र' सब से पहिले की रचनायें हैं और 'रघुवश' सब से पीछे लिखा गया होगा । 'रघुवश' के अठारहवें सर्ग में ६ वर्ष की उम्र में ही सिंहासन पर आरूढ़ हुये सुदर्शन नामक बालराजा के सु दर का यमय वर्णन में कालिदास ने पन्द्रह श्लोक रचे हैं । 'रघुवश' के अन्तिम राजाओं का अनुक्रम 'विष्णु पुराण' की वशावली से बहुत कुछ मिलता जुलता है, फिर भी उसमें या अ य पुराणों में यह उल्लेख नहीं मिलता कि सुदर्शन बाल्यावस्था में ही सिंहासन पर बैठा था । इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि कवि ने यह दृश्य प्रत्यक्ष देखा होगा और इसी से यह वर्णन उसे सूझा होगा । अजन्ता के लेख में इसका उल्लेख है कि राजा वाकाटक के द्वितीय प्रवरसेन का अष्ट वर्षीय पुत्र सिंहासन पर बैठा था और उसने राज्य का शासन उत्तम रीति से किया था* । कालिदास उस समय विदर्भ में होंगे । इस

* Burgess an l Bhagvanlal Indraji —

बालराजा का राज्यकाल श्रीयुत जायसवाल जी ने ई० स० ४३५–४७० तक बतलाया है* ।

हम पहले दिखा चुके है कि 'मालविकाग्निमित्र' लगभग ई० स० ३६५ में पहिले पहल रगमच पर आया था । उस समय कालिदास बिल्कुल नौजवान अर्थात् लगभग २५ वर्ष के होगे । यदि ऐसा हो तो उपर्युक्त बालराजा के राज्यारोहण के समय कालिदास की अवस्था साठ पैंसठ के करीब अवश्य होगी । इसके बाद कुछ थोडे ही समय में उनका देहान्त हुआ होगा, क्योंकि 'रघुवश' का उसके बाद का एक ही सर्ग उपलब्ध है । सस्कृतललितवाङ्मय में कालिदास के समान विपुल ग्रन्थ-रचना राजशेखर को छोडकर और किसी कवि ने नहीं की है । इसलिये कालिदास के आयुर्मान के सम्बन्ध में उपर्युक्त अनुमान असगत नहीं दीखता है ।

---

* Inscriptions in Ajanta Cave XVI (A S W I) उपर्युक्त दोनों राजाओं की उम्र में दो वर्ष का भेद है, सभव है कालिदास ने जान बूझकर यह भेद कर दिया हो । आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है कि रसोत्कर्ष के लिये ऐतिहासिक कथानक में भी कालिदास ने अदल बदल किया है (ध्वन्यालोक पृ० १४८)

पाँचवाँ परिच्छेद

कालिदास के काव्य

'क इह रघुकारे न रमते ।'—सुभाषित

('रघुवश' कार कालिदास में किस का मन न रमेगा !)

किसी सर्वोत्तम ग्रन्थ के लेखक का नाम एक बार प्रसिद्ध हुआ कि उसके पीछे उसी के नाम पर अनेक ग्रथ निकलने लगते हैं। स्वय प्रसिद्ध होने की अपेक्षा प्राचीन काल के ग्रथकार की यह इच्छा होती थी कि उसक बनाये हुये ग्रथों का आदर और प्रचार अधिक से अधिक हो । फलत बिल्कुल निम्न श्रेणी के ग्रथ भी प्रसिद्ध ग्रथकारों के नाम पर प्रचलित किये जाते रहे हैं। कभी कभी एक ही नाम के अनेक ग्रथकार भिन्न भिन्न समय में उत्पन्न होते हैं। समय के प्रचड प्रवाह में उनके व्यक्तिगत भेद नष्ट हो जाते हैं और उन्हीं में किसी एक प्रसिद्ध व्यक्तिविशेष में अन्य व्यक्ति लीन हो जाते हैं। सभवत कालिदास के सबध में भी ऐसा ही हुआ होगा। आफ्रेक्ट साहब ने अपनी 'बृहत्सस्कृतग्रन्थसूची' में कालिदास क नाम से प्रचलित तीस पैंतीस ग्रथों का निर्देश किया है। उन में काव्य नाटकों के अतिरिक्त ज्योतिष, रत्नपरीक्षा, देवतास्तुति इत्यादि भिन्न भिन्न विषयक ग्रथ है। इन में से बहुतसे ग्रथ तो कालिदास के नाम पर गढ़े हुये अथवा कालिदास के बहुत काल पीछे पैदा हुये कालिदासनामधारी किसी अन्य ग्रथकार क रचे हुये होंगे। उदा

हरणार्थ 'नलोदय' काव्य को लीजिये। कवि ने इस काव्य में यमक आदि शब्दालंकारों की बेहद भरमार कर दी है, और इसलिये बहुत से स्थलों पर अर्थ दुर्बोध हो गया है। 'रघुवंश' आदि काव्यों में कालिदास शब्दालंकारों के विशेष उत्सुक नहीं दिखाई पड़ते। इसलिये यह काव्य कालिदास का न होगा ऐसा विचार था। परन्तु अब तो 'नलोदय' की छान-बीन करने से वह ईसा के बाद दसवीं शताब्दी में उत्पन्न हुये वासुदेवनामक कवि का बनाया हुआ सिद्ध हो चुका है*। ऐसे काव्यों का यहाँ विचार करना हमें अभीष्ट नहीं।

'ऋतुसंहार', 'मालविकाग्निमित्र', 'कुमारसंभव', 'विक्रमोर्वशीय', 'मेघदूत', 'कुन्तलेश्वरदौत्य', 'शाकुन्तल' और 'रघुवंश' ये आठ ग्रंथ कालिदास के रचे हुये हैं। इनके अतिरिक्त 'सेतुबंध' अथवा 'रावणवहो' नामक प्राकृत काव्य में, जो प्रवरसेन के नाम पर प्रसिद्ध है, कालिदास का हाथ रहा होगा, ऐसा हमने पहले प्रकरण में अनुमान किया है। 'कुन्तलेश्वरदौत्य' को छोड़कर अवशिष्ट कालिदासरचित काव्य नाटक आज उपलब्ध हैं। 'कुन्तलेश्वरदौत्य' भी कालिदास की कृति है यह क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' (पृ० १३६) में कहा है। राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा' और भोज के 'शृंगार प्रकाश' नामक ग्रंथ में 'कुन्तलेश्वरदौत्य' से अवतरण उद्धृत किये गये हैं। अवशिष्ट ग्रन्थों में 'ऋतुसंहार' 'कुमारसंभव' 'मेघदूत' और 'रघुवंश' काव्य हैं तथा 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुंतल' नाटक हैं। ये आठ ग्रन्थ कवि ने इस पैराग्राफ के आरंभ में दिये गये क्रम के अनुसार रचे होंगे। इस परिच्छेद में हम कालिदास के काव्यों का तथा आगामी परिच्छेद

---

* A S R Aiyar Authorship of the Nalodaya, J R A S for 1926 P 263

में नाटकों का समीक्षण करेंगे।

कालिदास के काव्यों की समीक्षा करने के पहले उनके पूर्व कालीनकविकृत ग्रंथों का थोड़ा सा सिंहावलोकन करना आवश्यक है। यद्यपि अत्यन्त प्राचीन संस्कृतकाव्य-ग्रन्थ आजकल लुप्त हो गये हैं तथापि काव्यकला का उद्गम वैदिक काल में अच्छी तरह हो चुका था यह निश्चित है। जिन्होंने ऋग्वेद में अनेक अलकारों से विभूषित उषादेवी का सुन्दर वर्णन किया है, वरुण देवता के सूक्तों में जिन्होंने अपने हृदय के उद्गार व्यक्त कर क्षमायाचना की है। जिनके दाशराज्ञ—सूक्त के समान युद्ध—वर्णन अब भी ऋग्वेद में मौजूद हैं, क्या उन आदि ऋषिवर्यों को शृंगार, वीर, करुणात्मक काव्यरचना करना नहीं आता था? फिर भी ऊपर लिखे अनुसार उनके वे सब काव्य आज नाम-मात्र को भी विद्यमान नहीं हैं। वर्त्तमान काव्यों में सब से प्राचीन काव्य रामायण है। रामायण में वर्णित राम की पितृभक्ति, भरत का भ्रातृप्रेम आदि घटनायें अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं तथा कवि ने उन उन प्रसगों का वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया है। रामायण की विविध कल्पनाओं, शब्द प्रयोगों, उपमा आदि अलकारों से, अश्वघोष कालिदास आदि कवियों ने अपने काव्यों को अलकृत किया है। उदाहरण के लिये अश्वघोष के "बुद्धचरित" को लीजिये। इस काव्य में बुद्ध के अन्त पुर में सोती हुई स्त्रियों का वर्णन, रामायण के सुन्दरकाण्ड वर्णित हनुमान द्वारा देखे हुये रावण के अन्त पुर के वर्णन से मिलता जुलता है। कवि को यह कल्पना रामायण से मिली होगी। अन्यान्य महाकाव्यों की तरह इस में भी छन्दभेद रक्खा गया है।

किन्तु रामायण कितना ही हो एक धार्मिक भावना से रचा

हुआ महाकाव्य है। लौकिक दृष्टि से रचे हुये प्राचीन काव्यों का उल्लेख कहीं मिलता है या नहीं यह देखना चाहिये। पतञ्जलिकृत व्याकरण 'महाभाष्य' में उद्धृत उदाहरणों में कुछ काव्यों के श्लोकों के खंड यत्र तत्र दिखाई पड़ते हैं। ईसा के जन्म से १५० वर्ष पूर्व पतञ्जलि का जन्म हुआ था यह निश्चित है और इस कारण 'महाभाष्य' का महत्त्व भी अधिक है। 'वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः', 'प्रिया मयूर परिनर्नृतीति', 'प्रथते त्वया पतिमती पृथिवी' इत्यादि उदाहरण 'महाभाष्य' में प्रसंगवश आये हुये हैं। इन उदाहरणों से यह मालूम होता है कि पतञ्जलि के समय में विविधवृत्तविभूषित अलंकारयुक्त अनेक काव्य रहे होंगे। इस काल के उपरान्त भी काव्यनिर्माणकला प्रचलित थी, यह प्राचीन शिलालेखों से मालूम होता है। उदाहरणार्थ काठियावाड़ के जूनागढ़नामक नगर के निकट क्षत्रप रुद्रदामन् का संस्कृत शिलालेख है। उस शिलालेख से मालूम होता है कि जिसने यह लेख लिखा था वह काव्यकला का पूर्ण ज्ञाता था।

यद्यपि ये लेख आलंकारिक भाषा तथा काव्यदृष्टि से लिखे गये हैं, तथापि हैं वे सब गद्य में। कालिदास को जिन ग्रन्थों से प्रेरणा मिली होगी वे काल के गर्भ में समा गये हैं। दैवयोग से इन ग्रन्थों में से एक कवि अश्वघोष के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनसे तत्कालीन काव्यरचना की कल्पना की जा सकती है। अश्वघोष, अयोध्या का रहने वाला ब्राह्मण था। उसके रचे हुये काव्यों से पता चलता है कि वह उपनिषद्, भगवद्गीता, सांख्य आदि दर्शन शास्त्रों का पूर्ण पंडित था। कुछ समय के बाद वह बौद्धधर्मावलम्बी होगया। अश्वघोष के बनाये हुये 'सौन्दरनन्द' तथा 'बुद्धचरित' ये दो काव्य संस्कृतकाव्य-जगत् में अपने रचयिता का नाम अमर

रक्खेंगे। 'सौदरनन्द' में कुल अठारह सर्ग हैं। और उन सर्गों में भगवान् बुद्ध ने अपने सौतेले भाई को अपने चलाये हुये धर्म में दीक्षित किया, इस बात का वर्णन है। 'बुद्धचरित' के २७ सर्ग हैं। किन्तु उन में से केवल प्रथम १३ सर्ग अश्वघोषकृत और शेष चार अमृतानद कवि के बनाये हुये हैं। उन १३ सर्गों में बुद्ध के जन्म से लेकर मारविजय तक की घटनाओं का वर्णन है।

'सौन्दरनन्द' काव्य के अन्त में कवि ने यह स्पष्ट लिखा है कि यह काव्य उसने स्वांत सुखाय नहीं अपितु सासारिक विषयोपभोग म डूबी हुई जनता का ध्यान बौद्धधर्म की शिक्षा के अनुसार वर्णित मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करने के लिये लिखा था। अश्वघोष स्वय एक प्रतिभाशाली कवि था और रामायण आदि ग्रन्थों का अनुशीलन करने के कारण वह अपने काव्यों को रुचिर और काव्यगुणों से पूर्ण बना सका। उसकी कविता सरल और अन्याजमनोहर है। बुद्ध तथा नद के चरित्रों में कवि ने चुने हुये प्रसगों का वर्णन अलकारमडित भाषा में किया है। नद के भिक्षु बन जाने पर उसकी हृदयेश्वरी सुदरी का विलाप, गौतम के उद्यान में जाते समय पौर स्त्रियों की जल्दबाजी, जिस रात्रि में गौतम ने गृहत्याग किया उस अवसर पर देखा हुआ स्त्रियों का बीभत्स रूप, गौतम को वन में छोड़कर छदक का अकेले कपिलवस्तु लौटना, तथा गौतम के वियोग में पुरवासियों का विलाप इत्यादि वर्णन इतने करुणो त्पादक हैं और कवि ने उसे इतना मार्मिक बनाया है कि उसे सुनकर सहृदय जनों के हृदय में करुण रस का आवेग उमड़ पड़ता है। पहले परिच्छेद में हम अश्वघोष तथा कालिदास के काव्यगत कुछ कल्पनासाम्य के स्थलों को दिखा चुके हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि कालिदास ने अश्वघोषकृत कान्यों का अच्छी तरह

अभ्यास किया होगा । कालिदास की रचना पर अश्वघोष की पूरी छाप पड़ी हुई है । इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें अश्वघोष और कालिदास की रचना में केवल शब्दसादृश्य ही नहीं बल्कि अर्थ और अलंकारगत सादृश्य भी मिलता है । उदाहरणार्थ—

बभूव स हि संवेग श्रेयसस्तस्य वृद्धये ।
धातोरधिरिवाख्याते पठितोऽक्षरचिन्तकै ॥ सौंदरनंद १२, ६

इस प्रकार की व्याकरणविषयक उपमा, 'यथावदेन दिवि देवसंघा दिव्यैर्विशेषैर्महयाञ्च चक्रु' और 'कार्यस्य कृत्वा हि विवेक मादौ सुखोधिगन्तु मनसो विवेक' इत्यादि अपाणिनीय प्रयोगों का अनुकरण कालिदास ने किया है* । किंतु स्वयं कालिदास निर्दोष तथा बड़ी सावधानी से रचना करने वाले कवि थे । उन्होंने अश्वघोष के काव्यों की अनेक त्रुटियाँ निकाल दी हैं । उदाहरणार्थ 'आकाङ्क्षाम्' 'अवर्धिष्ट' सदृश कर्णकटु शब्द प्रयोग, 'नृपोपविश्य' के समान संधि का तथा 'गृह्य', 'विवर्धयित्वा', 'परिपालयित्वा' जैसे अशुद्ध क्रियारूप, भट्टि काव्य के समान 'अवर्धिष्ट' 'अवृधत्' आदि तृतीय भूतकाल के वैकल्पिक क्रियारूपों के प्रयोगों का बाहुल्य अनुचित समझ कर कालिदास ने उन्हें सतर्क होकर त्याग दिया है । अश्वघोष के काव्यगत यथासंख्य, पादांत यमक जैसे नीरस तथा कृत्रिम अलंकार और पढने में क्लिष्ट तथा व्यवहार में न आने वाले कठिन छंदों को कालिदास ने बड़ी होशियारी से अपनी रचना में नहीं आने दिया । उन्होंने भ्रमर के सदृश वृत्ति धारण कर अश्वघोष के काव्यगत केवल सुंदर वर्णनों को अपने लिये चुना और अपने काव्यों में उनका समावेश किया ।

---

* रघुवंश १५, ६, ६, ६१, ४, ३ देखिये ।

अश्वघोष के बाद उससे अधिक सरस काव्यरचना करने वाले अनेक प्रतिभाशाली कवि हुये होंगे, किंतु उन में से आज एक का भी काव्य उपलब्ध नहीं। कालिदास के पहले भी कितने सुंदर और निर्दोष काव्य होते थे इसका पता प्रयागस्थ शिलास्तंभ प्रशस्ति* से चलता है। यह प्रशस्ति चंपू काव्य का एक सुंदर उदाहरण है। उसका प्रथमार्ध पद्य तथा द्वितीयार्ध बहुधा गद्य में है। इसके गद्य में आलंकारिकों के विधान के अनुसार सामासिक पदों की बहुलता होने पर भी, अनुप्रास, उपमा, श्लेष आदि अनेक अलंकारों के परिमित उपयोग और शब्द माधुर्य से विशेष रमणीयता आ गई है। शिलास्तंभ का पृष्ठभाग कई जगह विकृत हो जाने से प्रशस्ति का पूर्वार्ध यत्र तत्र खंडित हो गया है। तथापि निम्नलिखित श्लोक से उसके रचयिता हरिषेण की काव्यप्रतिभा का अंदाज लग सकता है।

आर्यो हीत्युपगूह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभि
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेह व्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ॥

इस श्लोक में चन्द्रगुप्त ने अपनी वृद्धावस्था में समुद्रगुप्त को जिस समय सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाया उस समय का हृदयंगम वर्णन है। इस श्लोक की तारीफ में डा॰ बूलर ने मुक्तकंठ से कहा है कि 'इस प्रसंग का वर्णन इससे कम शब्दों में और अधिक सजीवता से चित्रित करसकना कठिन है। इस श्लोक में एक शब्द भी अधिक नहीं है। उक्त श्लोक पढ़ते समय वृद्ध चन्द्रगुप्त की राजसभा का दृश्य आँखों के सामने आजाता है। एक ओर राज्यसिंहासन हमें ही प्राप्त हो इस अभिलाषा में उसके

* Fleet Gupta Inscriptions, No 1

पुन बैठे हैं, तथा दूसरी ओर सम्राट् किसी अयोग्य व्यक्ति को राज्य का उत्तराधिकारी न बनादें इस आशका से भयभीत सभासद निर्णय की प्रतीक्षा में बैठे हैं। ऐसे प्रसग में 'यही केवल योग्य अधिकारी है' ऐसा कहकर रोमाञ्चित तथा गद्गद् चित्त से चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त का आलिगन किया और प्रेमाश्रुपूर्ण तथा तत्त्वान्वेषी नेत्रों से उसे देखकर कहा कि 'तू इस सारी पृथ्वी का पालन कर'। यह सुनकर अन्य राजकुमारों के मुख निष्प्रभ हो गये और सभासदों ने सन्तोष की साँस ली। यह पद्य बहुत थोड़े शब्दों में भावगभीर सरस एव उज्ज्वल चित्र को अङ्कित करने वाली भारतीय काव्य कला का उत्तम उदाहरण है।' इसके पश्चात् यदि 'मेघदूत' जैसे सर्वांग सुदर सर्वोत्तम काव्य की रचना हुई तो इसमें क्या आश्चर्य ?

ऋतुसंहार

कालिदासकृत काव्यों में 'ऋतुसहार' निम्न श्रेणी का ग्रन्थ माना जाता है। कई विद्वानों को सन्देह है कि कदाचित् उक्त काव्य कालिदास का बनाया नहीं। परन्तु उनकी यह शका निर्मूल है। यह अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' में 'ऋतुसहार' के दो श्लोक (६, १७ और ९०) उद्धृत किये गये हैं। प्रथम परिच्छेद में हम यह दिखला चुके हैं कि ईसा के ४७३ वर्ष पीछे मदसोर की प्रशस्ति में 'ऋतुसहार' के कुछ श्लोकों की छाया है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि यह काव्य ईसा की ५वीं शताब्दी से पहले का है। कालिदास को ऋतुवर्णन बहुत प्रिय था। उन्होंने अपने प्रत्येक काव्य में किसी न किसी एक ऋतु का वर्णन किया है। 'कुमारसभव' में वसत का, 'विक्रमोर्वशीय' और 'मेघदूत' में वर्षाऋतु का, 'शाकुन्तल' में ग्रीष्म का, तथा 'रघुवश' में सभी ऋतुओं का वर्णन कवि ने किया है। सरस्वती देवी की

आराधना करते समय प्रकृति के वर्णन को छोड़कर और कौनसा सरल एवं सरस विषय कवि अपने लिये चुनेगा ? इस तरह के काव्य में किसी कथानक का संबंध न रहने से जब स्फूर्ति होती है तब श्लोक बनाकर पीछे से जोड़ सकते हैं। हमने द्वितीय परिच्छेद में कहा है कि दूसरी और तीसरी शताब्दी में हिंदुस्थान में कुशान साम्राज्य होने के कारण पूर्वीय तथा पश्चिमीय देशों से व्यापार की अधिक उन्नति हुई। संपत्ति का प्रवाह देश में सब ओर से बहने लगा। ऐश्वर्य के साथ साथ विलासप्रियता भी बढ़ी। परिणाम यह हुआ कि मध्यश्रेणी के लोगों की रुचि ललितकलाओं की ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुई। वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' में नागरिकों की विविधकलाभिज्ञता और विलासप्रियता का अच्छा वर्णन है। उनके इन गुणों से ललितकला को और साहित्य को कहाँ तक प्रोत्साहन मिलता था, इसका पता लगता है। प्रत्येक नागरिक के घर के खास दीवानखाने में कुछ ऊँचे स्थान पर केशरचना के लिये आवश्यक सामग्री, पुष्पमाला, ताम्बूल, गुलाबजल तथा अन्य सुगन्ध द्रव्य सजे रक्खे रहते थे। कानिस्त पर वीणा, चित्रलेखन के लिये आवश्यक रंग तूलिकादि वस्तुयें और पास ही एक दो काव्य भी रक्खे हुये दिखाई पड़ते थे। संध्यासमय नागरिक ऋतु के अनुसार अच्छी पोशाक पहन कर, जैसे आजकल के जैंटल्मेन क्लबों और सोसायटीज़ में मनोरंजन करने के लिये जाया करते हैं, उसी तरह उस काल में लोग गोष्ठी या जहाँ पर मित्रों या रसिकों की बैठक जमा होती थी, जाया करते थे। तात्कालिक काव्यरचना, समस्यापूर्तियाँ, प्रतिमालास्पर्धा (अन्त्याक्षरप्रतियोगिता) आदि मनोविनोदात्मक कार्यों में संध्या का समय बिताया जाता था। उक्त स्थानों पर समय समय पर विविधकलाभिज्ञ, चतुर, विदुषी वेश्याओं

को भी आमन्त्रित किया जाता था। या उन्हीं के घर कभी कभा मडली जमा हुआ करती थी। ऐसे ही प्रसगा पर शायरचना और कलाप्रवीणता प्रदर्शित करने के लिये परस्पर प्रतिस्पधा प्रारम्भ हा जाती थी। ऋतुवणन के समान विषय ऐसे समय ही सूझते हैं। जिस समय 'ऋतुसहार' रचा गया होगा उस समय कालिदास का किसी राजा का आश्रय नहीं मिला होगा। कारण यह है कि इस काव्य में राजसभा या राजाश्रय का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। कुछ श्लोक तो एक ही कल्पना को लेकर दुहराये गये हैं। कुछ श्लोक अपनी प्रिया को लक्ष्य करके लिखे गये हैं। कई श्लोकों में 'स्त्रियो के सहवास में तुम्हारा ग्रीष्मकाल सुखदायी हो' ऐसा भाव पुरुषो को सबोधित करके प्रगट किया गया है। इन सब बातों से पता चलता है कि कालिदास ने यह खण्ड काव्य नागरिकसमाज में बनाया गया होगा।

'ऋतुसहार काव्य' में कुल छ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में १६ से लेकर २८ तक श्लोकसख्या है। इन सर्गों में ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त इन छ ऋतुओं का क्रमानुसार वणन किया गया है। प्रत्येक ऋतु के वर्णन में उस ऋतु का वृक्ष-लताओं और पशुपक्षियों पर होने वाला प्रभाव तथा उसके आगमन से कामी जनों की चित्तवृत्ति और व्यवहार में दिखाइ देनेवाले परिवतन तथा उनके हृदयों में तरह तरह के विचारों का उत्थान, इन सब का कवि ने सुदर वर्णन किया है। उदाहरणार्थ ग्रीष्म ऋतु का वणन देखिये —

> रवेर्मयूखैरभितापितो भृश विदह्यमान पाथ तप्तपासुभि ।
> अवाङ्मुखो जिह्मगति श्वसन्मुहु फणी मयूरस्य तले निषीदति ॥
>
> ऋतु० १, १२

इस श्लाक में कवि ने बताया है कि 'सूय की अत्यन्त प्रखर किरणों द्वारा ऊपर से और गरम गरम धूल से नीचे से गरमी पहुँचने के कारण झुलसा हुआ और व्याकुलता के कारण जल्दी जल्दी श्वास छोड़नेवाला वक्रगति सर्प अपना सहज जातिवैर भूलकर मयूर की छाया का सहारा ले रहा है । ग्रीष्म काल की चादनी बहुत भली मालूम होती है । ठडे पानी में डूबे रहने के लिये जी चाहता है । रात म भवन के ऊपर खुली छत पर प्रियासहित कामोद्दीपक सुरापान और वीणा-वादन में कामी जन रात्रि का समय विताते हैं । निशा में स्वच्छ सफेद घरों के ऊपर छत पर सुखनिद्रालीन रमणियों की मुखकान्ति देखकर चद्रमा लज्जा से फीका पड़ जाता है' इत्यादि वर्णनद्वारा कवि ने ग्रीष्म ऋतु में होनेवाला कामी जनों की चित्तवृत्तिजन्य परिणाम दिखाया है । ग्रीष्म के बाद वर्षा का आगमन होता है । उस समय प्यासे चातक पक्षियों की याचना पर जलभारविनम्र मनोहर गर्जनध्वनि करते हुये मेघ जल वरसाते हैं और पथिकों को अपनी प्रेयसियों का विरह सताता है, इत्यादि विषय इस ऋतु में वर्णन किये गये हैं । शरद् का वर्णन देखिये—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टि
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥ ऋतु० ३, १

'सफेद काश की सुदर साड़ी पहने हुये, विकसित कमल ही जिसका मनोहर मुख है, उन्मत्त हसों की ध्वनि ही जिसके नूपुरों की आवाज़ है, पके हुये धान ही जिसका सुन्दर कृश शरीर है, ऐसी नववधूसदृश रमणीय यह शरद् ऋतु आई है' । इसके बाद शरद्

ऋतु की रातें चन्द्र की प्रभा से, नदियाँ हंसा से, सरोवर सारस पक्षियों से, वनस्थली पुष्पभार से विनम्र, सप्तपर्ण वृक्षों से, तथा उपवन मालती पुष्पों से श्वेत दिखाई पड़ते हैं। चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में कवि ने हेमन्त तथा शिशिर ऋतु का वर्णन किया है। किन्तु यह वर्णन पहिले तीन सर्गों के समान मनोहर नहीं है। इन ऋतुओं में प्रकृतिसुन्दरी के नेत्राल्हादक पुष्पादि अलंकार नहीं दिखाई पड़ते इसलिये कवि ने केवल चार पाँच श्लोकों में ही प्रकृति का वर्णन समाप्त कर दिया है। अन्य श्लोकों में युवा युवतियों की प्रेमलीला का वर्णन है। अन्त में वसन्त का वर्णन अधिक रमणीय हुआ है। इस ऋतु में वृक्ष सपुष्प, सरोवर पद्मयुक्त, कामिनियाँ कामवश, पवन परिमलयुक्त, संध्यासमय सुखकारी तथा दिन रमणीय होते हैं। कवि ने एक ही श्लोक में इस ऋतु की रमणीयता का दिग्दर्शन कराया है। यह वर्णन अत्यन्त मनोहर है, स्वाभाविकता की अच्छी मात्रा दीख पड़ती है। वसंत समीर का वर्णन देखिये—

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखा
विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां
नीहारपातविगमात् सुभगो वनान्ते ॥ ऋतु० ६, २२

'कुहरा नष्ट हो जाने से सुखकारी वायु बौरे हुये आमों की डालियों को हिलाकर, कोकिल के कलकूजन को चारों तरफ फैलाकर लोगों के हृदयों को अपनी ओर खींच रहा है' इत्यादि वर्णन है। इस श्लोक में कालिदासरचित उत्तरकालीन काव्य के गाम्भीर्य, लालित्य आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं।

उपर्युक्त वर्णनों से तथा 'ऋतुसंहार' के अन्य श्लोकों द्वारा यह ज्ञात होता है कि कवि का मन बाह्यसृष्टि तथा शृङ्गार की ओर

अधिक झुका हुआ है। 'ऋतुसंहार' में कवि ने स्वभावोक्ति की ओर विशेष ध्यान दिया है । कई जगह उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का अच्छा निर्वाह हुआ है । किन्तु उत्तरकालीन काव्यों के अलंकारों की रमणीयता दृष्टिगोचर नहीं होती । अर्थान्तरन्यास जैसे ललित और मधुर अलंकार का उदाहरण 'ऋतुसंहार' में एक भी नहीं। कवि की शब्द-रचना में भी लालित्य नहीं आ पाया है। कई जगह पुनरुक्ति, 'तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिता पयोधरा' (२, २६) इत्यादि स्थलों में लतादि शब्दों का अनावश्यक प्रयोग, कहीं कहीं व्याकरणनियमभंग आदि दोष भी मिलते हैं। उक्त काव्य की रचना के समय, कालिदास की आँखों के आगे वाल्मीकि-रामायण के किष्किंधाकाण्ड में वर्णित वर्षा तथा शरद् का वर्णन रहा होगा। तुलना के लिये शब्दप्रयोग और कल्पना का साम्य नीचे दिये हुये उदाहरणों में देखिये—

रामायण—

बाले द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन ।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥ ४,२८,२४

ऋतुसंहार—

प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥ २, ५

'चमकते हुये मरकत मणि के समान हरे तृणाकुरों से छाई हुई और निकले हुये कदलीदलों से व्याप्त भूमि, नीलमणियों के अलंकारों से अलङ्कृत वाराङ्गना जैसी शोभित हो रही है'।

वर्षाऋतु में हरित तृण पर लाल रंग की बीरबहूटियाँ दिखाई देती हैं। उनका वर्णन रामायण में लाख की उपमाद्वारा तथा ऋतुसंहार में लाल मणि की उपमाद्वारा किया गया है। कालिदास

की उपमा सरस है, फिर भी वाल्मीकि ने नूतन हरित तृण को भूमि के हरित वसन की मनोहर उपमा दी है। कालिदास वहाँ तक पहुँच भी नहीं सके। रामायण के अन्य श्लोकों में भी कवि ने नई नई कल्पनाओं तथा उत्प्रेक्षादि अलंकारों का यथोचित निर्वाह करके ऋतुवर्णन को अधिक से अधिक रमणीय बनाया है। 'ऋतुसंहार' का ऋतुवर्णन इसके आगे कुछ नीरस और मामूली सा दिखाई पड़ता है। फिर भी इस काव्यद्वारा कवि के मार्मिक सृष्टि निरीक्षण की उज्ज्वल नैसर्गिक प्रतिभा की तथा विकासोन्मुख कला नैपुण्य की कल्पना हमारे सामने आती है। इसी से यह अनुमान किया जा सकता है कि अपने इस काव्य के कारण कालिदास की विशेष ख्याति हुई होगी। इसके बाद शीघ्र ही द्वितीय चन्द्रगुप्त ने वाकाटकों की सहायता से क्षत्रपों का पराभव कर उनके मालवा और काठियावाड़ प्रान्तों को अपने राज्य में संमिलित किया और उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया। वाकाटकों के साथ स्थापित संबंध को सुदृढ करने के लिये उसने अपनी बेटी प्रभावती का रुद्रसेन वाकाटक के साथ विवाह कर दिया। उस विवाहोत्सव के समय कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र' नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया होगा। इस नाटक के संबंध में अगले परिच्छेद में विचार किया जायगा। इस नाटकद्वारा कालिदास और चन्द्रगुप्त का जो स्नेहसंबंध जुड़ा वह उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया। कुछ समय के बाद चन्द्रगुप्त के ध्रुवदेवी रानी से कुमारगुप्तनामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अवसर पर कालिदास ने 'कुमारसंभव' काव्य की रचना की होगी। हम अब इसी काव्य का समीक्षण करते हैं—

कुमारसंभव

अब तक प्राप्त हुई 'कुमारसंभव' की प्रतियों में सत्रह सर्ग हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि इसमें पहले २२ सर्ग थे। इसके विपक्ष में कुछ लोगों का यह भी कहना है कि कालिदास इस काव्य को पूर्ण नहीं कर सके तथा आरभ के ८ सर्ग ही वास्तव में कालिदास के रचे हुये हैं। साथ ही सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथकृत सजीविनी टीका भी प्रथम ८ सर्गों पर ही मिलती है आगे नहीं। इन बातों पर हम आगे विशेष प्रकाश डालेंगे। अस्तु।

एक बार ब्रह्मा के वरदान से उन्मत्त होकर तारकासुर ने देवताओं को बहुत सताया। देवताओं ने ब्रह्माजी के आदेशानुसार शिव और पार्वती का विवाह करा दिया। फलत दोनों के सयोग से कार्तिकेय की उत्पत्ति हुई। तारकासुर के वध के लिये उनको सेनापति बनाया गया और उनके हाथों उस उग्र असुर का सहार हुआ, यह कथा इस काव्य में वर्णित है। इसके प्रथम सर्ग में कवि ने हिमालय का बहुत ही सुदर वर्णन किया है। आगे पार्वती जन्म और उसके शैशव और यौवन का मनोहर वर्णन है। एक बार पार्वती को उसके पिता के निकट बैठी देख महर्षि नारद ने भविष्य-वाणी की कि यह कन्या शिव की अर्धांगिनी होगी। उनकी इस बात पर विश्वास कर हिमालय ने उसके यौवन में पदार्पण करने पर भी विवाह की ज़रा भी चिन्ता न की। उस समय भगवान् शकर हिमालय पर ही तप कर रहे थे। उनकी सेना करने की आज्ञा पर्वतराज ने अपनी पुत्री को दे दी (सर्ग १)। इसी समय तारका सुर के त्रास से डर कर देवता लोग ब्रह्माजी की शरण में गये। उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर उन्होंने देवताओं से कहा कि 'मैं स्वय उसे वरदान दे चुका हूँ। इसलिये उसका नाश करना मेरे लिये असम्भव है। आप लोग यत्न कर पार्वती-परमेश्वर का परिणय कराइये। उनसे उत्पन्न हुआ पुत्र तारकासुर को मारकर तुम्हें निर्भय

करेगा।' (सर्ग २)—। इन्द्र ने अपनी सभा मे कामदेव को बुलाया और समाधिस्थ शकर के हृदय में पार्वती के प्रति आकर्षण पैदा करने का भार उसे सौंपा। मदन अपनी पत्नी रति तथा मित्र वसन्त को लेकर हिमालय पर गया। वहाँ शिवजी के हृदय में कामवासना का बीज बोने के लिये सर्वप्रथम वसन्त ने सर्वत्र अपना साम्राज्य स्थापित किया। शिवजी जिस जगह ध्यानस्थ बैठे थे उस लतागृह के द्वार पर नदी पहरा दे रहा था। उसकी आँख बचाकर मदन अदर चला गया। योगस्थ भगवान् शिव उस समय परमात्मदर्शन म लीन थे। कुछ काल के अनन्तर समाधि टूटने पर उनकी अनुमति से नदी ने पार्वती को भीतर आने दिया। पार्वती ने उनके चरणों मे पुष्पाञ्जलि अर्पण कर गगा नदी मे उत्पन्न हुये कमलों के शुष्क बीजों की माला शिवजी को भेंट करने के लिये आगे बढ़ाई। माला स्वीकार करते समय बहुत अच्छा मौका पाकर मदन ने अपने धनुष पर सम्मोहन नामक बाण चढ़ाया। परिणाम यह हुआ कि शिवजी की चित्तवृत्ति क्षणभर के लिये चचल हो उठी, किन्तु उन्होंने तुरन्त उस वृत्ति का दमन कर चित्त को वश में किया और वे उस कारण को ढूँढ़ने लगे जिससे उनके मन में विक्षोभ हुआ था। सामने निगाह डाली तो मदन को धनुष पर बाण चढ़ाये आगे खड़ा देखा। बस फिर क्या था! मारे क्रोध के उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोल दिया और उससे जो भयकर अग्नि निकली, उसमें मदन जलकर भस्म हो गया (सर्ग ३)। अपने पति की यह दुर्दशा देख रति एकदम मूर्च्छित हो गई। जब उसे कुछ होश हुआ तो वह बहुत विलाप करने लगी। उसे सान्त्वना देने के लिये उसके प्रियतम का सखा वसत वहाँ आया। उसे देख रति का दुख दुगुना हो उठा। वह पिछली बातें याद कर फूट फूट कर रोने लगी। अत्यत दुख के

कारण वह देहत्याग करना ही चाहती थी कि इतने में आकाश वाणी हुई 'शिवजी जिस समय पार्वती का पाणिग्रहण करेंगे उस समय वे मदन को अवश्य प्राणदान देंगे । तब तक तू अपनी देहरक्षा कर' (सर्ग ४) । अपनी नज़र के आगे मदन का दहन देख पार्वती को अत्यन्त निराशा हुई और वे शिव की प्राप्ति के लिये कठोर तपश्चर्या करने लगीं । उनकी तपश्चर्या से प्रसन्न हो शिव ब्रह्मचारी का वेष धारण कर तप से कृश शरीर पार्वती के पास आये । उन्होंने ब्रह्मचारी की पूजा की । ब्रह्मचारी ने उनसे यह प्रश्न किया कि सब प्रकार के अनुकूल सुखसाधनों के होने पर भी इस यौवनकाल में कठोर तपस्या करने का कारण क्या है ? परन्तु पार्वती की सखीद्वारा शिवजी को ज्ञात हुआ कि ये उन पर मोहित हो चुकी हैं और उनको पाने के लिये ही घोर तपस्या कर अपने सुकुमार शरीर को कठिन कष्ट दे रही हैं । इतना हाल मालूम होने पर ब्रह्मचारी ने शिवजी की खूब निन्दा की । उनके सर्पभूषण का, रक्तबिन्दु टपकनेवाले गजचर्म के दुपट्टे का, श्मशान-वास का, दरिद्रता का, तथा तीसरे नेत्र के होने से उत्पन्न हुई कुरूपता का खूब निन्दात्मक वर्णन किया और ऐसे कुरूप वर को पाने के लिये इतनी कड़ी साधना करने का प्रत्याख्यान किया । ब्रह्मचारी के भाषण को सुनते ही पार्वती का क्रोध भड़क उठा और उन्होंने उनकी बातों का खण्डन कर अपना शिवजी को वरण करने का अटल निश्चय सूचित किया । ब्रह्मचारी फिर कुछ कहने को ही थे कि पार्वती उठकर जाने लगीं । तब शंकर ने प्रगट होकर उन्हें दर्शन दिया और जाने से रोक कर कहा कि मैं तुम्हारी कठिन तपश्चर्या से प्रसन्न होकर आज से तुम्हारा दास हो गया हूँ (सर्ग ५) । इसके बाद शिवजी ने अरुन्धतीसहित सप्तर्षियों को भेजकर पार्वती की सगाई

मागी। हिमालय ने पत्नी से सलाह कर, शकर का यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किया (सर्ग ६)। शुभ मुहूर्त में पार्वती के साथ शिवजी का परिणय हुआ। इस मांगलिक अवसर पर पार्वती की वेष भूषा का उनकी सखियों से किये हुये हासपरिहास का, विवाह के लिये प्रस्थान करते समय शिवजी के परिवार का, उनके पुर प्रवेश के समय नगरस्त्रियों की जल्द-बाजी का तथा विवाहोत्सव का विस्तृत और अत्यन्त रमणीय वर्णन कवि ने किया है (सर्ग ७)। विवाह होने के बाद शिव ने पार्वती के साथ विविध भोगविलास में सैकड़ों ऋतुयें बिता दीं (सर्ग ८)। तब इन्द्रादि देवताओं ने अग्नि को कबूतर बनाकर शिव-पार्वती के विलास स्थल पर भेजा। पहले तो शिवजी को बड़ा क्रोध आया किन्तु अग्नि ने उन्हें वस्तुस्थिति का पूरा ज्ञान कराया तब वे प्रसन्न हुये और उन्होंने अपना वीर्य उसमें स्थापित किया। अग्नि को यह सहन न हुआ तो उसने इन्द्र के कहने से स्वर्ग की गंगा में उस वीर्य को डाल दिया (सर्ग ९)। गंगा भी उसे धारण न कर सकी तो उसने वहाँ स्नान के लिये आई हुई छः कृत्तिकाओं के शरीर में उसे डाल दिया। इससे उनको गर्भ रह गया। उस गर्भ का भार षट्कृत्तिका सह न सकीं इसलिये उन्होंने वेतसवन में छोड़ दिया और आप चली गईं (सर्ग १०)। उसी समय शिव और पार्वती विमान में बैठे हुये उस मार्ग से जा रहे थे, उनकी दृष्टि उस बालक पर पड़ी। वे उसे अपने वीर्य से उत्पन्न समझ कर अपने घर उठा लाये। वह केवल छः दिन की अवधि में बड़ा होकर सकल शस्त्र और शास्त्रों में पारंगत हो गया। इस तरह कुमार की उत्पत्ति हुई (सर्ग ११)। आगे इन्द्रादि देवताओं की प्रार्थना करने पर शिवजी ने उसे देवसेना का सेनापतित्व देकर स्वर्ग भेज दिया (सर्ग १२)। सेनानी स्कंद को आगे कर देवताओं ने

तारकासुर पर चढ़ाइ कर दी (सर्ग १३) । उसने भी लड़ाई की तैयारी की और बुरे शकुन होने पर भी कुमार के साथ उसने युद्ध किया। बड़ा लोमहर्षण युद्ध हुआ और अत में कुमार के बाण से तारकासुर मारा गया। स्वग से देवियों ने कुमार पर पुष्पवृष्टि की। अब इन्द्र निश्चिन्त हो गया। (सर्ग १४–१७)।

'कुमारसभव' के १७ सर्गों में केवल ८ सर्गों पर ही अरुण गिरिनाथ, मल्लिनाथ आदि की टीकायें उपलब्ध हैं। इस काव्य का 'कुमारसभव' नाम होने से कुछ लोगों का यह अनुमान है कि कवि ने कुमार के जन्म तक की घटनाओं का वर्णन किया होगा। किन्तु यह बात युक्तिसगत नहीं है। कारण कि कुमारगुप्त के जन्मोत्सव पर उक्त काव्य की रचना किये जाने से, सभव है कालिदास ने इस काव्य को यह नाम विशेष अभिप्राय से दिया हो। इसके अतिरिक्त इन प्रथम ८ सर्गों में कुमारजन्म तक भी कथानक की प्रगति नहीं हुई है, यह बात ऊपर दिये हुये साराश से स्पष्ट होती है। अत यह काव्य अधूरा ही रह गया होगा, ऐसा अनुमान कर सकते हैं। सातवें तथा आठवें सर्ग में शिवपार्वती के सभोग का वर्णन बहुत ही उत्तान तथा मर्यादारहित हुआ है और उसके सुरुचिपूर्ण न होने से आनदवर्धनादि अलकारशास्त्रियों ने कवि को दोषी ठहराया है (ध्वन्यालोक पृ० १४७)। कहते हैं कि शृङ्गार के नग्न वर्णन से पार्वती ने क्रुद्ध होकर शाप दिया। फलत यह काव्य अपूर्ण ही रह गया। टीकाकार अरुणगिरि ने इस किंवदन्ती का स्पष्ट उल्लेख किया है। इन बातों से पता चलता है कि कालिदास के समय में ही इस तरह के आक्षेप होने लग गये थे। सभवत इसी से कालिदास ने 'कुमारसभव' को अपूर्ण ही रहने दिया। कारण कुछ भी हो नवम सर्ग के बाद के सर्ग कालिदास के रचे हुये नहीं हैं। पहिले भाग के

सर्गों की अपेक्षा दूसरे भाग के सर्गों की श्लोकसंख्या कम है। साठ श्लोकों से कम श्लोकवाले सर्ग संपूर्ण 'रघुवंश' में दो तथा 'कुमारसंभव' के अष्टसर्गात्मक पहिले भाग में एक ही है। इसके विरुद्ध 'कुमारसंभव' के उत्तरार्ध के नव सर्गों में सात सर्ग ऐसे हैं जिन में साठ से कम श्लोकसंख्या है। इन सर्गों की भाषाशैली भी पूर्वार्ध की भाषाशैली की अपेक्षा भिन्न कोटि की है। उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का निर्वाह उस खूबी से नहीं किया गया है जैसा कि कालिदास के अन्य ग्रंथों में दीखता है। 'उपा निशत्सुरेन्द्रेणादिष्टं सादरमासनम्', (१०, ४) इत्यादि स्थानों में यतिभङ्ग, 'परित्यजध्वम्' (१२, ३६), 'मद्विग्रहमधि' (१०, १२), 'शत्रुविजेष्यमाणम्' (१३, २१) आदि अशुद्ध प्रयोग, 'च' 'हि' के समान पादपूरक अव्ययों का अधिक मात्रा में प्रयोग, 'अहो अहो देवगणा सुरेन्द्रमुख्या शृणुध्व वचनं ममैते।' (१२, ५४) जैसी नीरस रचनायें तो यही घोषित करती हैं कि 'कुमारसंभव' को अपूर्ण देखकर कालिदास के उत्तरकालीन निम्न कोटि के किसी कवि ने इसे बड़े साहस के साथ पूरा कर डाला। अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित' के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। हम पिछले परिच्छेद में इस पर प्रकाश डाल चुके हैं। अस्तु।

इस काव्य में महादेव, पार्वती और मदन यही तीन मुख्य पात्र हैं। इन्हीं के स्वरूप, स्वभाव और विविध चेष्टाओं के वर्णन में कवि ने अपनी सारी शक्ति व्यय कर दी है। महादेव तथा पार्वती एक महान् असाधारण, दिव्य दम्पती हैं। एक त्रैलोक्य का पिता दूसरी जगन्माता—ऐसे अलौकिक विभूतियों के मानसिक विकारों का वर्णन करते समय अनौचित्य का परिहार करना अत्यावश्यक था। परन्तु यदि केवल अद्भुत रूप में ही कवि वर्णन करता तो संभव है

पाठक उन्हें इतने प्रेम से न अपनाते । कवि ने इस मर्यादा को अत्यन्त कुशलतापूर्वक निभाया है । महान् इन्द्रियनिग्रही, सदैव तपश्चर्या में सलग्न, चित्त को किंचित् भी चचल होते देख उसका कारण ढूँढकर, कारणभूत कामदेव को प्राणान्त दण्ड देनेवाले कठोरहृदय भगवान् शकर पार्वती की उग्र तपश्चर्या तथा उनके सहज प्रेम से प्रसन्न हो जाते हैं, फिर उनके साथ विवाह की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं । उनके साथ विविध विलासयुक्त प्रणयकेलियाँ करते हैं । सन्ध्यावन्दनादि नित्य साधनानुष्ठान में जब अधिक समय लग जाता है तो पार्वती रुष्ट हो जाती हैं । वे उनसे अनुनय विनय करते हैं । इत्यादि बातों का वर्णन कवि ने अत्यन्त रमणीय रूप में किया है । अपने अनुपम सौन्दर्य का जिन्हें बड़ा अभिमान है परन्तु मदन का दहन हो जाने पर जिन्हें बड़ी निराशा हुई और फिर महादेव की प्राप्ति के लिये अत्यन्त घोर तपस्या करके जिन्होंने अपने अतिसुकुमार शरीर को कड़े कष्ट दिये, गुरु जनों के सन्मुख अत्यन्त नम्र, किन्तु दुर्जनों को अपने वाग्बाणों से घायल करनेवाली, पति के सध्यावदन में अधिक समय लग जाने से सपत्नीसमान मत्सरग्रस्त पार्वती का वर्णन कवि ने बड़ी कुशलता से किया है । उसी तरह विश्व में अपना सर्वत्र स्थापित प्रचड साम्राज्य देख अभिमानमूर्ति, साक्षात् योगिराज शकर को भी मोह में डालने की गर्वोक्ति करनेवाला, किन्तु हृदय में सशक होने के कारण नदी की आँख बचाकर शकर के आश्रम में चोर की भाँति प्रवेश करनेवाला मदन भी बड़ी निपुणता से चित्रित किया गया है ।

पहले आठ सर्गों के सभी वर्णन कवि ने बड़ी ही कुशलता से किये हैं । फिर भी आरभ में हिमालय का वर्णन, तीसरे सर्ग में

आकस्मिक वसत ऋतु के आगमन से वनश्री का वर्णन, चौथे सर्ग में रति विलाप, पचम सर्ग में ब्रह्मवेशधारी शिव तथा तपस्विनी पार्वती का सवाद—ये विषय बहुत ही उत्कृष्ट प्रसादपूर्ण शैली में अकित किये गये हैं। इस काव्य में शृङ्गार के सभोग और विप्रलम्भ तथा करुणरस की प्रधानता है। विस्तारभय से इस काव्य में वर्णित उत्कृष्ट वर्णन नहीं दिये जा सकते हैं। फिर भी इन में से कुछ उदाहरण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं।

आमेखल सञ्चरता घनाना छायामध सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धा ॥

कुमार० १, ५

हिमालय पर निवास करनेवाले सिद्ध पुरुष पर्वत के मध्यभाग के चारों ओर घूमने वाले मेघों की—नीचे शिखर पर पड़नेवाली छाया का सेवन करके जब वे वृष्टि से ऊब जाते हैं तब ऊँचे ऊँचे शिखरों पर जाकर सूर्यप्रकाश का आनद लेते हैं।'

कुबेरगुप्ता दिशमुष्णरश्मौ गन्तु प्रवृत्ते समय विलङ्घ्य।
दिग्दक्षिणा गन्धवह मुखेन व्यलीकनि श्वासमिवोत्ससर्ज ॥

कुमार० ३, २५

'जैसे वचन तोड़कर प्रियतम के चले जाने पर पत्नी विरहव्यथा से सासें छोड़ती है उसी तरह सूर्य ने असमय में ही उत्तर दिशा का आश्रय लिया तब मलयानिल के रूप में दक्षिण दिशा ने दुख नि श्वास छोड़े।

मदनदहन के पश्चात् रति का विलाप पढ़कर विरल ही सहृदय पाठक की आँखों में आँसू न उमड़ पड़ेंगे। स्वय अपनी आँखों के आगे पति को भस्म हुआ देख रति को पहले मूर्च्छा आती है। कुछ देर पीछे होश आने पर वह जमीन पर पड़ी हुई विलाप

करती है । उसकी केशावली बिखर गई है और उसका विलाप सुनकर सारा बन रो उठता है । मदन के अनेक गुणों का तथा उसके प्रणयविलासों का स्मरण करके वह शोक करती है । यह वर्णन अत्यन्त हृदयद्रावक हुआ है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक देखिये—

हृदये वससीति मत्प्रिय यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपद न चेदिद त्वमनङ्ग कथमक्षता रति ॥ कु० ४, ६

"तुम तो कहा करते थे कि 'तू मेरे हृदय में सदा रहती है'। परन्तु अब मुझे मालूम हुआ कि ये सब बनावटी बातें थीं। यह केवल मुझे खुश करने के लिये ही कहते थे। नहीं तो आपके नष्ट हो जाने पर मैं कैसे अक्षत बनी रहती ?" इस श्लोक में शब्द बहुत सरल हैं, भाषा आलकारिक नहीं तो भी उसमें रति विलाप का वर्णन बडी मार्मिकता के साथ हुआ है ।

पचम सर्ग में ब्रह्मचारी का छलपूर्ण भाषण और उस पर पार्वती का दिया हुआ मुँहतोड़ उत्तर भी बेजोड़ हैं । शकर के अकिंचनत्व और उनके श्मशान निवास आदि के दोष जिस समय ब्रह्मचारी ने पार्वती को सुनाये उस समय पार्वती ने निम्नलिखित उत्तर दिया—

अकिंचन सन् प्रभव स सम्पदां त्रिलोकनाथ पितृसद्मगोचर ।
स भीमरूप शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविद पिनाकिन ॥
कुमार० ५, ७७

'स्वय धनहीन होकर भी वे दूसरों को सम्पदा देते हैं, श्मशान म रहकर भी तीनों लोकों के स्वामी हैं, भयकर रूप होने पर भी लोग उन्हें शिव (कल्याणकारी) कहते हैं । सच बात तो यह है कि उनके सबध का सच्चा सच्चा ज्ञान किसी को नहीं है ।' भगवान् शकर

की जात-पाँत और जन्म किसी को मालूम नहीं है, ब्रह्मचारी के इस आक्षेप का उत्तर पार्वती ने इस प्रकार दिया—

विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीश प्रति साधु भाषितम् ।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारण कथ स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥

कुमार० ५, ८१

रे दुष्ट, निर्दोष शकर में तू जो दोष ही दोष दिखाने की चेष्टा कर रहा है सो इस अनधिकार चेष्टा में भी तेरे मुख से एक बात तो सच निकल ही गई है । तूने जो यह कह दिया कि शिव के जन्म का कोई ठिकाना नहीं, सो बहुत ठीक है । ब्रह्मा तक का उत्पत्ति जिन से हुई है उन अनादि शिव के जन्म का पता किसी को कैसे लग सकता है ?

स्वय अनुभव का सार सवस्व जिन में भरा हुआ है ऐसी अर्थान्तरन्यास की उक्तियाँ कालिदास की असाधारण विश्वव्यापिनी प्रतिभा को प्रदर्शित करती हैं—एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्क । (१, ३) [जहाँ सकड़ों गुण हैं वहाँ एक ज़रा से दोष के कारण किसी के महत्त्व में कमी नहीं आ सकती], स्वजनस्य हि दु खमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते । (४, २६) [अपने सम्बन्धियों और इष्टमित्रों के आगे भीतर भरा हुआ दु ख इस प्रकार बाहर निकल पड़ता है मानों हृदय के किवाड़ खुल गये हों], न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् । (५, ४५) [रत्न किसी को ढूढता नहीं अपि तु लोग ही उसे ढूँढते हैं], मनोरथानामगतिर्न विद्यते । (५, ६४)] मनोरथ स्थिर नहीं रहते इत्यादि । ऐसी बहुत सी उक्तियाँ हैं जो आज भी प्रसगानुसार कहावतों के रूप में प्रचलित हैं ।]

कालिदास ने 'कुमारसभव' का कथानक किस ग्रन्थ से लिया

इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। शिवपुराण तथा स्कदपुराण में कार्तिकेय की कथा का वर्णन है। उस वर्णन से कालिदास के 'कुमारसभव' का वर्णन बहुत कुछ मिलता जुलता है। उदाहरणार्थ नीचे कुछ श्लोक दिये जाते हैं—

१ शिवपुराण—द्वयोरपि भवान् श्रेष्ठ सर्वग सर्वशक्तिमान्।
वज्र च निष्फल स्याद्वै त्व तु नैव कदाचन॥

[दोनों में आप श्रेष्ठ हैं, सर्वगति और सर्वशक्तिमान् हैं। वज्र चाहे निष्फल हो जाय किन्तु आप कभी असफल नहीं हो सकते]

कुमारसभव—

वज्र तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठ त्व सर्वतोगामि च साधक च। ३, १२

[तपश्चर्या से शक्तिशाली व्यक्तियों पर वज्र का प्रभाव कुण्ठित हो जाता है, किन्तु तुम सर्वत्रगति और कार्यसाधक हो]।

२ शिवपुराण—अन्येषा गणना नास्ति पातयामि हर यदि।

[अगर मैं शकर को जीत लूँ तो दूसरे मेरे आगे क्या हैं ?]

कुमारसभव—

कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये॥ ३,१०

[पिनाक धनुष धारी शकर को भी धैर्य से डिगा सकता हूँ अन्य धनुषधारियों की तो गणना ही क्या ?]

इस विलक्षण अर्थ साम्य के कारण कालिदास ने शैव और स्कदपुराण से अपनी कथा ली है ऐसा कई लोग कहते हैं। पर हमारी समझ में यह युक्ति सगत नहीं। इस समय जो अठारह पुराण उपलब्ध हैं, लोगों की धारणा है वे व्यास जी के बनाये हुये हैं। वस्तुत पुराणों का बहुत सा अश बहुत पीछे का बना हुआ है। तब वे पुराण कालिदास के समय में मौजूद थे इसका कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता। उलटे 'कुमारसभव' में विविध प्रसगों का जो

उत्कृष्ट गुम्फन हुआ है वह कालिदास का अपना है, यह बात उनके और दूसरे ग्रथों से स्पष्ट होती है। विवाह के अनन्तर भगवान् शकर अगदेश में तपश्चर्या कर रहे थे। वहाँ मदन ने पहुँच कर तपोरत शिव को प्रेमलीला में फँसाने की चेष्टा की, उस समय शकर ने क्रुद्ध होकर उसे अनङ्ग कर दिया—यह कथा रामायण के बालकाण्ड में २३वे सर्ग में आई है। यह कथा कालिदास को अवश्य ज्ञात रही होगी*। कला की दृष्टि से कवि ने उस में परिवर्तन करना आवश्यक समझा। अत पार्वती के विवाह के पूर्व हिमालय पर मदन का दहन कालिदास ने कराया है। बाह्यरूप पर ही अवलबित रहनेवाला प्रेम स्थायी नहीं होता किंतु जो अनेक सकटों और आपत्तियों में भी अविचल रहता है वही प्रेम सत्य है, इस मत का समर्थन कवि ने इस प्रसग में किया है। इस मत का विकास आगे चलकर 'शाकुतल' में पूर्णता को प्राप्त हुआ। इस से यह प्रतीत होता है कि 'कुमारसभव' के आरभिक आठ सर्गों में जो कुछ वर्णन हुआ है वह कालिदास की अपनी सपत्ति है और उसी का अनुकरण शिव तथा स्कदपुराण आदि में किया गया है। बाद के सर्गों में किसी अन्य कवि ने स्कदपुराणान्तर्गत घटनायें लेकर 'कुमारसभव' को पूरा किया है—यह डॉ० विंटरनिट्स का मत है† और वह विश्वसनीय भी है।

मेघदूत

हम पहले कह आये है कि कालिदास कुछ समय तक राजनैतिक

---

* इस प्रकार का उल्लेख 'रघुवश' के ११ १३ में आया है। किन्तु सभवतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है। कुछ प्राचीन टीकाकारों ने भी इस श्लोक की व्याख्या नहीं की है।

† Geschichte der indischen Litteratur Band II, 58

देख तुझे ऐसा मालूम होगा, जैसे तुझ से भेंट होने के कारण वह पर्वत पुलकित हो उठा है। नीचैर्गिरि पर सुंदर शिलागृह हैं जिन में वेश्याओं के अंगराग की सुगंध फैलती है, जिससे विदिशा वासी नागरिकों का उग्र यौवन प्रगट होता है।'

इसके उपरान्त यक्ष ने मेघ से मार्ग में न पड़ते हुये भी उज्जैन को जाने का आग्रह किया। उज्जैन का वर्णन कवि ने बहुत ही विस्तारपूर्वक और सुंदरता के साथ किया है। उदाहरण के लिये महाकाल के मंदिर में संध्याकाल में आरती के समय वेश्यानृत्य का वर्णन देखिये—

पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्॥ मेघ० ३७

'उस उज्जैन में महाकालेश्वर के मंदिर में नृत्य करते समय जिन की करधनी बज रही है वे हाथों में रत्नजड़ित दंडयुक्त चँवरों को हिलाने से थकी हुई वेश्यायें तेरे प्रथम वर्षा के जल की बूँदों से नखों के घावों में सुख पाकर तुझ पर लंबे लंबे कटाक्षपात करेंगी।

इसके उपरान्त मार्ग में मिलनेवाली गंभीरा नदी, देवगिरि नामक पर्वत पर स्थित कार्तिकेय का मंदिर, चर्मण्वती (चंबल) नदी, दशपुर (आधुनिक मंदसोर), ब्रह्मावर्त देश, कुरुक्षेत्र, सरस्वती और गंगा आदि नदियाँ तथा अंत में हिमालय पर बसी हुई, अलकानगरी का वर्णन बहुत थोड़े में किंतु अत्यन्त रमणीयता के साथ और कल्पनावैचित्र्य के बाहुल्य एवं वर्णनवैभव से किया है। रामगिरि से लेकर अलकानगरी तक मिलनेवाले पर्वत, देश, नगर, ग्राम, वन, उपवन, नदी आदि का वर्णन अत्यन्त रमणीय होने से

यह भाग बहुत ही चित्ताकर्षक हुआ है।

उत्तरार्ध में कवि ने अलकानगरी का तथा यक्ष गृह का वर्णन करते समय अपनी प्रतिभा द्वारा एक नूतन सृष्टि की रचना कर कल्पना शक्ति को स्वच्छंद विहार करने का अवसर दिया है। आरंभ में यक्ष अलकानगरी का वर्णन करके कहता है,—हे मेघ! अलका नगरी के भवन गगनचुंबी हैं। वे बढ़िया बढ़िया चित्रों से सुसज्जित हैं। वहाँ मृदंग बजा करते हैं और वे रत्नखचित हैं। वहाँ के निवासी सदा तरुण रहते हैं और यौवन का स्वच्छंद आनन्द लूटते हैं। वहाँ वृक्ष और लतायें पुष्प फल के भार से नम्र, मयूर आनंदित तथा रात्रि चन्द्रप्रकाशयुक्त होती है। वहाँ महलों के स्फटिक मणि युक्त पृष्ठभाग पर बैठकर तेरी गंभीर ध्वनि के समान ही निकलती हुई मृदंग ध्वनि को सुनते हुये यक्षजन अपनी प्रेयसियों के साथ मदिरा का पान करते हैं। वहाँ चित्र विचित्र बढ़िया वस्त्र, अलंकार के लिये पुष्प, पल्लव, पैर में लगाने के लिये लाक्षाराग इत्यादि स्त्रियों के श्रृङ्गार की सारी सामग्री कल्पवृक्ष ही से मिलती है। अलका में भगवान् शंकर निवास करते हैं, इसलिये मदन अपने धनुष और बाण का उपयोग कर ही नहीं पाता। तथापि चतुर सुन्दरियाँ मदन का यह कार्य अपने अमोघ कटाक्षों द्वारा पूरा करती हैं। इसी रम्य नगरी में यक्षराज कुबेर के प्रासाद के उत्तर की तरफ़ मेरा गृह है जिस में इंद्र धनुष के समान रमणीय वंदनवार बंधे हैं, जिन के कारण मेरा गृह तुझे दूर से ही देख पड़ेगा। मेरे उस घर के उद्यान में मेरी प्रियतमा का लगाया हुआ, सहज ही में हस्तगत होनेवाला पुष्प भार से नम्र, एक मन्दारनामक वृक्ष है। उसी के निकट एक सुन्दर बावली है जिस की मरकत मणि की सीढ़ियाँ हैं और उस में हमेशा सुवर्णकमल खिले रहते हैं। इस वापी के कूल पर नीलमणि

खचितशिखरवाला तथा सुवर्णकदलीकुंजवेष्टित क्रीड़ा-पर्वत है। वहीं माधवीमण्डप के समीप तुझे अशोक और बकुल वृक्ष दीख पड़ेंगे। इन वृक्षों के बीच में रत्नखचित एक सुवर्ण स्तंभ पर स्फटिक शिला है। उस पर प्रतिदिन सायंकाल को मेरी प्रिया कंकण-नाद मधुर करतलशब्द से मयूर को नृत्य-कला की शिक्षा देती है। इन सब चिह्नों पर ध्यान रखते हुये मेरे घर का पता तू लगाना। उस क्रीडा-पर्वत पर बैठकर यदि तू अपनी विद्युत्-दृष्टि से मेरे घर का अंतर्भाग देख लेगा तो तुझे यही दिखाई पड़ेगा—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥ मेघ० ९०

जिस समय तू मेरे घर पहुँचेगा उस समय मेरी प्रियतमा मेरी कुशलकामनानिमित्त देवाराधना कर रही होगी, अथवा विरहव्यथा से दुर्बल मेरे शरीर का अनुमान करके उसी भाव को चित्रित करने वाला मेरा चित्र खींच रही होगी, या पिंजड़े में बैठी हुई मीठी बोली बोलने वाली मैना से पूछ रही होगी—'अरी रसिके! क्या तुझे भी कभी मालिक की याद आती है? तुझे तो वे बड़ा प्यार करते थे।' या वह मैले कपड़े पहने अपनी गोद में वीणा रखकर मेरे संबंध में रचे हुये किसी गीत को गा रही होगी और आँसुओं की झड़ी से भीगे हुये वीणा के तारों को पोंछ कर पूर्वाभ्यस्त मूर्च्छना (स्वरलहरी) को बार बार भूल जाती होगी, या भूमि पर बिखरे हुये फूलों को गिन गिन कर वह मेरी शाप की अवधि के दिनों को गिनती होगी। विरह से अत्यन्त कृश और अभ्यंग स्नान न करने से उसके केशों की बुरी दशा हुई होगी।

व रूखे हो गये होंगे और कपोलों तक लटक रहे होंगे। वस्त्र और अलंकार का पहनना जिसने छोड़ रक्खा हो, अत्यन्त दुःख से जो पर्यंक पर लेटी हुई हो, ऐसी मेरी प्रिया को देख तुझे भी उसकी इस दशा पर तरस आवेगा, और तू भी नूतन जलकणरूपी अश्रु बहाना। उस समय यदि मेरी प्यारी सो गई हो तो एक पहर तक गर्जना न कर उसके जागने की राह देखना। कारण यह है कि महान् प्रयास से प्राप्त स्वप्नावस्था में वह मेरे गाढ़ालिंगन का आनन्द अनुभव कर रही होगी। उस समय तू अपनी गंभीर गर्जना द्वारा विघ्न न डालना। जब वह तेरे जलबिन्दुसम्मिश्रित शीतल वायु के झोंकों से जाग उठे तब मेरा कुशल-संवाद कहते हुये यह सन्देश सुनाना—

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥ मेघ० १०६

प्यारी! मैं अहर्निश तेरी रूपमाधुरी का चिंतन किया करता हूँ और अपने नेत्र कृतार्थ करने के लिये भिन्न भिन्न वस्तुओं में तेरी समता ढूँढने में लगा रहता हूँ। तेरे कोमल अंग की समता मुझे प्रियंगुलता में मिल जाती है। तेरी दृष्टि की समता चंचल चकित हरिणियों के चितवन में मिल जाती है। तेरे स्वच्छ कपोलों की समता चन्द्रमा में मिल जाती है। तेरे भ्रुकुटि विलास की समता नदी की पतली पतली चंचल लहरों में मिल जाती है। परन्तु निष्ठुर, तेरे सर्वांग की समता किसी एक वस्तु में कहीं भी एकत्र देखने को नहीं मिलती।

त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागै शिलाया
मात्मान ते चरणपतित यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्ताव मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगम नौ कृतान्त ॥ मेघ० ११०

हे प्रिये, मैं कभी कभी मन ही मन यह अनुमान करता हूँ कि तू रूठकर मानिनी बनी हुई बैठी होगी। अत तुझे मनाने के लिये पत्थर की शिला पर गेरू से तेरी तस्वीर खींचता हूँ। परन्तु ज्यों ही मैं अपना मस्तक तेरे चरणों पर रखना चाहता हूँ त्यों ही मेरी आँखों में आँसू उमड़ आते है और मेरी दृष्टि बद हो जाती है। मुझे तेरा वह चित्र दिखाई नहीं देता। मुझे मालूम न था कि कृतान्त इतना क्रूर और इतना निर्दयी है जो हम दोनो के इस काल्पनिक सयोग को भी सहन नहीं कर सकता।

स्वप्न में तेरा दर्शन होते ही तेरे आलिङ्गनसुख के लिये मैं अपने हाथ फैला देता हूँ। मेरी यह करुणाजनक अवस्था देखकर देवताओं के वृक्षों के पल्लवों पर मोतियों के समान नेत्रों से अश्रु बिन्दु गिरते हैं। मैं बड़े धैर्य और विवेक से यह विरह दुःख सहन कर रहा हूँ। प्यारी! तू भी मेरी ही तरह उसे सहन कर क्योंकि—

कस्यैकान्त सुखमुपनत दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ मेघ० ११८

'सुख दुःख सदा एकसा नहीं रहता। जिसे दुःख मिलता है उसे सुख भी मिलता है। रथ के पहिये की तरह ये दोनों क्रम से फिरा करते हैं। कभी सुख सामने आता है कभी दुःख।' भगवान् विष्णु के अपनी शेषशय्या त्याग कर उठते ही मेरे शाप का अन्त हो जायगा। केवल चातुर्मास्य की अवधि है। तब तक तू यह दुःख सहन कर। स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही मैं तुझे अपने साथ ले

शरद् ऋतु की शुभ्र ज्योत्स्ना में नाना प्रकार की प्रणय क्रीड़ा का सुख अनुभव करूँगा। हे मेघ! मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर अथवा मुझ पर प्रेम होने के कारण अनुकपा से मेरा काम पूरा कर। वर्षाकाल में अत्यन्त सुदर बनकर तू अपने वाञ्छित स्थान को चला जाना। मेरे समान तुझे अपनी प्रेयसी विद्युल्लता से कभी वियोग न हो।

एक सौ बीस श्लोकों के इस खण्डकाव्य में कवि ने अपनी सारी शक्ति खर्च कर डाली है। इस में उसकी सौन्दर्यान्वेषिणी दृष्टि और कलामर्मज्ञता स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। कुशल चित्रकार जिस तरह तूलिका की सहायता से चार छः रेखाओं में सुदर से सुदर चित्र बनाता है उसी तरह कवि ने बहुत ही अल्प शब्दों में मृदुल और अत्यन्त रमणीय उदार भावों का चित्र उतारने में कमाल किया है। इस खण्ड-काव्य में कई एक ऐसे स्थल हैं जिन पर कुशल चित्रकार भावपूर्ण चित्र तैयार कर सकता है। इस काव्य की शब्द-रचना का सघटन चमकते हुये हीरों की तरह निर्दोष तथा उज्ज्वल है। इस में अर्थरूपी रत्नों को, उपमा, उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास आदि सुदर अलकारों में जड़ देने से उसकी आभा और भी द्विगुणित हो गई है। यदि कालिदास ने केवल 'मेघदूत' की ही रचना की होती तो भी वह ससार के महाकवियों की श्रेणी में उच्चस्थान प्राप्त कर लेते। यह काव्य अत्यन्त सरस तथा अत्युत्कृष्ट है। निम्न-लिखित कुछ उदाहरणों से पाठकों को इसका परिचय मिलेगा।

चबल नदी का परिचय देते हुये यक्ष मेघ से कहता है—

त्वय्यादातु जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्या सिन्धो पृथुमपि तनु दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी
रेक मुक्तागुणमिव भुव स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥ मेघ० ४८

'उस चर्मण्वती नदी का प्रवाह बहुत चौड़ा है। पर आकाशचारी देवताओं को दूर से वह पतला जान पड़ता है। उन्हें उसकी पतली धार पृथ्वी के कंठ में पड़ी हुई मोतियों की माला के सदृश दिखाई देती है। भगवान् विष्णु के वर्ण को चुराने वाले श्याम शरीर मेघ तू जब उस नदी का जल पीने के लिये नीचे झुकेगा तब उन गगनचारी देवताओं को ऐसा मालूम होगा जैसे मोतियों की माला के बीचोंबीच एक बड़ा सा नीलम जड़ दिया गया हो।'

इस श्लोक में चवल नदी के शुभ्र जलप्रवाह पर नील मेघ के झुकने के कारण उस पर इन्द्रनीलमणिमध्ययुक्त मुक्ताहार की सुंदर उत्प्रेक्षा कितनी हृदयगम है। हिमालय पर स्थित अलकापुरी का वर्णन देखिये—

तस्योत्सगे प्रणयिन इव स्रस्तगगादुकूला
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलका ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥ मेघ० ६५

हे कामचारी मेघ! उस कैलाश पर्वत के अंक में गंगाजी के ठीक तट पर अलका नामक नगरी है। वह मेरी निवासभूमि है। तू उसे देखते ही पहचान लेगा। कैलाश की प्रान्तभूमि में जान्हवी के किनारे बसी हुई वह नगरी उस रमणी के सदृश मालूम होती है जो अपने प्रियतम की गोद में बैठी है और जिसकी सफ़ेद साड़ी का अंचल हवा से उड़ रहा है। स्वच्छ जल की बड़ी बड़ी बूँदें बरसाने वाले श्यामवर्ण, तुझे वे अपने ऊँचे ऊँचे महलों के ऊपर इस तरह धारण कर लेंगी जिस तरह बड़े बड़े मोती से गुँथे हुये केश कलाप को कामिनी अपने मस्तक पर धारण करती है।

इस श्लोक में श्लेष और उपमा का सुंदर संयोग हुआ है।

'कुमारसभव' की तरह इस काव्य में भी कवि ने स्थान स्थान पर अर्थान्तरन्यास का उपयोग किया है। 'कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' (कामीजन चेतन और अचेतन पदार्थों का भेद नहीं जानते), 'रिक्त सर्वो भवति हि लघु पूर्णता गौरवाय' (सब खाली चीज हलकी होती हैं [निर्धन का सब जगह अनादर होता है। परन्तु भरपूर होने से भारीपन आता है] (धनिकों का सब जगह आदर होता है।), 'स्त्रीणामाद्य प्रणयवचन विभ्रमो हि प्रियेषु' (रमणिया का अपने प्रियतम के प्रति प्रदर्शित हावभाव ही उनकी पहली प्राथना है), 'प्राय सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा' (जिनका अन्त करण कोमल है, उनका बर्ताव दयायुक्त होता है), इत्यादि सुदर उक्तियों से बीच बीच में इस काव्य की शोभा द्विगुणित हो गई है।

इस काव्य में सर्वत्र विप्रलभश्रृगार वर्णन का ही साम्राज्य दिखाई देता है। विशेष कर उत्तरभाग में यक्ष अपनी और अपनी पत्नी की विरहावस्था का वर्णन जिन श्लोकों में करता है वे श्लोक अत्यन्त करुणोत्पादक हैं। विरहिणी यक्षपत्नी का वर्णन करते समय कालिदास ने एक आदर्श गृहिणी का उत्तम चित्र अकित किया है। वह अन्य नायिकाओं की तरह सिर्फ़ सुदरी ही नहीं अपितु विविधकलाप्रवीणा, सहृदया, सच्ची प्रेमिका और आदश पतिव्रता है। ऐसी स्त्री की विरहावस्था का चित्र कवि ने अत्यन्त कौशल से चित्रित किया है।

इस काव्य में सर्वत्र मदाक्रान्तानामक छद का ही प्रयोग किया गया है। 'कुमारसभव' के समान अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, वियोगिनी, रथोद्धता आदि सरल छन्दों का प्रयोग 'मेघदूत' में नहीं है। इन छदों की अपेक्षा मन्दाक्रान्ता वृत्त की रचना कठिन है।

तथापि इस बड़े वृत्त में अपनी कल्पना को मूर्तिमान करने में कवि को बहुत कुछ अवकाश मिला है। इस छंद के नामानुसार मन्दगति होने से विप्रलम्भशृङ्गार के वर्णन के लिये यह वृत्त सर्वथा उपयोगी भी है। कालिदास से पहले के कवियों ने इस वृत्त में रचना नहीं की थी। हरिषेणनामक कवि की प्रयाग स्थित शिला स्तंभ की प्रशस्ति में एक स्थान पर मन्दाक्रान्ता वृत्त का उपयोग हुआ है। परन्तु इस वृत्त को लोकप्रिय बनाने का श्रेय कालिदास को ही है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में इस वृत्त का सर्वप्रथम उपयोग किया है, पर 'मेघदूत' की तरह उतनी सफ़ाई से नहीं। 'मेघदूत' में आरम्भ से लेकर अन्त तक इस छंद का बड़ी ही सरलता से निर्वाह किया गया है।

'मेघदूत' का समीक्षण समाप्त करने से पहले एक दो बातों पर प्रकाश डालना बहुत आवश्यक है। यक्ष अलकापुरी से निर्वासित होकर जिस रामगिरि पर रहने के लिये गया था वह कहाँ होगा, इसके बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ लोगों का मत है कि मध्यप्रान्त की वर्तमान सरगुजा रियासत के अन्तर्गत रामगढ़ नामक पर्वत ही रामगिरि है। राम सीता तथा लक्ष्मण ने यहाँ वनवास के समय स्नान किया था—ऐसी परंपरागत जनश्रुति है। 'मेघदूत' में दिये वर्णन के अनुसार (श्लोक १२) यहाँ एक शिला पर श्रीरामचन्द्रजी के चरण चिन्ह अब तक बने हुये हैं। यहाँ पर बहुत से प्राचीन भग्नावशेष भी विद्यमान हैं। इस पहाड़ी पर सीताबेंगा तथा जोगीमारा नामक गुफाओं में ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व खुदे हुये शिलालेख विद्यमान हैं। इस से मालूम होता है कि यह पर्वत अत्यन्त प्राचीन है। फिर भी रामगढ़ ही रामगिरि होगा यह मत सर्वमान्य नहीं है। कारण यह है कि यह पर्वत अमरकटक

पर्वत से ईशान की ओर है, दक्षिण की ओर नहीं। 'मेघदूत' में यक्ष ने 'रामगिरि से उत्तर दिशा में जाने पर पहले मालक्षेत्र फिर आम्रकूट पर्वत मिलेगा' ऐसा मेघ से कहा है। कालिदास अपने काव्य में इस प्रकार की भौगोलिक भूल रहने देंगे यह सम्भव नहीं है। तब 'मेघदूत' में वर्णित रामगिरि को हमें अन्यत्र खोजना पड़ेगा। इस विचार से तो नागपुर (मध्यप्रदेश) के निकट रामटेक नामक पर्वत ही रामगिरि हो सकता है। यह स्थान बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। यहाँ वाकाटक राजा द्वितीय प्रवरसेन के समय का एक ताम्र-पत्र मिला है। और इसी राज्यान्तर्गत विदर्भदेश के ऋद्धपुर में मिले हुये ताम्रपत्र पर 'रामगिरिस्वामिन पादमूलात्' ऐसा उल्लेख है। इन से यह सिद्ध होता है कि वर्तमान रामटेक ही 'मेघदूत' का रामगिरि रहा होगा। इस पर्वत के पास ही एक विशाल ऊँची भूमि, संशोधकों द्वारा अन्वेषण की राह देख रही है। वहाँ की पुरानी ईंटों के आकार से विशेषज्ञों ने यह बात स्थिर की है कि वे गुप्तकालीन होंगी और यह स्थान उस समय प्रसिद्ध रहा होगा। मालक्षेत्र इसके उत्तर में सतपुड़ा पर्वत के पठार पर रहा होगा। कल्याण के चालुक्यों के एक शिलालेख में लिखा है कि द्वितीय आचुगी राजा ने 'माल' देश पर विजय पाने के पश्चात् जबलपुर के समीप त्रिपुरी के हैहयवंशी राजाओं को पराजित किया था। अस्तु।

द्वितीय चन्द्रगुप्त की बेटी तथा द्वितीय प्रवरसेन की माता प्रभावतीगुप्ता तीर्थयात्रा के लिये रामटेक जाती थी, यह बात उसके ऋद्धपुर के ताम्र पत्र में लिखी है। उसके साथ ही कदाचित् कालिदास भी वहाँ गये होंगे और यहीं उन्हें 'मेघदूत' काव्य की मौलिक कल्पना सूझी होगी। अपनी इस कल्पना को विस्तृत करने

के लिये उन्होंने वाल्मीकि रामायण से सहायता ली होगी। वाल्मीकि रामायण में सपाती गृध्र ने हनुमान आदि वानरों को लङ्का का रास्ता बतलाया था। हनुमान समुद्र पार कर लंका गये। वहाँ अशोक-वाटिका में उन्होंने अतिदीन दशा में डूबी हुई सीता को देखा। रामचन्द्र की मुद्रिका उन्होंने सीता को परिचयरूप में दी। रामायण में रामचन्द्र की विरहावस्था का वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट है—

अनिद्र सतत राम सुप्तोऽपि च नरोत्तम।
सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् प्रतिबुध्यते॥
दृष्ट्वा फल वा पुष्प वा यच्चान्यत्स्त्रीमनोहरम्।
बहुशो हा प्रियेत्येव श्वसस्तामभिभाषते॥ सुंदरकांड ३६,४४–५

इन श्लोकों की और 'मेघदूत' की कल्पना में जो समता है वह पाठकों के ध्यान में सहज ही आसकती है। 'मेघदूत' में यक्ष ने मेघ को अलका का मार्ग बतलाया है और निशानी भेजने की सुविधा न होने से उसने मेघ के द्वारा प्रियतमा को विश्वास दिलाने के लिये अपनी कुछ अतीत-स्मृतियाँ ही भेजी हैं। यक्ष ने इसके साथ साथ यह भी कहा कि 'मैं तेरे पति का मित्र हूँ और उसका सन्देश लेकर आया हूँ' जब तू ऐसा कहेगा तो जिस प्रकार सीता ने हनुमान का सम्मान किया था उसी प्रकार मेरी प्रियतमा भी तेरा सम्मान करेगी। (भर्तुर्मित्रं प्रियम् इत्यादि १०५)। इस से यह मालूम होता है कि उक्त प्रसंग कवि के नेत्रों के आगे वर्तमान था और उसने उसका उपयोग भी किया। उपर्युक्त वर्णन से रामायण और मेघदूत में प्रसंगसाम्य तथा कल्पनासाम्य होने पर भी अन्य स्थलों में कालिदास की प्रतिभा ने स्वतन्त्र होकर अत्यन्त उत्कृष्ट सृष्टि का निर्माण किया है। अलकापुरी को जानेवाले मार्ग में मिलनेवाले

नगर, ग्राम, पर्वत, नदी आदि क वर्णन करने तथा अलका नगरी, का निज आवास और अपनी प्रियतमा की विरहदशा का वर्णन करने में कालिदास ने कमाल कर दिया है और वे इसमें किसी के ऋणी नहीं हैं यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।

सेतुबध

विदभ देश में रहते समय कालिदास नें 'सेतुबध' नामक काव्य की रचना में महाराज द्वितीय प्रवरसेन को बहुत कुछ सहायता दी होगी। यह काव्य 'महाराष्ट्री' नामक प्राकृत भाषा में लिखा गया है। उस में १५ आश्वास अर्थात् सर्ग हैं। श्रीरामचन्द्र जी का समुद्र पर पुल बाधना, बानरसेना को लेकर लका पर चढ़ाई और राक्षसों के साथ घोर युद्ध तथा रावण वध आदि इसका वर्णनीय विषय है। इसलिये इस काव्य को 'दहमुहवहो' (दशमुखवध) भी कहते हैं। प्रवरसेन भी कालिदास की तरह शिवोपासक था। इस का पता हमें उसके ताम्रपटों पर उत्कीर्ण वचनों से लगता है। कालिदास ने शैव होकर भी जिस प्रकार 'रघुवश' में श्रीरामचरित वर्णन किया है उसी प्रकार शैव प्रवरसेन ने 'सेतुबध' में राम कथा लिखी है। शायद उसने अपनी विष्णुभक्त माता के आदेशानुसार इस काव्य की रचना की हो। काव्य का वर्णनीय विषय रामचरित्र होने से आरम्भ में प्रथम चार श्लोकों द्वारा विष्णु की स्तुति की गई है। तत्पश्चात् चार श्लोकों में अपने इष्टदेव शकर की।

इस काव्य में स्थान स्थान पर सुदर कल्पना, मनोहर अलकार और हृदयहारी वर्णन पढ़ने को मिलता है। इसीलिये दडी ने अपने काव्यादर्श नामक अलंकार ग्रन्थ में इस काव्य को 'सूक्तिरत्न सागर' कहा है। बाण कवि ने भी एक जगह 'इस सेतु द्वारा कपि

सेना की तरह कवि की कीर्ति भी सागर को पार कर गई।' ऐसी श्लेषगर्भित स्तुति की है। उक्त काव्य में कई स्थल ऐसे है जहाँ कालिदास की कल्पनाओं का आभास मिलता ह। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक देखिये—

पढम विअ मारुइणा हरिसभरिजन्तलोअणेण मुहेन।
जणअतणआपउत्ति पच्छा वाआइ णिरवसेस सिट्ठा ॥

हनुमान ने पहले तो हर्षोत्फुल्ल नयनमुखमुद्रा से सीतादेवी का समाचार रामचन्द्र जी को सूचित किया फिर मुख से निर्गत शब्दों द्वारा सीता का सदेशा जाहिर किया यह कल्पना कालिदास के 'रघुवश' में (सर्ग ५, ६८) आई है। फिर भी ऐसे स्थलों की सख्या बहुत कम है। उपयुक्त बातों से यह स्पष्ट है कि 'सेतुबध' की रचना करते समय प्रवरसेन को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जहाँ तहाँ त्रुटियाँ रह जाती थीं उन्हें दुरुस्त करके आगे अपनी रचना की प्रगति को बढाना उन्हें कठिन प्रतीत हो रहा था— यह बात प्रवरसेन ने स्वय स्वीकार की है—

अहिणवराआरद्धा चुक्कक्खलिएसु विहडिअपरिडविआ।
मेत्तिव्व पमुहरसिआ णिव्वोढु होइ दुक्कर कव्वकहा ॥

"जिस प्रकार नये प्रेम के जोश में मित्रता पैदा होती है फिर किसी अपराध या मनमुटाव के कारण समयातर में वह टूट जाती है। परन्तु यदि मित्र रसिक हो तो फिर से वह टूटी हुई मित्रता जुड़ सकती है। किन्तु पहले जो सच्चा स्नेह था वैसा होना कठिन होजाता है। उसी तरह नये नृप से आरभ की गई तथा जहाँ तहाँ शुद्ध हुई निर्दोष एव पाठकों के हृदय को आकर्षित करने वाली इस रमणीय कथा का निर्वाह करना मेरे लिये कठिन हो रहा है"। ऐसी कठिनाइ उपस्थित होने पर प्रवरसेन को कालिदास की सहायता

मिली होगी। यह काव्य पूर्णतया रचित न होने से हम इसका विशेष विवेचन न कर उन के अन्यतम काव्य 'रघुवंश' का विवेचन करेंगे।

रघुवंश

यह काव्य कालिदास के रचित काव्यों में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। मालूम होता है इसकी रचना उन्होंने सब से पीछे की है। क्यों कि इसमें उन की परिपक्व प्रज्ञा और प्रतिभा का परिचय मिलता है। उपलब्ध प्रति में इस काव्य के १९ सर्ग मिलते हैं। इन सर्गों में कुल २९ राजाओं का वर्णन है। इन राजाओं में रघुनामक राजा बहुत बड़ा प्रतापी और दानशील हुआ है। उस के वंशधर राजाओं का इस काव्य में वर्णन किया गया है। इसी लिये कविने इस का नामकरण 'रघुवंश' रक्खा है।

इसका मंगलाचरण बड़े मार्के का है। शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान होने के लिये उसके ही समान नित्य परस्परसंबद्ध पार्वती—परमेश्वर की वंदना करके कवि ने बहुत नम्रतापूर्वक अपने विषय का महत्त्व और उसके सामने अपना मंदमतित्व प्रकट किया है। कवि स्वयं कहता है—जिस प्रकार ऊँचे वृक्ष के फल तोड़ने के लिये किसी बौने मनुष्य का ऊपर को हाथ फैलाना उपहासास्पद होता है उसी प्रकार मुझ मंदमति का काव्यप्रणयनरूप प्रयास भी उपहास के लायक है। मैं हूँ तो मंदबुद्धि पर कवियों को प्राप्त होनेवाली कीर्ति का अभिलाषी हूँ। जिस मणि में पहले ही से छिद्र कर दिया गया है उस में डोरा पिरोने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती, उसी प्रकार पूर्वकविवर्णित इस वंश में मेरा प्रवेश होगा। इसके अनन्तर रघुकुलोत्पन्न राजाओं की महत्ता संक्षेप में वर्णन कर कवि ने सहृदय

समीक्षकों से अपने काव्य की, सुवर्ण की तरह परीक्षा करने का अनु रोध किया है। पहले सर्ग मे मनुवंश में उत्पन्न दिलीप राजा का चरित्र वर्णन किया है। राजा दिलीप बड़े प्रतापी, धर्मात्मा और समस्त श्लाघनीय गुणों से सम्पन्न थे। उनका राज्य आसमुद्र पृथ्वी तक फैला हुआ था। उन्हें दुख तो केवल पुत्र न होने का था। अत अपने राज्य का भार सुयोग्य मन्त्रियों पर छोड़ कर शीलरूपवती उदारचरिता, राजमहिषी सुदक्षिणा को साथ ले दिलीप कुलगुरु वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे। राजा ने निस्सतान होने का दुख वशिष्ठ जी से निवेदन किया। ऋषि ने ध्यानस्थ हो सन्तानहीन होने का कारण बतलाया—राजन्! एक बार तुम स्वर्ग में इन्द्र से भेंटकर वहाँ से भूलोक को लौटे आ रहे थे। तब कल्पवृक्ष के नीचे खड़ी हुई कामधेनु की परिक्रमा न कर तुम ने उसका अपमान किया। इस से कुपित होकर उस ने तुमको यह अभिशाप दिया कि मेरी पुत्री नदिनी की सेवा किये बिना पुत्रलाभ न होगा। उस कामधेनु की पुत्री नदिनी मेरे आश्रम में विद्यमान है। अनन्यचित्त होकर भक्ति भाव से तुम उसकी सेवा करो, वह प्रसन्न होकर तुम्हारा मनोरथ पूरा करेगी।' कुलगुरु वशिष्ठजी के आदेशानुसार राजा दिलीप ने कामधेनु की कन्या नदिनी गायकी सेवा करने का निश्चय किया (सर्ग १)। दूसरे दिन से ही राजा ने अपने अनुचरों को बिदा कर दिया और स्वय दत्तचित्त होकर उसकी सेवा में लग गया। इस प्रकार तीन सप्ताह बीत गये। एकदिन नदिनी के मन में आया कि राजा के सत्य की परीक्षा लेनी चाहिये। वह चरती हुई हिमालय की गुफा में घुस गई। राजा हिमालय की प्राकृतिक शोभा देखने में अपने को भूल गया। इतने में एक सिंह उस गाय पर टूट पड़ा। गाय रक्षा के लिये चीख पड़ी। यह देखकर दिलीप

उसकी रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गया। ज्योंही क्रुद्ध होकर उसने सिंह को मारने के लिये तरकस से बाण निकालना चाहा उसका हाथ अकड़ कर वहीं चिपक गया। यह देखकर सिंह राजा से मनुष्यवाणी में बोला, "राजन् मेरा नाम कुम्भोदर है, मैं निकुम्भ का मित्र और श्री शकरजी का सेवक हूँ। सामने इस देवदारु वृक्ष को देखते हो न! इसे पार्वती ने अपने हाथ से सींच कर पाला पोसा है। एक दिन एक जगली हाथी ने अपने गण्डस्थल को खुजला कर इस देवदारु की त्वचा को छील डाला। इस से पार्वती को परम दुख हुआ। अत श्री शकरजी ने मुझे सिंह का रूप देकर यह आज्ञा दी कि 'इस गुहा के पास आनेवाले प्राणियों को मारकर तू अपनी जीविका चला।' मैंने कल उपवास किया था और यह गाय पारणरूप से आज मुझे मिली है। अब तेरा कोई वश चलने का नहीं, तू लौट जा।' राजा ने उत्तर दिया—"भगवान् शकर जी स्थावर और जगम सृष्टि के उत्पादक पोषक और सहारक हैं। अत उनकी आज्ञा मुझे परममान्य है, किन्तु अपने गुरु के गोधन को सामने नष्ट होने देना भी उचित नहीं है, इसलिये मैं तुझे स्वदेह अर्पण करता हूँ, इसे तू स्वीकार कर और गाय को छोड़ दे।" "एक गाय के लिये ससार का साम्राज्य, अपने तारुण्यपूर्ण सुदर शरीर का त्याग करना मूर्खता का चिह्न है" इत्यादि कहकर सिंह ने राजा को अपने निश्चय से डिगाने का प्रयत्न किया, किन्तु राजा ने एक न सुनी। इस से सिंह को राजा का कहना मानना पड़ा। राजा का हाथ खुल गया और वह सिंह के सामने गर्दन झुका कर लेट गया। 'अब मेरे ऊपर सिंह झपटनेवाला ही है' ऐसा राजा सोच ही रहा था कि आकाश से उसके ऊपर पुष्पवृष्टि होने लगी। उस सिंह को नदिनी ने राजा की परीक्षा के लिये

माया से उत्पन्न किया था । राजा की इस प्रकार गुरुभक्ति से नंदिनी सन्तुष्ट हुई और पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद देती हुई राजा से अपना दूध पीने के लिये कहा । आश्रम को लौटकर राजा ने यह सब वृत्तान्त गुरु वशिष्ठ और रानी सुदक्षिणा को सुनाया । हवन और बछड़े के पीने से अवशिष्ट दूध को राजा और रानी ने गुरु की आज्ञा से पिया । दूसरे दिन व्रत का उद्यापन कर वे दोनों राजधानी को लौट आये । (सर्ग २) रानी शीघ्र ही गर्भवती हुई और यथासमय जब पाँचों ग्रह उच्चस्थान में थे ऐसे शुभ मुहूर्त में उसके पुत्र उत्पन्न हुआ । राजा ने उसका नाम रघु रक्खा । सकल शास्त्रविद्या और अस्त्रविद्या में प्रवीण देखकर राजा ने उसे युवराज बनाया और अश्व की रक्षा के लिये उसको नियुक्त कर अश्वमेध याग आरम्भ किया । इस प्रकार निन्यानवे अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्नता पूर्वक समाप्त हुये । सौवें अश्वमेध के समय इन्द्र अदृश्य रूप से आकर अश्व को चुरा ले गया । किन्तु नन्दिनी की कृपा से रघु को इन्द्र का यह कपट मालूम हो गया । उसने इन्द्र को लड़ने के लिये चैलैंज दिया । दोनों का भयंकर युद्ध हुआ । रघु की वीरता से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने कहा "अश्व को छोड़कर तू कोई भी दूसरा वर माँग ।" रघु ने यह इच्छा प्रदर्शित की कि अश्व के बिना भी नियमपूर्वक समाप्त किये गये यज्ञ का पुण्य मेरे पिता को मिले । इन्द्र के इस बात को स्वीकार कर लेने पर रघु पिता के पास लौट आया । यज्ञ के समाप्त होने पर राजा दिलीप ने रघु को राजगद्दी पर बैठाया और स्वयं सुदक्षिणा के साथ तपोवन को चला गया । (सर्ग ३) । रघु ने ऐसा सुंदर राज्यशासन किया कि लोग दिलीप को भूल गये । प्रजारञ्जन करने के कारण रघु की 'राजा' यह पदवी अन्वर्थ हुई । शरद् ऋतु के आने

पर षड्विध सेना साथ लेकर वह दिग्विजय के लिये निकला। पहिले उसने पूर्व दिशा में सुह्म, वग इत्यादि देश जीत कर गगा के प्रवाह में अपना विजयस्तम्भ गाढ़ा। फिर दक्षिण की ओर चला। कलिंग देश के राजा का पराजय कर उससे कर लेकर छोड़ दिया, कि तु उसके राज्य को आत्मसात् नहीं किया। बाद में पूर्व किनारे से चल कर उसने कावेरी नदी पार की और पाण्ड्य राजा को पराजित किया तथा उससे ताम्रपर्णा नदी के मुहाने पर मिलनेवाले मोतियों का कर लिया। दक्षिण दिशा में मलय और दर्दुर पर्वत पर चढ़ाई की और सह्य पर्वत लाङ्घकर केरल और अपरा त (कोंकण) देश के राजाओं को हराया। फिर पारसीक देश को जीतने के लिये वह स्थलमार्ग से आगे बढ़ा। वहाँ के घोर युद्ध में उस ने अपने बाणों से यवनों क लबी दाढीवाले सिर काट काट कर ज़मीन तोप दी। उत्तर दिशा के दिग्विजय में हूण, काम्बोज इत्यादि देशों के राजाओं का पराभव कर और उनसे करभार लेकर वह हिमालय की ओर चला। वहाँ उत्सवसकेतादि गणराज्यों से युद्ध होने पर उ हों ने राजा रघु के स्वामित्व को स्वीकार किया और भेंट नज़र की। फिर कामरूप (आसाम) के राजा ने रत्नरूपी पुष्पों से उसका सत्कार किया। इस प्रकार भारतवर्ष के चारों दिशाओं के राज्यों को जीतकर पाई हुई अपनी सारी सम्पत्ति उसने विश्वजित् नामक यज्ञ में दान कर दी। (सर्ग ४)

यज्ञ पूर्ण होने पर राजा का खजाना सर्वस्वत्याग से खाली हो गया। इसी समय वरतन्तु का शिष्य कौत्स ब्रह्मचारी गुरु दक्षिणा के लिये चौदह करोड़ सुवर्णमुद्रायें माँगने आया। ऐसे विद्वान् ब्राह्मण को खाली हाथ वापस भेजने से रघु की अपकीर्ति होती। राजा को और कहीं से आशा नहीं थी। अन्य राजागण पहले ही राजा रघु

को कर दे चुके थे। इस कारण उसने धनपति कुबेर पर चढ़ाइ करने का निश्चय किया। यह जान कर पहले ही कुबेर न राजा को प्रसन्न करने के लिये सुवर्णमुद्राओं की वर्षा कर दी। उस सुवर्ण से भर हुये भण्डार को रघु ने कौत्स को दे दिया। किन्तु उस नि स्पृह ब्राह्मण युवक ने चौदह करोड़ सुवर्णमुद्रा से एक कौड़ी भी अधिक न ली। कौत्स ऋषि के आशीर्वाद से रघु को पुत्र की प्राप्ति हुइ। रघु का पुत्र अज भी पितृतुल्य गुणों से अलंकृत और महान् प्रतापी हुआ। (सग ५) अज ने युवावस्था म पदार्पण किया उस समय विदभ राज ने अपनी बहन इंदुमती का स्वयवर रचा। अज भी आमन्त्रण पाकर स्वयवर में सम्मिलित होने के लिये चला। माग में उसे नर्मदा नदी के तट पर एक उन्मत्त हाथी का सामना करना पड़ा। वह पूव जन्म में प्रियवदनामक ग धव था। किसी अपराधवश मतग ऋषि के शाप से उसे हस्तियोनि मिली थी। अज के बाण से वह हस्तियोनि से मुक्त हुआ। उस उपकार के बदले में गधर्व ने प्रसन्न होकर अज को सम्मोहन नामक अपना अस्त्र दिया। विदभ देश की राजधानी कुडिनपुर में अज का बड़ी धूम धाम से स्वागत हुआ। वहाँ वह अपने शिविर में ठहरा। इन्दुमती की चाह में अज को रात में बहुत देर से नींद आइ। प्रात काल के समय अज को जगाने के लिये वैतालिकों ने प्रभात का बहुत ही सुदर वर्णन किया। प्रभात वर्णन के श्लोक, कहते हैं वाग्देवता के रचे हुये हैं। प्रभातकाल का यह वर्णन बहुत ही उत्कृष्ट और हृदयहारी है उदाहरणार्थ उस प्रसग के दो श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

ताम्रोदरेषु पतित तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिकाविशद हिमाम्भ।

आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मित सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥ रघु० ५, ७०

'आपके अरुणिमामय अधरों से द तों की धवल का ति का मिलाप होने पर और भी ज्यादह सुदरता को पाने वाले आपके म द मधुर स्मित के समान ये वृक्षों के लाल कोमल पल्लवों पर पतित, हार के गोल गोल मोतियों के समान स्वच्छ हिमकण इस समय बहुत ही शोभा यमान हो रहे हैं।'

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहार
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्या प्रदीपा,।
अयमपि च गिर नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थ ॥ रघु० ५, ७४

'उपहार में मिले हुये जिन पुष्पहारों को आप अपने कठ मे धारण किये हुये हैं उनके फूल इस समय कुम्हला गये हैं। आप के शयनागार के दीपक भी किरणमण्डल के न रहने से निस्तेज हो रहे हैं। आपको जगाने के लिये हम बन्दीजन जो निरुदावली गान कर रहे हैं उसी का अनुकरण यह पिंजड़े में बैठा हुआ मधुरभाषी शुक कर रहा है।'

इसके बाद अज शय्या से उठकर नित्य नैमित्तिक कार्य समाप्त कर स्वयवर सभा में गया। वहाँ अनेक राजा महाराजा उपस्थित थे। थोड़ी देर के बाद ब दिजन राजाओं का गुणगान करने लगे। मयूरों को नाचने के लिये उत्साहित करनेवाली शखध्वनि के होते ही राजकुमारी इ दुमती पालकी में बैठकर अपनी सखियों के साथ वहाँ आकर उपस्थित हुई। अनुपम सु दरी इ दुमती को देखते ही राजागण विविध प्रकार की शृगारचेष्टायें करने लगे। यह वर्णन कालिदास ने अत्यन्त रसीली भाषा में किया है। इदुमती को उसकी

सखी सुनंदा हर एक राजा के समीप ले जा कर उसका गुण वर्णन करती है। उक्त अवसर पर भिन्न भिन्न देशों के नरपतियों के व्यक्तिगत उत्तम गुणों, संपत्ति और बलपराक्रम तथा पूर्वजों की कीर्ति, उनके राज्यान्तर्गत प्राकृतिक सौंदर्य–संपन्न स्थलों का वर्णन बहुत ही रमणीय और भौगोलिक दृष्टि से निर्दोष हुआ है। यह स्थल सहृदयों को अवश्य पढ़ना चाहिये। उदाहरणार्थ कुछ श्लोक देखिये। अंगराज का परिचय देते समय सुनंदा कहती है—

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु।
प्रत्यर्पिता शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः॥

रघु० ६ २८

इसने अपने शत्रुओं का संहार करके उनकी स्त्रियों को खूब रुलाया है। उनके वक्षस्थलों पर बड़े बड़े मोतियों के समान इसने उनके आँसू क्या गिरवाये मानों पहले तो उनके मुक्ताहार इसने छीन लिये फिर उन्हें सूत्र-रहित करके उन्हीं को लौटा दिये।

इंदुमती जब पाण्ड्यराज के समीप गई तो उसका परिचय सुनंदा ने इस प्रकार दिया—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥ रघु ६ ६०

इस श्लोक में द्राविड़, स्थूलशरीर, कृष्णवर्ण, रक्तचंदनचर्चित कलेवर जिसके कंठ में मोतियों की लंबी माला शोभित हो रही है ऐसे पाण्ड्य राजा की बालसूर्य की किरणों से रक्तवर्ण जैसे विशाल पर्वत की उपमा दी है जिसके तट की ओर से जलनिर्झर बह रहा है, अंग, वंग, कलिंग, मगध, अवन्ती, अनूप, शूरसेन इत्यादि देशों के राजाओं का सुनंदा ने बहुत सुंदर वर्णन किया। तथापि उनमें से एक भी राजा उसे पसंद नहीं आया।

अंत में इंदुमती सुनंदा के साथ अज के निकट पहुँची। उस सर्वांग सुंदर नौ जवान अजकुमार को देखते ही इंदुमती उस पर मोहित हो गई। यह देख कर सुचतुरा सुनंदा ने उस राजकुमार का सविस्तर वर्णन किया और 'कुल, कान्ति, यौवन, विनय आदि गुणों में यही राजकुमार तुम्हारे सर्वथा योग्य है, इसी के गले में जयमाला डाल कर रत्नकाञ्चनसंबंध होने दो' ऐसी सलाह दी। जब उसने देखा कि राजकुमारी के हृदय में अज का अनुराग दृढ़ हो गया है तब परिहासकुशल सुनंदा ने इन्दुमती की मीठी चुटकी ली और वहाँ से अन्यत्र चलने के लिये कहा। किंतु इंदुमती तो अपना हृदय अज को दे चुकी थी। सुनंदा का कहना उसे पसंद नहीं आया। वह क्रोध से उसकी ओर देखने लगी। अस्तु। अज–इन्दुमती के इस अनुरूप संबंध से पुरवासियों को अपार आनंद हुआ। अज–इन्दुमती को लेकर विदर्भराज ने अपनी राजधानी में प्रवेश किया। उस समय पुरवासिनी स्त्रियों के जमावड़े का कालिदास ने बहुत अच्छा चित्र खींचा है। इस के बाद विवाह की धूम धाम, इंदुमती को लेकर अज का लौटना, मार्ग में प्रतिस्पर्धी राजाओं का अज के ऊपर आक्रमण और गंधर्व–दत्त सम्मोहनास्त्रद्वारा उनका पराभव तथा इंदुमतीसहित अयोध्या में लौट आने का वर्णन है (सर्ग ७)। रघु ने अपने सुयोग्य पुत्र अज को अयोध्या का सिंहासन देकर तपश्चरण के लिये वन में जाने की तैयारी की किंतु अज को अपने पिता का दुख असह्य जान पड़ा। तब उसके अत्यन्त आग्रह से वह नगर के निकट ही रहने लगा। अज के पास ही कई वर्ष बिता कर अन्त में रघु ने योगाभ्यासद्वारा सायुज्य मुक्ति प्राप्त की। कुछ काल के बाद अज के दशरथनामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन अज अपनी प्रेयसी इंदुमती के साथ उपवन में विहार कर रहा

था कि आकाशमार्ग से नारद जी वीणा बजाते हुये गोकर्णस्थ महादेव के दर्शन के लिये निकले। अचानक उन की वीणा से एक दिव्य पुष्पमाला हवा के झोंके से टूटकर इन्दुमती के हृदय पर आ गिरी। उसके आघात से तुरंत इन्दुमती का प्राणान्त हो गया। इस से राजा अज को असह्य दुख हुआ। वह इन्दुमती के शील और विविध गुणों की याद कर शोक करने लगा।

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥ रघु० ८, ४६

'यदि इस माला में प्राणापहरण करने की शक्ति है तो यह मेरे प्राण क्यों नहीं लेती? मैं भी तो इसे अपनी छाती पर रखे हूँ! असली बात तो यह है कि परमात्मा की इच्छा से ही विष अमृत होता है और अमृत विष!'

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥८,६७

'तू मेरे घर की स्वामिनी, सच्ची सलाहकार, एकान्तसखी, और संगीत आदि ललितकलाओं में मेरी प्रिय शिष्या थी। निर्दयी काल ने तुझे छीन कर मेरा सब कुछ लूट लिया, कुछ भी बाकी न छोड़ा।'

राजा का शोक किसी प्रकार कम होते न देख कुलगुरु वशिष्ठ ने अपने शिष्य के द्वारा सन्देश भेजा कि जन्म लेने वाले सभी प्राणियों की मृत्यु एक न एक दिन अवश्य निश्चित है। अगर तू शोक से देहत्याग करेगा तो भी इन्दुमती तुझे नहीं मिल सकती। किन्तु उस उपदेश से राजा के चित्त को समाधान न हुआ। राजकुमार दशरथ के कम उम्र होने के कारण उसने ज्यों त्यों करके आठ वर्ष

बिताये और जब दशरथ राजकाज सँभालने लायक होगया तो गगा और सरयु के पवित्र सगम पर उसने प्रायोपवेशन कर देहत्याग किया (स० ८)। दशरथ ने सिंहासनारूढ होकर न्याय से प्रजा का शासन किया। उसके राज्य में व्याधियाँ नामशेष ही थीं, फिर शत्रुओं की कौन कहे। उसे द्यूत, सुरा और परस्त्री, इन में से किसी एक का भी व्यसन नहीं था। उस सदाचारी राजा के राज्य में प्रजा अत्यन्त सुखी थी। उसकी कौशल्या, कैकेयी, और सुमित्रा नामक तीन रानियाँ थीं। अब तक राजा के एक भी सतान न हुई थी। वसत ऋतु में एक दिन राजा मन्त्रियों की राय लेकर वन में आखेट के लिये गया। यह वर्णन बहुत ही सुदर और विस्तार के साथ किया गया है। इस आखेट का अन्त विषादमय होता है। एक दिन मृगयासक्त राजा को वन में रात हो गई। इसलिये वह वहीं ठहर गया। विधि का विचित्र विधान! इतने में अधे और बूढ़े माता पिता को पानी पिलाने के लिये उनका इकलौता तरुण पुत्र घड़ा लेकर तमसा नदी के तीर पर पानी भरने आया। पास ही में दशरथ खड़े हुये थे। तापस कुमार ने पानी में घड़ा डुबाया उस से जो आवाज़ हुइ उसे हाथी का शब्द समझकर भूल से राजा ने शब्द भेदी बाण मारा। तीर मर्मस्थल को भेद कर आर पार हो गया। ऋषिकुमार ने तत्काल प्राण त्याग दिये। इस हृदय–विदारक घटना का, पानी की आशा में बैठे हुये उनके अध माता पिता को जब पता लगा तो उन्होंने शोकार्त होकर राजा दशरथ को अभिशाप दिया, तुम भी हमारी ही तरह वृद्धावस्था में पुत्र शोक से मरोगे।

"दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिवेति" ऐसा शाप दे उन दोनों ने स्वय शरीर छोड़ दिये।

इसके आगे छः सर्गों में कालिदास ने रामचरित वर्णन किया है। यह कथा प्रसिद्ध ही है। अतः उसे विस्तार से दुहराने की आवश्यकता नहीं। दशरथ ने बहुत दिनों तक राज्य किया। किन्तु पुत्र न होने से ऋष्यशृंग आदि ऋषियों के द्वारा उसने पुत्रकामेष्टि नामक यज्ञ आरंभ किया। उसी समय लंकापति रावण के आतंक से दुखित होकर देवगण विष्णु भगवान् के शरण में गये। उन्होंने देवताओं को अभयदान देकर आश्वासन दिया कि मैं शीघ्र ही रावण का नाश करने के लिये अवतार धारण करूँगा। इसके बाद यज्ञ का पायस भक्षण करने से कौशल्या के राम, सुमित्रा के लक्ष्मण और शत्रुघ्न और कैकेयी के भरत नामक पुत्र हुये। कुमारावस्था में ही विश्वामित्र ऋषि राम लक्ष्मण को यज्ञरक्षार्थ ले गये। रास्ते में ताडका नाम राक्षसी का राम ने वध किया। यज्ञ समाप्त होने पर वे दोनों विश्वामित्र के साथ मिथिला को गये। वहाँ राम ने भगवान् शंकर जी का धनुष तोड़ा। अन्त में राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न का रूपशीलवती राजकन्याओं से विवाह हुआ। अयोध्या को लौटते समय राम ने परशुराम का पराभव किया (सर्ग ११)। कैकेयी के वर माँगने पर राम, लक्ष्मण और सीता वनवास को गये। पंचवटी में रहते समय राम ने खरादि दैत्यों का नाश किया। इसके बाद रावण ने सीता का हरण किया। आगे किष्किंधा के राजा सुग्रीव से मैत्री जोड़ कर उनकी सहायता से समुद्र पर सेतु बाँधकर राम ने वानरों की सेना के साथ लंका पर चढ़ाई की और रावण को मार डाला। सीता की अग्नि शुद्धि के पश्चात् विभीषण, सुग्रीव, लक्ष्मण तथा सीता के साथ राम पुष्पक विमान द्वारा आकाशमार्ग से अयोध्या लौटे (स० १२)। इस समय जिन जगहों में राम, लक्ष्मण और सीता वनवासकाल में ठहरे थे उन स्थानों का वर्णन कवि ने तेहरवें सर्ग में किया है।

चौदहवें सर्ग में राम का अयोध्या में प्रवेश, साध्वी सीता के चारित्र्य पर जनापवाद, राम की आज्ञा से लक्ष्मणद्वारा गर्भभरालसा सीता का वाल्मीकि--आश्रम में त्याग आदि का वर्णन है। उस समय लक्ष्मण के द्वारा सीता ने राम के लिये एक सन्देश भेजा। सीता के इस सदेश में कालिदास ने सीता के कोमल स्वभाव, करुणावस्था और पतिव्रता धर्म-पालन का वर्णन बड़ी ही मार्मिक शैली में किया है। निम्नलिखित श्लोक में सीता कहती है—

साह तप सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितु यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोग ॥

र० १४, ६६।

'मैं प्रसव के उपरान्त सूर्य की ओर दृष्टि लगा कर तप करने की चेष्टा करूँगी, जिससे दूसरे ज‍म में आप ही मेरे पति हों और वियोग न हो'।

इस प्रसग पर कविकठनिवासिनी भारती ने सीतादेवी की महानु भावता का और स्वार्थत्याग का जो वर्णन किया है वह अत्यन्त करुण, उत्तेजक, मार्मिक और पवित्र है। गर्भिणीदशा में बिना कारण ही अपने को परित्यक्त करनेवाले पति के प्रति ऐसे उद्गार एक आर्य स्त्री के मुख से ही निकल सकते हैं। १५ वें सर्ग में शम्बूकवध, कुश लव का राम-सभा में उपस्थित होकर रामचरितगायन, सीता का भूगर्भ में समा जाना तथा राम आदि का स्वधाम प्रस्थान करना इत्यादि बातें बहुत ही अच्छे ढग से वर्णित की गई हैं।

परमधाम को सिधारने से पहले राम ने बँटवारा कर अपने और भाइयों के पुत्रों के राज्य को देने की व्यवस्था की। इस व्यवस्थानुसार कुश को दक्षिण का आधिपत्य मिला, जिस की राजधानी कुशावती थी। राम के पीछे अयोध्या की हालत बहुत बुरी हो गई। एक दिन

कुश अपने शयन मन्दिर में सो रहा था कि उसे एक अत्यन्त तेजोमूर्ति स्त्री दिखाइ दी। वह अयोध्या की अधिदेवता थी। उसने श्रीरामचन्द्र के समय की अपनी समृद्धि और राम के वाद उसकी जो दुदशा हुइ उसका अत्यन्त हृदय स्पर्शी वर्णन करके कुश को अयोध्या म जाकर रहने के लिये आग्रह किया। कुश कुशावती छोड़कर राजपरिवारसहित अयोध्या को लौट आया। एक दिन सरयु में जल विहार करते समय कुश के हाथ का दिव्य ककण जो अगस्त्य ऋषि ने राम को और राम ने कुश को दिया था, सरयु में गिर पड़ा। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह न मिला। कुश को सन्देह हुआ कि कहीं मेरा ककण कुमुद नामक सर्प चुरा कर तो नहीं ले गया। इसलिये उसने गरुडास्त्र का प्रयोग किया, जिसके भय से त्रस्त होकर कुमुद ने कुश के ककण को लौटा दिया और साथ ही अपनी कन्या कुमुद्वती का परिणय कुश के साथ कर दिया। कुश के आतिथि नामक पुत्र हुआ। कुश के बाद अतिथि अयोध्या के सिंहासन पर बैठा। उसने दिन रात का विभाग करक अपने कर्तव्य का अच्छी तरह पालन किया। रूप यावन-सपत्ति और अधिकार के अनुकूल होने पर भी राजा अतिथि में गर्व का लेश भी नहीं था। राजनीति के अनुसार ही उसका व्यवहार रहा। (सग १७)

१८ वें सर्ग में २१ राजाओं का वणन है जिन में से २० राजाओं का वर्णन करने में कवि ने प्रत्येक के लिये एक या दो श्लोकों से काम लिया है। अन्तिम राजा सुदर्शन बाल्यावस्था में ही राजगद्दी पर बैठा। उसने मन्त्रियों की सहायता से राज्य–शासन की जो उत्तम व्यवस्था की उसका वणन इस सग के अत में दिया गया है। अतिम १९वें सर्ग में सुदर्शन के पुत्र अग्निवर्ण का चरित्रवर्णन किया गया है। उसके पिता ने शत्रुओं का समूल नाश कर दिया था और राज्य की व्यवस्था उत्तम थी, इसलिये अग्निवर्ण को

कुछ करना नहीं पड़ा। कुछ दिन तक तो उस ने राज्य-शासन की ओर ध्यान दिया किन्तु विलासी होने के कारण राज्य का भार मन्त्रियों को सौंप कर स्वयं पूर्णरूप से विषयोपभोग में निमग्न हो गया। वह दिन रात अन्तःपुर में विहार करता था। उसे प्रजा की ज़रा भी चिन्ता न थी। एक दिन मन्त्रियों के अत्यन्त आग्रह से लपट राजा ने अन्तःपुर की खिड़की से कवल अपना एक पैर बाहर निकाल कर प्रजा को दर्शन दिया। इस विषयासक्त और व्यसनी राजा का वर्णन पढ़ कर मन में घृणा उत्पन्न होती है। फिर भी कवि के उस वर्णन-नैपुण्य पर हमें आश्चर्य हुये बिना नहीं रहता। अग्निवर्ण स्वयं बहुत ऊँचे दर्जे का ललित-कला-कोविद था। वह नर्तकियों के नृत्य के समय स्वयं मृदंग बजाता था और उनके नृत्य में दोष दिखला कर उन्हें लज्जित कर देता था। अन्तःपुर की ललनायें उसकी वासनातृप्ति के लिये पर्याप्त नहीं थीं। अतएव उसकी दृष्टि से सुंदर दासियाँ और वेश्यायें भी नहीं बचती थीं। अतिस्त्रीप्रसंग और सुरापान से उसका शरीर, दुर्बल, व्याधिग्रस्त हो गया। वैद्यों के उपदेश देने पर भी वह दुर्व्यसनों से निवृत्त न हुआ। क्योंकि "स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवर्तते।" (रघु० १९, ४९) (यदि इन्द्रियों को एक बार स्वादुविषयोपभोग का चसका लग गया तो फिर उस से छुटकारा पाना बहुत कठिन है)। बहुत दिन तक राजा का दर्शन न होने के कारण प्रजा को उस के विषय में चिन्ता हुई। अन्त में अग्निवर्ण क्षयरोग का शिकार बना यह बात मन्त्रियों ने गुप्त रक्खी। उस की मृत्यु होने पर उस की गर्भवती रानी को सिंहासन पर बिठाया और रानी ने राज्यव्यवस्था सरलता से चलाई (सर्ग १९)।

'रघुवंश' के उन्नीसवें सर्ग का अन्त आकस्मिक हुआ है।

अभी कुछ वर्ष के पहले एक विद्वान् ने धारा नगरी में 'रघुवंश' के २६ सर्ग होने की सूचना दी थी। स्वर्गवासी रायबहादुर शंकर पांडुरंग पण्डित ने भी सुना था कि २० से २५ तक 'रघुवंश' के सर्ग उज्जयिनी में वर्तमान हैं। अब तक इन अवशिष्ट सर्गों का पता न लगने से इस बात पर विश्वास नहीं किया जाता था कि 'रघुवंश' के २६ सर्ग रहे होंगे। कवि ने उन्नीस सर्ग के आगे रचना नहीं की इसका कारण उसकी अस्वस्थता या मृत्यु हो सकती है। कारण कुछ भी क्यों न हो, 'कुमारसंभव' की तरह यह काव्य भी कवि ने अपूर्ण ही छोड़ दिया। 'विष्णुपुराण' में राजा अग्निवर्ण के पश्चात् और भी आठ राजाओं का वर्णन आया है। अस्तु!

'रघुवंश' कालिदास का अत्यंत प्रसिद्ध महाकाव्य है। इस की भाषा इतनी सरल है कि साधारण संस्कृत जाननेवाले आबाल वृद्ध इसका रसास्वाद कर सकते हैं। इस एक ही काव्य पर लगभग तेतीस टीकायें उपलब्ध हैं। इसी से इस काव्य की लोक प्रियता का अनुमान किया जा सकता है। इसे संस्कृत-काव्य साहित्य का अनमोल रत्न कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यद्यपि कालिदास ने अनेक उत्कृष्ट काव्य तथा नाटक रचे हैं तथापि संस्कृत के अनेक ग्रंथकार और सुभाषितकारों ने उनका 'रघुकार' के नाम से ही उल्लेख किया है। इस से 'रघुवंश' की सर्वप्रियता और उत्कृष्टता का पता चलता है।

'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' ये दो पहले के काव्य अधिक मर्यादित और सुगठित हैं। 'कुमारसंभव' में सिर्फ भगवान् शंकर के चरित्र की एक विशिष्ट घटना का वर्णन किया गया है। उसी प्रकार 'मेघदूत' में केवल एक विरही नायक और उसकी एक नायिका है।

दोनो काव्य सुगठित मालूम होते हैं। 'रघुवश' की रचना अन्य प्रकार की है। इस में २६ राजाओं का वर्णन है, इस राजवशावली में वर्णित राजागण सामान्यतया सभी शूर, न्यायी, सयमी, विद्वान् तथा दानशील थे। तो भी उनके चरित्रों में जो भिन्न भिन्न प्रसगों का वर्णन है, उन में एकसूत्रता और प्रमाणबद्धता नहीं रह सकी। कइ अन्य दृष्टिकोणों से 'रघुवश' उनके अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक सरस महाकाव्य है। 'कुमारसभव' और 'मेघदूत' के नायक देवता जाति के हैं। उन के विचारों तथा विकारों में पाठकों के मन में आत्मीयता का भाव उदय नहीं होता है। लकिन 'रघुवश' में, कई स्थलों में अपूर्वता दिखाई देती है। इस काव्य के पात्र इसी भूमि के वासी थे। उन के चरित्र उदात्त होने पर भी अद्भुत और अतिमानुष नहीं हैं। इसलिए पाठकों को उन के प्रति कुतूहल, आदर और सहानुभूति उत्पन्न होती है। इस काव्य की रचना में भी कवि की कल्पना का विलास दृष्टिगोचर होता है। दिलीप से लेकर दशरथ तक 'रघुवश' में वर्णित राजाओं में हरएक किसी एक गुण में अद्वितीय था। राजा दिलीप भक्तिमान, रघु दानवीर और सर्वस्वत्यागी, अज उच्च कोटि का प्रेमी तथा दशरथ राजगुणसपन्न थे। परन्तु राम के स्वभाव में इन समस्त गुणों का मधुर मिश्रण हुआ है। राम के चरित्र में सीता के साथ जो अन्याय हुआ उससे अथवा किसी दूसरे कारण से राम के बाद रघुवश का ऐश्वर्य हतप्रभ हो चला था। राज्यव्यवस्था शिथिल हो चली थी। प्रथम एक दो पीढ़ियों तक कुश और अतिथि इन दो राजाओं के समय में पूर्व पुण्य के प्रभाव से अथवा उन राजाओं के कुछ उत्कृष्ट वैयक्तिक गुणों के कारण तेज़ी

से अवनति न हो सकी, फिर भी अवनति प्रतिदिन होती ही गई। राजा अतिथि के पश्चात् इक्कीस राजा हुये। उनके चरित्र म वर्णन योग्य एक भी प्रसग कवि को नहीं दिखाइ पड़ा। तदुपरान्त सिहासनारूढ अग्निवर्ण ने दिन रात विषयभोगों में मग्न होकर अपनी पूर्वजों की धवल कीर्ति को कलकित किया। एक तरफ तो प्रजा के सरक्षण पोषण, तथा शिक्षण में सदा सर्वदा पितासमान सतर्क हो कर दत्तचित्त रहनेवाला दिलीप और दूसरी ओर अहर्निश अन्त पुर में पड़े रहकर विलासिता और लपटता में आकण्ठ मग्न मन्त्रियों की प्रेरणा से खिड़की की राह से सिर्फ एक दिन अपने पैर निकाल कर दर्शनोत्सुक प्रजा से 'इन्हीं को देखकर सन्तोष कर लो' कहने वाला राजा अग्निवर्ण, इन दोनों के चरित्र म पाठकों को आकाश पाताल का अन्तर शीघ्र ही ज्ञात हो सकता है। कवि ने दोनों का चरित्र समान कौशल से चित्रित किया है तो भी वह समाज के आगे कौन आदर्श उपस्थित करना चाहता था यह समझ लेना कठिन नहीं।

इस काव्य के प्रथम सर्ग के आरभ में "पूर्वसूरिकृत ग्रथों का अनुसरण कर मैं 'रघुवश' की रचना करता हूँ" ऐसा कवि ने कहा है। नवम सर्ग से पद्रहवें सर्ग तक कालिदास ने वाल्मीकि–रामायण का सहारा लिया है। किन्तु किन अन्य ग्रथों का कालि दास ने आश्रय लिया है यह अभी तक ठीक ठीक नहीं मालूम हो सका है। पुराणों में भी इन राजाओं की नामावली दी गई है। किन्तु उस नामावली और 'रघुवश' में दी हुइ नामावली के क्रम में बहुत अतर है। उदाहरणार्थ, दिलीप और रघु के बीच वाल्मीकि रामायण में दो, वायुपुराण में उन्नीस, विष्णुपुराण में अठारह राजाओं के नाम दिये हुये है। इस के अतिरिक्त इन

ग्रन्थों में नामनिर्देश के सिवा उन राजाओं के चरित्र पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है।*

इससे यह सभव प्रतीत नहा होता है कि कालिदास ने अपने पूववर्ती इन ग्रंथकारों के विषय मं कवल नामनिदश के कारण इतने आदर के उद्गार निकाले हों। कालिदास क सामने अन्य ग्रथकारों के ग्रथ थे, ऐसा मानना पड़ता है। भास के 'प्रतिमा' नाटक मे दिलीप से लेकर दशरथ तक का क्रम 'रघुवश' के अनुसार ही मिलता है। इससे दोनों कवियों ने एक समान ग्रथ का उपयोग किया होगा, यह स्पष्ट होता है। 'रघुवश' के १८वें सर्ग मे २१ राजाओं की केवल नामावली दी हुइ है। इससे यह मालूम होता है कि कालिदास के पूर्वकालीन ग्रथों में इन राजाओं का कुछ विशेष परिचय नहीं दिया गया था। दिलीप, रघु और अज के विषय में भी बहुत अशों मे यही स्थिति रही होगी। इस दशा में इतनी अपूर्ण सामग्री का उपयोग कर 'रघुवश' में उदात्त चरित्रों के उत्तुग प्रासाद निमाण करने वाले कवि की प्रतिभा की जितनी तारीफ़ की जाय, कम है।

११वीं शताब्दी में उत्पन्न हुये सोड्ढल कवि ने अपने 'उदयसुदरी' नामक ग्रथ में भिन्न भिन्न कवियों की कुछ विशेषताओं

* पद्मपुराण में दिलीप से लेकर दशरथ पर्यंत राजाओं का वर्णन 'रघुवश' के वर्णन से अनेक जगहों पर मिलता जुलता है। डा० विन्टर्निट्स् और उनके अनुयायियों ने यह अनुमान निकाला कि कालिदास ने 'रघुवश' की रचना करते समय पद्मपुराण का आधार लिया होगा। पर यह बात युक्ति-सगत नहीं मालूम पड़ती। उलटे पद्मपुराणकार ने 'रघुवश' की सहायता ली है, यह हमने आगे दिखलाया है।

का उल्लेख करते समय कालिदास को 'रसश्वर' की पदवी दी है। यदि कालिदास के रसवर्णन की निपुणता पर विचार करें तो यह उपाधि सार्थक प्रतीत होती है। कालिदासकृत अन्य ग्रंथों में एक दो रसों का परिपाक मिलता है किन्तु 'रघुवंश' में तो प्राय सभी मुख्य मुख्य रसों का परिपोषण किया गया है। राजा अग्निवर्ण के विलासवर्णन में शृङ्गार, रघु, अज और राम के युद्ध प्रसंगों में वीर, अज विलाप में करुण, वशिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रम तथा सर्वस्वत्यागी रघु के वर्णन में शान्तरस की प्रमुखता हुई है। इसके सिवा ताडका-वध के प्रसंग में बीभत्स की किञ्चित् छटा दृष्टिगोचर होती है। कवि की भाषा सरल मधुर और प्रासादिक है। जहाँ तहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि अर्थालङ्कार नग की तरह जड़ दिये गये हैं। कालिदास ने शब्दालङ्कारों पर प्राय बहुत ज़ोर कहीं नहीं दिया है। तथापि नवम सर्ग में ग्रीष्म ऋतु और दशरथ के आखेट का वर्णन करते समय 'यमवताम वता च धुरि स्थित', 'रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम्' इत्यादि स्थानों में यमक और अनुप्रासों का उपयोग करने की लालसा कवि ने पूरी की है। कवि ने अलङ्कारों और वर्णनों का अधिक विस्तार न होने देने की ओर अच्छी तरह ध्यान रखा है। सर्वत्र वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ पर ही अधिक जोर दिया है। वृत्तों का यथोचित उपयोग किया गया है। रचना सुबोध तथा अतिरमणीय, भावतरंग मधुर, सृष्टि-वर्णन मनोहर होने के कारण 'रघुवंश' संस्कृत साहित्य का देदीप्यमान नक्षत्र और अद्वितीय सर्वाङ्गसुंदर काव्य माना जाता है।

छठा परिच्छेद

कालिदास के नाटक

> वासन्त कुसुम फल च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्व च यद्
> यच्चान्य मनसो रसायनमत स तपण मोहनम् ।
> एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो–
> रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे ! शाकुन्तल सेव्यताम् ।

'जर्मन कवि गेटे—'

[वसन्त ऋतु के समस्त पुष्प और फल तथा ग्रीष्मकाल के भी तमाम फल पुष्प और जो कुछ भी मन को रसायन की तरह सन्तृप्त और मोहन करने वाला है तथा स्वर्गलोक और भूलोक दोनों के अभूतपूर्व एकत्रित ऐश्वय को हे प्रिय मित्र ! यदि तुम देखना चाहते हो तो 'शाकुन्तल' का सेवन करो ।]

'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है कि इस वसन्तोत्सव में कविकालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का अभिनय दिखलाने के लिये विद्वत्परिषद् की मुझे आज्ञा हुई है। ऐसा कहने पर पारिपार्श्वक ने पूछा, लब्धप्रतिष्ठ भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के रचे हुये नाटकों को छोड़ इस आधुनिक नये कवि कालिदास के बनाये हुये नाटक में विद्वानों का इतना आदर क्यों होना चाहिये ?' इसक उत्तर में सूत्रधार कहता है—

> पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
> सन्त परीक्षान्यतरद्भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि ॥ माल० १ २

[प्राचीन जितने काव्य ह सब निदाप हैं और नय सब सदाप ह, ऐसा कोई नियम नहीं । सच्च समीक्षक परीक्षा करके ही उस प्राचीन नवीन में से अच्छी चीज़ ग्रहण कर लेते ह। मूढ मनुष्य ही दूसरों के मत के अनुसार चलते हैं ।]

सूत्रधार और पारिपाश्र्वक की इस बातचीत में कवि ने पववर्ती भास आदि प्रसिद्ध कवियों के नाटकों की अपेक्षा अपने नाटको की गुणोत्कृष्टता ध्वनित की है । इस में कितनी सत्यता है यह देखने के लिये कालिदास के पूर्वकालीन कवियों के नाट्य साहित्य की सक्षेप में समीक्षा करनी होगी ।

मालूम होता है जैसे अन्यान्य भारतीय शास्त्र और कला का उत्पत्ति और वृद्धि प्राचीन काल म याज्ञिक क्रियाओं के सबध में भारतवर्ष में हुई इसी प्रकार नाट्यकला की भी उत्पत्ति और वृद्धि हुई । अश्वमेध आदि यज्ञों के अवसर पर तथा उसके अतगत कर्मानुष्ठानों के बीच बीच अवकाश के समय शुन शेप आदि के प्राचीन आख्यान कहे जाते थे, ऐसा वैदिक-साहित्य में उल्लेख आया है । ऐसे ही प्रसङ्गों पर वैदिक देवताओं के चरित्रविषयक नाटकों का प्रयोग होता होगा । ये नाटक उसके बाद के नाटकों के समान सर्वाङ्ग-परिपूर्ण न रहे होंगे, तो भी उन में सस्कृत नाट्यकला के बीज नि सन्देह मिलते हैं । ऋग्वेदादि का अध्ययन शूद्रादिकों के लिये वर्ज्य होने से त्रेतायुग में सबवर्ण जिसका समान रीति स अध्ययन करें, ऐसी इन्द्रादि देवताओं की प्राथना पर ब्रह्मदेव ने नाट्यवेद नाम का पाँचवाँ वेद निर्माण किया, ऐसी प्राचीन आख्यायिका भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में दी हुई है । ऐसा मालूम होता है उससे वेदबाह्य वर्णों को धार्मिक शिक्षण देना भी उस समय की नाट्यकला का एक उद्देश था । तैत्तिरीय ब्राह्मण में

पुरुषमेध के प्रसङ्ग पर दी जाने वाली बलियों की सूची में नट का भी अन्तर्भाव किया है। इससे वैदिक और ब्राह्मण काल में नटों और नाट्यकला का अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरण के कर्ता पाणिनि का समय बहुमत से ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। उनकी अष्टाध्यायी में 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो' (४, ३, ११०) और 'कर्मन्दकृशाश्वादिनि' (४, ३, १११) इन दो सूत्रों में शिलालि और कृशाश्व इन दो आचार्यों के बनाये हुये सूत्रों का उल्लेख आया है। ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व उत्पन्न पतञ्जलि के महाभाष्य में तो नाटकों के रङ्गभूमि पर प्रयोग होने के भी कई प्रमाण मिलते हैं। इस ग्रन्थ में 'कंसवध' और 'बलिबध'—ये नाटक दिखलाये जाते थे, ऐसा वर्णन है।

भरत के नाट्यशास्त्र में 'अमृतमथन' और 'त्रिपुरदाह' इन नाटकों का तथा 'प्रलम्बवध' और 'चाणूरमर्दन' नाटकों का उल्लेख आया है। तथापि ये प्राचीन नाटक केवल नामशेष ही रह गये हैं। काव्यों की तरह नाटकों में भी अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ बौद्ध लेखकों के ही उपलब्ध हैं। बौद्ध धर्म ने पहिले नाट्यकला का बहिष्कार किया था। तथापि इस कला ने समाज के मन को आकर्षित किया है। इस कारण उसका भी धर्म प्रसार के लिये अच्छा उपयोग हो सकता है यह बात ध्यान में आते ही बौद्ध लेखक नाट्यकला का आदरपूर्वक उल्लेख करने लगे और स्वयं नाटक लिखने लगे। इस प्रकार तीन नाटकों के हस्तलिखित ताडपत्रों के कुछ छोटे बड़े टुकड़े ई० स० १९१० में मध्य एशिया में मिले है। उस में एक का नाम 'शारिपुत्रप्रकरण' अथवा 'शारद्वतीपुत्रप्रकरण' है। ये नाटक अश्वघोष के रचे थे, ऐसा स्पष्ट उल्लेख उस नाटक के अन्तिम

पत्र पर किया हुआ मिलता है । इस में शारिपुत्र और मौद्गलायन के बुद्ध का उपदेश ग्रहण कर बौद्धधर्म स्वीकार करने का वर्णन आया है । दूसरे दो नाटकों में से एक 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक की कोटि का है । उस में बुद्धि, धृति, कीर्ति और बुद्ध नाटक के पात्र हैं । तीसरा नाटक 'मृच्छकटिक' के समान है । इस में मगधवती नामक वेश्या कौमुदगंध नामक विदूषक, नायक, दुष्ट इत्यादि पात्र मिलते हैं । मिले हुये ताड़पत्रों के खंड अत्यन्त छोटे होने से इन नाटकों में कथानकरचना, पात्रों के चरित्रचित्रण इत्यादि विषयों में अश्वघोष ने कितनी उन्नति की थी, इसका पता नहीं लग सकता।

कालिदास के पूर्वकालीन नाटककारों में अश्वघोष की तरह भास का भी प्रमुखता से उल्लेख करना चाहिये । इ० स० १९१० में महामहोपाध्याय पण्डित गणपतिशास्त्री द्वारा मालाबार में मिले हुये १३ नाटकों के प्रकाशन के पहिले कालिदास, बाण, वाक्पतिराज, राजशेखर, अभिनवगुप्त इत्यादि के ग्रन्थों में उल्लेख से ही भास का नाम जाता था । इन १३ नाटकों में से 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' नाटक में रामचरित का वर्णन किया है और उनका कथानक रामायण से लिया गया है । इन में से 'प्रतिमा' के छः अंक हैं । उस में राम के यौवराज्याभिषेक से लेकर वनवास पूर्ण होने पर दशमुखवध के अनन्तर सीता, लक्ष्मण आदि सहित अयोध्या में लौट आने तक का कथाभाग आया है । 'मध्यमव्यायोग', 'पंचरात्र', 'दूतवाक्य', 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार' और 'ऊरुभंग' इन छः नाटकों के कथानक महाभारत से लिये गये हैं । इन में 'पंचरात्र' के तीन अंक हैं । एक यज्ञप्रसङ्ग में पाण्डवों की खबर पांच दिन में लगाने पर हम उनको आधा राज्य देंगे ऐसा वचन दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को दिया था । उत्तरगोग्रहण में उनके प्रगट होने पर वचन के

अश्वघोष के अनन्तर और कालिदास के पहले हुये होंगे। इसके अतिरिक्त भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' का एक श्लोक 'बुद्धचरित' के (१३, ६०) श्लोक से मिलता जुलता पाया जाता है। कालिदास के समय में भास प्राचीन नाटककार माने जाते थे यह 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना से मालूम होता है। अतः भास का काल ईसवी सन् की तृतीय शताब्दी मानना पड़ता है।

✓भास के नाटकों में विशेष रचना-कौशल नहीं दीख पड़ता। 'अभिषेक', 'बालचरित', 'दूतवाक्य' इत्यादि नाटकों में रामायण और महाभारत के प्रसंग बहुत से जैसे के तैसे ले लिये गये हैं। 'प्रतिज्ञा', 'प्रतिमा', 'पञ्चरात्र', 'स्वप्नवासवदत्त' इत्यादि नाटकों में कथानक की सुविधा और वैचित्र्य के लिये मूलकथा में कवि ने बहुतसा भेद किया यह दीख पड़ता है। तो भी जटिल कथानक लेकर उसके तन्तु आखीर के अंक में सुलझाने में भास की प्रवृत्ति नहीं दीखती। उसके पात्रों का संवाद चटकदार होने से उस में उनके स्वभावों का प्रतिबिंब स्पष्ट झलकता है। इन सब नाटकों की ✓भाषा सादी, प्रसादयुक्त और अर्थगम्भीर है। उस में उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य सदृश अलङ्कारों की योजना दीखती है। उस में कहीं भी क्लिष्टता, कृत्रिमता और खींचातानी दृष्टिगोचर नहीं होती। भास ने महाभारत, रामायण और बृहत्कथा का अच्छा अभ्यास किया था। इससे उसकी अनेक कल्पना और शब्दप्रयोग उसके नाटकों में दीखते हैं। इन ग्रन्थों के अभ्यास करने से उसके नाटकों के पद्यों में और कहीं कहीं गद्य में भी 'स्मराम्यवन्त्याधिपतेः सुतायाः' (स्वप्न०) और 'ज्ञायतां कस्य पुत्रेति' (बाल चरित) ऐसी संधि की, 'स्त्रीगता पृच्छसे कथाम्' (पञ्चरात्र) 'आपृच्छ पुत्रकृतकान्' (प्रतिमा) ऐसे क्रियापदों की, और 'रुदन्तीम्' (दूतवाक्य), 'गृह्य'

(दूतघटोत्कच), 'समाश्वासितुम्' (अभिषेक), इस तरह के कृदन्त रूपों की अशुद्धियाँ मिलती हैं। इसी प्रकार उपरिनिर्दिष्ट कारणों से उसके कथानक क्रियात्मक (Full of action) दिखते हैं। भास की कल्पनाशक्ति विशाल थी परन्तु विवेचक शक्ति कम दर्जे की थी। नहीं तो 'पंचरात्र' के प्रथम अंक के विष्कंभक में अग्नि का विस्तृत वर्णन कथानक में अनावश्यक होने से संक्षेप से किया गया होता। इसी प्रकार 'द्वावेव दोर्भ्यां समरे प्रयातौ हलायुधश्चैव वृकोदरश्च' (पंचरात्र) [हलायुध (बलराम) और वृकोदर दोनों निःशस्त्र होकर रणक्षेत्र में जाते हैं] इस पद्य के अर्थ की तरफ़ दृष्टि डालने पर हलायुध नाम के प्रयोग का अनौचित्य उसके ध्यान में आ जाता है। इसी प्रकार के अनेक स्थान उसके नाटकों में दिखाये जा सकते हैं। शब्दयोजना की तरफ भी उसने विशेष ध्यान नहीं दिया। इस से उसके नाटकों में नादमाधुर्य कम मिलता है। तो भी उसकी नाट्यकृति की विविधता, विशालता और सहजरम्यता ध्यान में रखते हुये कालिदास के पूर्वकाल में यदि उसका नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया तो कोई आश्चर्य नहीं।

अश्वघोष के काव्य की तरह भास के नाटकों का भी कालिदास ने ममता से अभ्यास किया था यह मालूम पड़ता है। इस कारण उसकी कुछ रम्य कल्पनायें कालिदास की प्रतिभा से और नादमधुर शब्दयोजना से अति रमणीय हुईं। ऐसी कल्पनासादृश्य के २१ स्थल कैलासवासी शि० म० परांजपे के 'साहित्य संग्रह' के पहले भाग में, एक लेख में निर्दिष्ट किये गये हैं। उनके अतिरिक्त हम भी दो तीन उदाहरण यहाँ पर देंगे।

१ भास—अथवा सर्वमलङ्कारो भवति सुरूपाणाम्। प्रतिमा।
[सुंदर रूपवालों को सब कुछ शोभा देता है।]

कालिदास—किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। शाकु० १

[मधुर (सुंदर) आकृतिवालों को क्या वस्तु मण्डन (शोभा) करने वाली नहीं है ?]

२ भास—वाचानुवृत्तिः खलु अतिथिसत्कारः । प्रतिमा ५

[अच्छे वचन बोलने ही से अतिथि-सत्कार हो गया ।]

कालिदास—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् । शाकु० १

[आप लोगों के मधुर भाषण ही से हमारा आतिथ्य (अतिथि सत्कार) हो गया ।]

३ भास—अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते । प्रतिमा ।

[ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि समान शीलवाले जोड़ों की सृष्टि हो ।]

कालिदास—समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः । शाकु० ५

[यह वधूवर का जोड़ा समानगुणवाला बनाने से प्रजापति को अब कोई दोष नहीं देगा ।]

इन ऊपर के अत्यन्त समानता रखने वाले वाक्यों को ध्यान पूर्वक देखने से कालिदास की शब्दयोजना की कुशलता प्रगट होती है । उनके प्रथम नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में कई प्रसंग 'स्वप्नवासवदत्त' से सूझे हूये मालूम होते हैं । तो भी कलाभिज्ञ तथा सौन्दर्यान्वेषक होने से कालिदास के ग्रन्थ भास के ग्रन्थ से अधिक निर्दोष और रमणीय हुए हैं । अपने नाटकों में अनावश्यक प्रसंग, पद्य अथवा वाक्य न लिखने में उन्होंने बड़ी सावधानी रक्खी है । इसी तरह देवों के आयुधों का मनुष्य में अवतार होने के सदृश अद्भुत प्रसङ्ग, रंगभूमि पर प्रत्यक्ष युद्ध का दृश्य तथा एक ही पद्य के पाद भिन्न भिन्न पात्रों के द्वारा कहला कर पूरा करना

ऐसी कृत्रिम दीखनेवाली बातें और पाणिनि के विरुद्ध व्याकरण प्रयोग कालिदास ने खास कर बचाये हैं। इसी प्रकार भास के ग्रन्था में से कुछ रमणीय कल्पनाएँ और प्रसङ्ग लेकर और उनके दोप दूर करते हुए कालिदास ने अपने नाटक रचे और वे उस समय रसिकों को भास के नाटकों की अपेक्षा बहुत प्रिय लगे, ऐसा मालूम पड़ता है।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक की प्रस्तावना में सौमिल्ल और कवि पुत्र इन प्रसिद्ध प्राचीन नाटककारों का कालिदास ने उल्लेख किया है। परन्तु उनके विपय में निश्चित वृत्तान्त नहीं मिलता। राजशेखर के एक श्लोक में रामिल और सोमिल इन्होंने मिलकर 'शूद्रककथा' लिखी थी, ऐसा वर्णन किया गया है। परन्तु वह सोमिल और कालिदास से उल्लेख किया हुआ सौमिल्ल एक ही व्यक्ति है यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। 'शूद्रककथा' किस प्रकार की है यह भी हम नहीं जानते है। 'मृच्छकटिक' नाटक इन दोनों कवियों ने मिलकर लिखा है और उसे शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध किया, ऐसा कइ लोगों का मत है। परन्तु यह बात सभव नहीं दीखता। क्योंकि एक तो उसका सविधानक शूद्रकविपयक नहीं है और दूसरे 'मृच्छकटिक' भास के 'चारुदत्त' की सुधारकर बढ़ाइ हुई, आवृत्ति प्रतीत होती है, इस मत को बहुतों ने माना है। भास के नाटक लुप्तप्राय होने पर किसी ने यह काम किया होगा। इस प्रकार के नाटक लिखनेवालों की कालिदास प्रशसा करेगा ऐसा विश्वास नहीं होता। बाकी बचे तीसरे कविपुत्र नामक नाटककार के विपय में तो कुछ भी हाल नहीं मिलता।

मालविकाग्निमित्र

विदर्भाधिपति वाकाटक की सहायता से मालवा और काठियावाड़ में राज्य करने वाले क्षत्रपों का उच्छेद कर द्वितीय चन्द्रगुप्त ने उज्जयिनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया और शीघ्र ही वाकाटकों से स्नेहसंबंध दृढ़ करने के लिये राजपुत्र द्वितीय रुद्रसेन को अपनी कन्या प्रभावतीगुप्ता दी। यह विवाह उज्जयिनी में ही बड़े ठाठ से हुआ होगा। ऐसे प्रसङ्गों पर नाटक का प्रयोग किया जाता था। राजशेखर की 'विद्धशालभंजिका', बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी' इत्यादि संस्कृत नाटिकायें ऐसे ही प्रसंग में रंगभूमि पर लाई गई थीं। मालूम होता है इसी समय प्रभावतीगुप्ता के विवाह प्रसंग पर एक अच्छा नाटक खेलने के लिये चन्द्रगुप्त ने विद्वत्परिषद से कहा होगा। उस समय भास के अनेक नाटक विद्वानों के सामने थे। विशेष कर उसका 'स्वप्नवासवदत्त', संविधानक की प्रमाणबद्धता, पात्रों के स्वभावों का मार्मिक विश्लेषण इत्यादि गुणों से प्रसिद्ध था। जिसके स्त्री-दाक्षिण्य युक्त नायक उदयन और पति के ऊपर निस्सीम प्रेम करने वाली, पति का राज्य बढ़े इसलिये राजनीतिज्ञ मंत्री के आग्रह से अपनी मृत्यु की झूठी खबर फैलाकर अज्ञातवास में स्वेच्छा से रहने वाली और प्रत्यक्षतया अपनी सौत से मात्सर्य न करती हुई उसको अपने कौशल से अलंकृत करने वाली नायिका वासवदत्ता पर उज्जयिनी के लोगों को कौतुक और अभिमान रहा ही होगा। उसकी कथा वहाँ के लोगों की जिह्वा पर थी। उदयन जिधर से वासवदत्ता को भगा ले गया था, वह जगह वे बड़े प्रेम से दिखाते थे, यह कालिदास के 'मेघदूत' से ज्ञात होता है। प्राचीन भास के 'स्वप्नवासवदत्त' को या उदयोन्मुख तरुण कवि कालिदास

के लिखे हुये 'मालविकाग्निमित्र' को पसद करना यह प्रश्न विद्वत् सभा के आगे उपस्थित था। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का सविधानक उस प्रसग पर लोगों को प्रिय लगने लायक ही था। चन्द्रगुप्त ने जैसे परकीय क्षत्रपों का पराभव करके उत्तर हिन्दुस्तान मे हिन्दुओं का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया और हिन्दू धर्म का पुनरुज्जीवन किया उसी तरह पुष्यमित्र शुङ्ग ने बौद्ध राजा का पराभव करके हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार किया और उसके कम उम्रवाले पौत्र वसुमित्र ने अश्वमेध के प्रसङ्ग पर अश्व का सरक्षण करके बलाढ्य ग्रीक लोगों की सेना का पूरा पराजय किया था। कालिदास के समय में जैसे मालवा और विदर्भ के राजघरानों में विवाह सबध जुड़ा था उसी तरह शुग के समय में अग्निमित्र ने विदर्भ राजकन्या मालविका से विवाह किया था। सविधानक वैचित्र्य और पात्र स्वभाव के अकन में कालिदास का नवीन नाटक 'स्वप्नवासवदत्त' से निम्न श्रेणी का न था। बल्कि काव्य गुण, सृष्टि-वर्णन इत्यादि में बढ़ा चढ़ा हुआ था। अत अन्य नाटकों की अपेक्षा वह विद्वानों को पसद आया हो तो कोइ आश्चर्य नहीं। किन्तु कइ लोगों को यह चुनाव पसन्द न आया होगा। इसीलिये कालिदास ने अपने नाटक की प्रस्तावना में 'मेरा नाटक प्राचीन नाटककारों की कृति से बराबरी करने में यदि श्रेष्ठ ठहरे तो स्वीकार करो। केवल नवीन समझ कर उसकी अवहेलना मत करो' ऐसा प्रेक्षकों से कहा है।

'मालविकाग्निमित्र' कालिदास का है अथवा दूसरे किसी उत्तर कालीन कवि का है इस विषय में पहले कई लोगों को सशय था। परन्तु अनेक प्रमाणों से इस सशय का खडन हो गया है। कालिदास के अन्य नाटकों की तरह इस में भी मगलश्लोक शिवस्तुति पर है।

इसकी प्रस्तावना भी अन्य नाटकों की तरह छोटी है। इस म कवि ने अपना नाम स्पष्ट दिया है। कालिदास के मार्मिक निरीक्षण और सृष्टिवर्णन की रुचि इस में भी उत्कट रीति से देख पड़ती है। कितने ही स्थलों में उसके अन्य ग्रन्थों की कल्पना निराले शब्दों में व्यक्त की गई दीखती है। इन सब प्रमाणों से इस ग्रन्थ को कालिदासकृत मानने में संदेह नहीं रहता।

'मालविकाग्निमित्र' में पाँच अङ्क हैं। इसका संविधानक बहुत जटिल है। पहले अङ्क में प्रस्तावना के अनन्तर एक विष्कम्भक आया है। उसमें कौमुदिका बकुलावलिका नाम की दासियों और गणदास नामक नाट्याचार्य के संभाषण में धारिणी रानी के लिये बनवाई हुई नागमुद्राङ्कित अँगूठी का उल्लेख करके कवि ने प्रेक्षकों के लिये नायिकाविषयक थोड़ा निम्नलिखित प्रास्ताविक भी दिया है। धारिणी का हीन जाति का वीरसेन नामक भाई नर्मदा के किनारे सरहद के किले पर नियुक्त किया गया था। मालविका शिल्पकला में अत्यन्त निपुण होकर रानी धारिणी की उत्तम सेवा करेगी ऐसा समझकर वीरसेन ने मालविका को दासी बनाकर भेजा था। रानी ने उसे संगीत सिखाने के लिये गणदास की योजना की थी। परन्तु उसकी बुद्धिमत्ता देखकर उसके बड़े कुल के होने का संशय उसको हुआ था। एक दिन जब रानी अपने परिजनसमेत चित्र देख रही थी तो राजा अग्निमित्र वहाँ आ गया और मालविका के रूप पर मोहित होकर अग्निमित्र ने उसके सम्बन्ध में जानना चाहा। इस से धारिणी को संशय हुआ और वह राजा की दृष्टि से बचाने के लिये उसकी विशेष सावधानी रखने लगी। इतना हाल बिल्कुल थोड़े शब्दों में कहकर कवि ने पाठकों का कुतूहल जाग्रत किया है। इसके अनन्तर मुख्य अङ्क का प्रारम्भ होता है। प्रथम राजा और

अमात्य प्रवेश करते हैं। उनके सभापण से प्रेक्षकों को मालूम पड़ता है कि मगध में राज्यक्रान्ति हुई है और मार्य राजा को पदच्युत किया गया है। उसके सचिव को कारागृह में रद कर अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र ने गद्दी ले ली है। इसी समय विदर्भ के राजसिंहासन के विषय में दो चचेरे भाइयों में कलह उत्पन्न हुआ। उस में से एक भाइ माधवसेन अपनी बहन मालविका को अग्निमित्र को देने और उसकी मदद माँगने के लिये विदिशा को जा रहा था। इधर उसके चचेरे भाई यज्ञसेन ने गद्दी छीन ली और अपने सीमान्त अधिकारियों द्वारा उसको कैद करा लिया। अग्निमित्र ने माधवसेन और उसकी बहन को छोड़ने के लिये उसे लिखा। तब उसने उत्तर में कहा कि मेरे साले और मौर्य राजा के मन्त्री को आपने कैद किया है यदि आप उनको छोड़ देंगे तो मैं भी माधवसेन को छोड़ दूँगा। माधवसेन को पकड़ने की गड़बड़ में उसकी बहन कहीं भटक गइ है। उसका भी पता लगाने के लिये यत्न करूँगा। अग्निमित्र को विदभ का राज्य पादाक्रान्त करना था। इसलिये उसको अनायास यह निमित्त मिल गया। इसके बाद वह विदर्भ पर चढ़ाइ करने के लिये अपने सेनापति को आज्ञा देता है। राजकार्य पूरा होने पर अमात्य जाता है और विदूषक प्रवेश करता है। उसक और राजा के सभाषण से राजा को मालविका दिखा देने की कोई युक्ति उसे सूझी है ऐसा प्रेक्षकों को मालूम पड़ता है। इतने में गणदास और हरदत्त इन दोनों नाट्याचार्यों में विदूषक की कलह प्रियता से लड़ाई शुरू होती है और वे दोनों उसका निर्णय कराने के लिये राजा के पास आते हैं। गणदास को धारिणी का आश्रय प्राप्त होने से हम ने कुछ निर्णय दिया तो रानी को क्रोध आवेगा इस कारण राजा यह सुझाता है कि रानी के सामने पण्डिता कौशिकी

नामक परिव्राजिका को इसका मध्यस्थ ननाया जाय । उम प्रस्ताव को दोनों मान लेते ह श्रार कचुकी उसे बुला लाता है । रानी का उनका कलह श्रच्छा नहीं लगता और जन परिव्राजिका कहती है कि "जो स्नत श्रत्यन्त निपुण होकर दूसरों को सिखाने में भी निपुण हाता है वही श्रेष्ठ शिक्षक है । श्रत तुम श्रपनी श्रपनी शिष्याओं की परीक्षा दिलाश्रो श्रौर उनका श्रगसौष्ठव स्पष्ट दीखता रहे इसलिये पात्र नेपथ्य-रहित रहें ।" तब तो उसका सशय श्रौर भी पक्का हो जाता है । इधर इसी निमित्त से मालविका को नज़र से भरपूर देख सकते राजा की कार्यवाही इस कलह के भीतर छिपी है, ऐसा उसको मालूम होता है श्रौर वह राजा का टोंचती है कि राज्यकाय में श्राप इसी प्रकार कौशल दिग्गावे तो कितना श्रच्छा हो । तो भी गणदास के श्राग्रह से वह इस नाट्यपरीक्षा को मजूर करती है । परदे के पीछे मृदग ध्वनि सुन पड़न पर नाच की तैयारी हो गई ऐसा समझ कर सब लोग वहाँ जाते ह (श्रक १) । इस तरह पहिले श्रक में कथानक का श्रारम्भ होता है । उस समय की राजकीय परिस्थिति का सक्षेप से वर्णन करके कवि ने नायिका के प्रति प्रेक्षकों के मन में कुतूहल उत्पन्न किया है । मुख्य श्रक में गणदास श्रौर हरदत्त का कलह, मालविका राजा की दृष्टि में न पड़े इसलिये रानी की व्याकुलता, उसको देखने के लिये राजा की उत्सुकता, धूत परिव्राजिका का निष्पक्ष बनने का श्राडम्बर श्रौर विदूषक का गणदास को चिढ़ाना श्रौर उसका उपहासपूर्ण विनोद उत्तम रीति से श्रकित किया गया है । इस में सक्षेप से कथानक को मनोरञ्जक बनाने की कालिदास की कला उत्तम प्रकार से दीख पड़ती है । यहाँ सब पात्रों के भाषण चटकदार हैं । उन में श्रनावश्यक भाग कहीं नहीं है । दूसरे श्रक का स्थल राजा के महल की सगीतशाला

है। राजा, विदूषक, धारिणी और परिव्राजिका के सामने छलिक नाम का नाट्यप्रयोग होने वाला है। हरदत्त की अपेक्षा वयोवृद्ध होने के कारण गणदास को अपनी शिष्या का शिक्षणनैपुण्य पहिले दिखाने के लिये परिव्राजिका आज्ञा देती है । तब मालविका प्रवेश करती है । विदूषक और राजा का वह उसके चित्र की अपेक्षा अधिक सुंदर दीखती है। राजा उसके सौन्दर्य का वर्णन करता है —

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयो
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः श्लिष्टं तथास्या वपुः ॥ माल० २, ३

'इसके नयन विशाल हैं, मुख की कान्ति शरच्चन्द्र के समान है, भुज, स्कन्ध के पास किञ्चित् झुके हुये दीखते हैं, अशिथिल और उन्नत स्तनों से वक्षस्थल भरा हुआ है, बगलें दबी हुई हैं, कमर केवल वित्ताभर है, नितम्बभाग मोटा और पैरों की उँगुलियाँ कुछ टेढ़ी सी हैं, (सारांश)—नृत्याचार्य के पसंद के अनुसार ही इसका शरीर सुघड़ बना है।" इसके अनन्तर मालविका अभिनय के साथ पद गाती है। गान समाप्त होने पर मालविका चली जाने को ही थी कि राजा उसको स्वस्थता से भरपूर देख ले इस बहाने विदूषक कहता है, 'थोड़ा ठहरो—इस में थोड़ा सा क्रमभङ्ग हुआ है वह मुझे पूँछना है।' धारिणी को मालविका का वहाँ खड़ी रहना बिल्कुल नहीं भाता परन्तु गणदास के आग्रह से वह चुपचाप बैठी रहती है । "इस में तुमको कौनसा दोष दिखाई दिया" यह गणदास के पूछने पर विदूषक कहता है 'परीक्षक से पूछो मैं बाद में बताऊँगा'। परिव्राजिका और राजा उसके अभिनय इत्यादि की स्तुति करते हैं तब विदूषक कहता है 'अजी प्रथम प्रयोग दिखाने के

पहिले ब्राह्मणों की पूजा करनी पड़ती है, यह तुम भूल गये'। विदूषक नृत्य में कुछ दोष निकालेगा ऐसा सब को अनुमान था परन्तु उसका यह अनपेक्षित उत्तर सुनकर सब हँसने लगते हैं और मालविका भी मन्द स्मित करती हैं। उसे देखकर राजा को मालूम पड़ता है कि हमारे नेत्र सफल हुए। वह कहता है—

> स्मयमानमायताक्ष्या किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम्।
> असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम्॥ माल० २, १०

'इस विशालनेत्रा का मन्दस्मित करता हुआ मुख थोड़े से दीखते हुये दशनों से ऐसा शोभित हो रहा है, जैसा कि वह अधखिला कमल जिस की केशर पूरी न दिखाई देती हो।' इस में कालिदास ने मन्दस्मित से जिसके दाँत थोड़े से दिखते हैं ऐसे मालविका के मुख का खिलने वाले कमल की सुंदर उपमा दी है। विदूषक की ऊपर की हुई टीका पर गणदास कहता है—'रंगभूमि में नेपथ्यसहित संगीत का प्रयोग होता तो आपके सदृश महान् ब्राह्मण को हम कैसे भूल सकते थे?' इसके बाद मालविका लौट जाती है। अब हरदत्त की शिष्या और राजा की तरुण स्त्री इरावती के नाट्य की बारी आती है। परन्तु राजा को इसके लिये बिल्कुल उत्सुकता नहीं है। इतने में वैतालिक परदे के भीतर मध्यान्ह-काल का सुंदर वर्णन करता है। उसको सुनकर विदूषक कहता है 'अब तो भोजन का समय हो गया। अगर भोजनवेला टल गई तो दोष उत्पन्न होता है यह वैद्य लोग कहते हैं।' तब हरदत्त का प्रयोग देखना दूसरे दिन के लिये टालकर सब लोग मध्याह्न कृत्य करने जाते हैं (अंक २)। इस अंक में भी मालविका का नाट्य, रंगभूमि में बहुत समय तक रहे इसलिये विदूषक की युक्ति, उस से

रानी का जलना इत्यादि बातें उत्तम रीति से अंकित की गई हैं। इरावती के नाट्य का प्रदर्शन कथानक के लिये आवश्यक नहीं इसलिये कवि ने जानबूझकर बड़ी खूबी के साथ टाल दिया है। इस से कवि का संयम अच्छी तरह प्रतीत होता है। मालविका का सौन्दर्य, नाट्य और खड़े रहने का ढंग वर्णन करते हुये कालिदास की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और वैतालिक के पद्य में उसकी सृष्टि वर्णन की रुचि स्पष्ट दीख पड़ती है। विदूषक का विनोद केवल हास्योत्पादक ही नहीं किन्तु कथानक का पोषक भी है। द्वितीय अंक की घटना के दो चार दिन बाद तृतीयाङ्क के आदि में एक छोटे प्रवेश का प्रारम्भ होता है। पंडिता कौशिकी की परिचारिका किसी निमित्त से प्रमदवन नामक उद्यान में जाती है। वहाँ उसे उद्यान-पालिका मिलती है। उनके संभाषण से हम को तीन बातें मिलती हैं। (१) इरावती के नाट्य प्रयोग देखने पर परिव्राजिका ने निर्णय किया कि दोनों आचार्य अपनी कला में बराबर निपुण हैं। परन्तु गणदास को उत्तम शिष्या मिलने के कारण उसकी जीत हो गई। (२) जिस दिन से राजा ने मालविका को देखा उस दिन से उसका मन उस पर आसक्त हो गया। मालविका की भी इसी प्रकार की दशा हो गई और वह पहिनी हुई मालतीमाला की तरह म्लान हो गई। (३) उद्यान में वसंत ऋतु का प्रारम्भ हो गया है तो भी सुवर्ण अशोक वृक्ष में फूल नहीं आये, यह बात धारिणी को जताने के लिये उद्यान-पालिका राजमहल की तरफ जाती है। इसके अनन्तर मुख्य अङ्क में राजा और विदूषक के संभाषण से मालूम होता है कि इरावती रानी ने अपनी सखी निपुणिका को भेजकर राजा से विनती की है कि वसंत ऋतु शुरु हो गई है। इसलिये आपके साथ झूले पर बैठकर झूलने की मेरी इच्छा है। राजा ने

पहले ही स्वीकृति दे दी थी। परन्तु पीछे मेरा मन मालविका पर आसक्त हुआ हूँ, यह रानी को मालूम हो जायगा, ऐसा समझ कर वह उधर जाना नहीं चाहता। परन्तु विदूषक के आग्रह से वे दोनों प्रमदवन की तरफ जाते हैं। उद्यान में जाने के बाद राजा वसंत ऋतु की शोभा का वर्णन करता है। यह वर्णन बहुत उत्तम हुआ है। इतने में मालविका भी वहाँ आ जाती है। उसके स्वगत भाषण से मालूम होता है कि विदूषक की धूर्तता के कारण धारिणी झूले से गिर पड़ी, और उसके पाँव में चोट आई। अत सुवर्ण अशोक में फूल आवें इसलिये आवश्यक पाद प्रहार करने के लिये उसने मालविका को भेजा है और पाँच रात के भीतर अगर उस में फूल आये तो मैं तेरी इच्छा पूरी करूँगा ऐसा वचन भी दिया है। मालविका एक शिला पर बैठती है। उसको दूर से देखते ही राजा और विदूषक दोनों चुपके से उसके पास आकर खड़े हो जाते हैं। इतने में मालविका के पाँव में महावर लगाने और नूपुर पहनाने के लिये उसकी सखी बकुलावलिका वहाँ आती है। राजा बगीचे में गया है ऐसा जानकर इरावती और उसकी दासी निपुणिका भी जा पहुँचती हैं और उनकी बातचीत सुनती हुई खड़ी रहती हैं। विदूषक ने पहले ही से राजा से प्रेम करने के लिये मालविका को प्रोत्साहन देते हुए बकुलावलिका को कह रक्खा था। तदनुसार मालविका के पाँव में महावर लगाती हुई और नूपुर पहनाती हुई बड़ी चतुराई से वह अपना काम करती है। मालविका को धारिणी से डर लगता है। तब वह कहती है, 'भ्रमर का त्रास सहना पड़ेगा इसलिये क्या कोई वसंत ऋतु की सर्वस्व आम की मंजरी को अलङ्कार के रूप में कान में नहीं लगाता?'। पाँव अलंकृत हो जाने पर दोनों आपस में कहती हैं—

बकुलावलिका—एष उपारूढ़राग उपभोगक्षम पुरतस्ते वर्तते ।

मालविका (सहर्षम्)—किं भर्ता ?

बकुलावलिका (सस्मितम्)—न तावद्भर्ता । एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छ । अवतंसयैनम् ।

इस में राजा और अशोकपल्लव दोनों के लिये समान रूप से प्रयुक्त होने वाले राग और उपभोग इन श्लेष युक्त शब्दों का उपयोग कर बकुलावलिका ने बड़ी चतुराइ से मालविका के मुख से प्रेम व्यक्त कराया है । राजा छिपकर यह सवाद सुन ही रहा था । उस से उसे अत्यन्त आनन्द होता है । राजा को प्रगट होने के लिये कुछ निमित्त चाहिये था । इसलिये विदूषक पहले ही से आगे आकर कहता है, 'अजी, हमारे राजा के प्रियवयस्य अशोक को लात मारना क्या अच्छा है ?' उस पर 'रानी की आज्ञा से उसने ऐसा किया है । इसे आप क्षमा कीजिये ।' ऐसा कहकर बकुलावलिका मालविका से राजा को नमस्कार कराती है । फिर 'आनदरूपी पुष्प बहुत दिनों से मुझे नहीं मिला है इसलिये अपने स्पर्शामृत से मेरी इस इच्छा को पूरी करो' यह राजा के कहते ही इरावती आगे आकर रङ्ग में भङ्ग कर देती है । 'तुम्हारे आने तक मैं इससे बात चीत कर अपना मनोरञ्जन कर रहा था' ऐसा बोलकर राजा अपने कृत्य को छिपाने का प्रयत्न करता है । परन्तु उससे इरावती का समाधान क्यों होने लगा ! वह तुरन्त कमर से गिरा हुआ कमरपट्टा लेकर राजा को मारने के लिये दौड़ती है और राजा उसके पैरों पर गिर जाता है । तो भी इरावती उसकी तरफ ध्यान न देकर अपनी दासी के साथ चली जाती है (अङ्क ३) । चौथे अङ्क के आरम्भ में राजा और विदूषक के भाषण से हमें मालूम होता है कि इरावती के शिकायत करने पर धारिणी ने मालविका और बकुलावलिका को

सुरंग में बंद कर रक्खा है और मेरी सर्पमुद्राङ्कित मुहर की अँगूठी देखे बिना उनको मत छोड़ना ऐसी पहरेदार को ताकीद कर दी है।

राजा की विनती से उसको छुड़ाने की युक्ति सोचकर विदूषक राजा को धारिणी देवी का समाचार लेने के लिये भेजता है और स्वयं खाली हाथ रानी के पास नहीं जाना चाहिये इसलिये उद्यान से फूल लाने के मिस पीछे ठहर जाता है। वह प्रतिहारी को भी अपनी इस चाल में शामिल कर लेता है। धारिणी और परिचारिका ढूँढ़घर में जहाँ बातचीत करती हुई बैठी थीं वहीं राजा जाता है। उनकी थोड़ी बातचीत होता है वैसे ही विदूषक यज्ञोपवीत से अँगूठी को मजबूती से बाँधकर घबड़ाया हुआ प्रवेश करता है और कहता है 'रानीसाहब के दर्शनार्थ फूल लेने के लिये मैं प्रमदवन में गया था और अशोक के फूल तोड़ने के लिये मैंने दहिना हाथ बढ़ाया कि उसकी खोह से निकल कर एक साँप ने—यह देखो—यहाँ काट खाया। यह सुन रानी को बहुत दुःख हुआ। रानी उसको ध्रुवसिद्धि नामक राजवैद्य के पास भेजती है। उस वैद्य के पास से प्रतिहारी संदेश लाती है कि 'यदि सर्प की मुद्रा हो तो उसी से अभिमन्त्रित करने पर यह विष दूर हो सकता है। ऐसी कोई वस्तु हो तो भेजना।' रानी अपने पास की सर्पमुद्राङ्कित अंगूठी उस कार्य के लिये देती है और काम होने के बाद वापस करने के लिये ताकीद करती है। इसके बाद 'राजा को ग्रह की बाधा है। इसलिये इन कैदियों को छोड़ देना चाहिये'। ऐसा ज्योतिषियों के कहने पर, इरावती को बुरा न लगे, इसलिये धारिणी राजा के द्वारा मालविका और बकुलावलिका को मुक्त कराती है। 'यह उसकी अँगूठी देख', ऐसा कहकर और उस सर्पमुद्राङ्कित अँगूठी को दिखाकर विदूषक उनको मुक्त कर प्रमदवन में भेजता है। राजा भी आवश्यक काम

देखने के लिये रानी के पास से निकल कर गुप्त मार्ग से उधर जाता है। वहाँ विदूषक भी उसे मिल जाता है। राजा को मालविका से मिलाकर विदूषक और बकुलावलिका वहाँ से चले जाते हैं। विदूषक बाहर एक शिलातल के ऊपर बैठ जाता है और वहाँ उसे नींद आ जाती है। इस बात को देखकर इरावती की दासी अपनी मालकिन को खबर देती है। उधर विदूषक की तबियत अब कैसी है यह देखने के लिये इरावती दासीसहित वहाँ आती है। उसी समय विदूषक "मालविके, तू इरावती से भी बढ़कर हो" ऐसा स्वप्न में बड़बड़ाता है। यह सुनकर इरावती को क्रोध आता है। उसे डराने के लिये उसकी दासी साँप की तरह टेढ़ी मेढ़ी लकड़ी विदूषक की तरफ़ फेंकती है और वह घबड़ा कर ज़ोर से चिल्ला उठता है। यह सुनकर राजा, मालविका और बकुलावलिका वहाँ आ जाते हैं। उनको वहाँ देखकर इरावती के क्रोध का ठिकाना नहीं रहता है। वह इस बात की खबर धारिणी को देने के लिये दासी को भेजती है। अब इस प्रसग से अपने को कैसे छुड़ाऊँ यह राजा सोचता है। उसी समय धारिणी की छोटी बहिन वसुमती पिंगल रग के वानर को देखकर घबड़ा गई है ऐसी खबर राजा को दी जाती है। उस समय स्वय इरावती राजपुत्री को आश्वासन देने के लिये राजा को वहाँ भेजती है। यह देखकर विदूषक अपने आप कहता है, 'शाबास, पिंगलवानर, शाबास! तू मौके पर अपने मित्र की रक्षा करने के लिये आया।' इतने में परदे के भीतर, "अरे क्या आश्चर्य की बात है कि पाच रात्रि होने के पहले ही सुवर्ण अशोक में कली आ गई। यह खबर मुझे रानी को देनी चाहिये।" ये उद्यानपालिका के शब्द सुन पड़ते हैं। तब तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण कर रानी अपना वचन पालेगी, ऐसा कहकर बकुलावलिका मालविका को

धैय धराती है। वे भी उद्यान पालिका के साथ साथ रानी की तरफ जाती हैं।

तीसरे और चौथे अङ्क में अनेक प्रसङ्ग रखने से उन में कथानक की गति शीघ्र चलती हुई दीखती है। उस में इरावती ने अचानक आकर राजा और मालविका को एकान्त में देख लिया और इस प्रसङ्ग की पुनरुक्ति हुई है। विदूषक की मालविका को छुड़ाने की युक्ति अत्यन्त प्रशसनीय है। सर्पमुद्राङ्कित अँगूठी का आगे ऐसा उपयोग होगा यह समझ कर कालिदास ने पहले अङ्क में उसका उल्लेख किया है। उससे उसके रचनाकौशल का पता लगता है। विदूषक शिलातल के ऊपर बैठता है, और उसको निद्रा आ जाती है और वह तुरन्त स्वप्न में बड़बड़ाता है, यह बात कुछ अस्वाभाविक मालूम पडती है। परन्तु 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक में भी भास ने इसी प्रकार का एक प्रसङ्ग रक्खा है। अतः केवल कालिदास ही इस बात में दोषी नहीं ठहरता। विदूषक के भाषण में हमेशा भरपूर विनोद है। अपने सामने मालविका की स्तुति सुनकर इरावती का चेहरा देखने लायक हो गया होगा! (अङ्क ४)।

पाचवें अङ्क के पहले, छोटे प्रवेश में उद्यान पालिका और धारिणी के सेवक सारसक के भाषण से प्रतीत होता है कि धारिणी के पुत्र वसुमित्र की नियुक्ति अश्वमेध के घोड़े की रक्षा के लिये हुई थी। उसके दीर्घायुष्य के लिये रानी ब्राह्मण को सुवर्ण-दक्षिणा देती है। रानी के भाई वीरसेन ने विदर्भ नृपति पर विजय प्राप्त कर माधवसेन को छुड़ाया है। उसने मूल्यवान् रत्न और एक शिल्पकुशल दासी भेट में भेजी हैं। इसके बाद के मुख्य प्रवेश में पुष्पित सुवर्णाशोक देखने के लिये अलकृत मालविका और परिव्राजिका सहित धारिणी प्रमदवन की तरफ जाती है और राजा को भी वहाँ

बुलाती है। उन सब के वहाँ इकट्ठे होने पर कञ्चुकी माधवसेन की तरफ से आई हुई दो संगीत निपुण दासियों को ले आता है। वे वहाँ आते ही मालविका को अपने स्वामी की बहन के रूप में पहचान लेती हैं। माधवसेन के पकड़ जाने के अनन्तर उसका सुमति नामक मन्त्री उसको गुप्त रीति से वहाँ से हटा ले गया था, ऐसा वे कहती हैं। इसके बाद का हाल परिव्राजिका इस तरह सुनाती है—'आर्य सुमति मेरा बड़ा भाई है। मालविका को लेकर वह एक व्यापारी के संघ में जा मिला। जंगल में जाते हुये उन पर चोरों ने हमला किया, उस समय उनसे लड़कर मेरे भाई ने देहपात किया। यह देखकर मुझे मूर्च्छा आ गई। जब मुझे सुध आई और देखा तो मालविका वहाँ नहीं थी। इधर मैं अपने भाई का देह संस्कार करके इस देश में आई और गेरुवा वस्त्र धारण कर लिये। वीरसेन ने मालविका को छुड़ाया और दासी के तौर पर धारिणी देवी के पास भेज दिया। इसके पिता के जीवनकाल में एक भविष्य जानने वाले साधु ने कहा था कि इसको एक वर्ष दासी बनकर रहना पड़ेगा। ठीक वैसी ही घटना घट रही है यह देखकर मैं इस विषय में किसी से नहीं बोली।" मालविका दासी नहीं, राज कन्या है, उसके साथ मैंने वृथा बुरी तरह से व्यवहार किया, इसके लिये रानी को पश्चात्ताप होता है और वह उसका विवाह राजा से कर देने का निश्चय करती है। अमात्यपरिषद् की सम्मति से राजा विदर्भ का राज्य यज्ञसेन और माधवसेन दोनों में बाँट देता है और वर्धा नदी को उनके राज्य की सीमा ठहराता है। इतने में पाटलिपुत्र से सेनापति पुष्यमित्र नीचे लिखे हुये समाचार भेजता है। 'यज्ञ के घोड़े को सिंधु नदी के दक्षिण तीर पर यवनों ने पकड़ लिया था। परन्तु कुमार वसुमित्र ने उनको हराकर

उसे छुड़ाया। इसलिये क्रोध को छोड़कर सब रानियों के साथ तुम यज्ञसमारम्भ के लिये इधर आ जाओ।' अपने पुत्र का पराक्रम सुनकर धारिणी को अत्यन्त आनन्द होता है और वह इरावती की सम्मति से मालविका राजा को सौंपती देती है। राजा मालविका को स्वीकार करने में लज्जित होता है। तब रानी थोड़ा सा हँसकर पूछती है 'तो क्या मेरी अवज्ञा करते हो?' इस पर विदूषक कहता है 'रानी यह लोकाचार है। विवाह के समय हर एक वर लज्जित होता है।' इसके बाद परिव्राजिका माधवसेन के पास जाने की आज्ञा माँगती है परन्तु राजा और रानी उससे अपने पास ही रहने के लिये आग्रह करते हैं। अन्त में भरत-वाक्य से नाटक समाप्त होता है (अंक ५)। इस अंक में एक के पीछे एक ऐसी घटना होती जाती है कि वहाँ राजा का मालविका के साथ विवाह कर देने के सिवा धारिणी के लिये और दूसरा मार्ग नहीं रह जाता है। पूर्व निश्चित अवधि में अपने प्रिय सुवर्णाअशोक में कलियाँ आ जाने से रानी को अपना वचन अवश्य पालना पड़ता है और मालविका भी हीन कुल की न होकर राजकन्या है और हम ने उसे अनाथ समझ कर दुर्व्यवहार किया और उसको सुरंग में बंद करके बड़ा भारी अन्याय किया है, यह धारिणी के मन में खटकता है। इतने में ही उसके कम उम्रवाले लड़के ने बड़े बड़े योद्धाओं को जिसका अभिमान हो सकता है, ऐसा पराक्रम दिखाया, इस बात को सुनकर वह आनन्द में स्त्री-स्वभाव सुलभ मात्सर्य भूलकर राजा को मालविका देने के लिये तैयार हो जाती है।

'मालविकाग्निमित्र' का संविधानक यद्यपि जटिल है तो भी उस में वैचित्र्य पूर्ण प्रसंग की कमी नहीं। विदूषक का मालविका को राजा की नजर में लाना और बाद में उसके कैद होने पर

उसे छुड़ाने के लिये की गई युक्तिया भी उल्लेखनीय हैं । इस नाटक में उसका विनोद केवल खाने पीने की चाज़ों में सीमित न होकर कथानक से सबद्ध और मनोहर हुआ है । कालिदास ने इस नाटक का सविधानक कहाँ से लिया है यह मालूम नहीं होता। तो भी पुष्यमित्र का अश्वमेध, वसुमित्र का यवनों का पराजय करना और विदर्भाधिपति का पराभव, उसके राज्य का बटवारा और उसके घराने की राजकन्याओं का अग्निमित्र के साथ विवाह ये बातें ऐतिहासिक दीखती हैं। पुष्यमित्र की सेनापति की पदवी और उसका किया हुआ अश्वमेध—इनके ऐतिहासिक होने में तो कोई सदेह रहता ही नहीं, क्योंकि इनका उल्लेख अयोध्या के शुग-कालीन शिलालेख में स्पष्ट रूप से आया है (देखिये पृ० ८६) कालिदास के समय अग्निमित्र की विलास प्रियता परपरागत वार्ताओं से लोगों को मालूम रही होगी। इस नाटक के सविधानक रचने में उसको कदाचित् गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से सहायता मिली होगी। यह 'बृहत्कथा' पैशाची भाषा में लिखी गई भी है। वह आजकल मिलती नहीं, परन्तु उसके साराश रूप में दो ग्रन्थ, सोमदेव का 'कथासरित्सागर' और क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामजरी' आजकल भी उपलब्ध हैं। उसमें निम्न लिखित कथा आई है।

उज्जयिनी के राजा महासेन ने वासवदत्ता नामक अपनी कन्या का विवाह वत्सदेश के राजा उदयन से किया था । वासवदत्ता के भाई पालक ने स्वय जीतकर लाई हुई एक बधुमती नाम की राज कन्या को अपनी बहन के पास भेंट के रूप में भेजा। वह रूपवती थी। उसको वासवदत्ता ने मजुलिका नाम देकर गुप्तरूप से रक्खा। एक दिन उद्यान-लतागृह में वसतक नाम के अपने प्रियमित्र विदूषक को साथ ले घूमते हुये उदयन ने उसे देखा और उससे

गान्धर्व-विवाह किया। यह क्रिया छिपी हुई वासवदत्ता ने देखी और इससे उसको क्रोध आया और वह वसतक को बाँधकर ले गई। तब राजा उसकी माँ के घर की सांकृत्यायनी नाम की परिव्राजिका मैत्रिणी की शरण में गया और उसकी सहायता से वह वसतक को छुड़ाकर लाया। रानी की अनुमति से परिव्राजिका ने बधुमती को राजा को अर्पण किया। (कथासरित्सागर, पृ० ५६)

'मालविकाग्निमित्र' के सविधानक में और ऊपर के कथानक में जो साम्य है वह पाठकों के ध्यान में आ गया होगा। दोनों में ही नायिका का पहिले गुप्तरूप में होना, विदूपक की सहायता से उद्यान लतागृह में मिलना, तदनन्तर बन्दीवास और अत में परिव्राजिका की सहायता से नायिका का राजा के साथ विवाह, ये बातें समान हैं। दोनों कथानकों में भेद भी है। तो भी कथानक कहीं से भी लेकर उसमें आवश्यक भेद करने की कालिदास की प्रवृत्ति ध्यान में लाने से 'मालविकाग्निमित्र' के सविधानक को 'बृहत्कथा' से लेना असम्भव नहीं प्रतीत होता है। पाच रात्रियों में अशोक का फूलना, इस शर्त की कल्पना भास के 'पञ्चरात्र' नाटक से कवि को सूझी होगी। पहिले और दूसरे अक में नाट्याचार्यों का कलह और मालविका का नाट्यप्रयोग, मालविका को छुड़ाने के लिये विदूषक की युक्ति इत्यादि बातें कवि की कल्पना शक्ति की उपज प्रतीत होती हैं।

इस नाटक का कथानक सब आठ दस दिन ही में पूरा होता है। कालिदास के दूसरे नाटकों के कथानकों की तरह इसमें स्वभाव विकास के लिये अवकाश नहीं है। इसमें सब पात्र प्रारम्भ से लेकर अन्तपर्यन्त एक ही प्रकार के रहते हैं। और इसी तरह कवि की यह पहली नाट्यकृति होने से इसमें पात्रों के अलग अलग मनोविकारों का आविष्कार करने में कवि का प्रयत्न नहीं दीखता। इस नाटक

में अग्निमित्र और विदूषक ये पुरुषपात्र और मालविका, धारिणी इरावती और परिव्राजिका ये स्त्री पात्र मुख्य हैं। हरदत्त, गणदास बकुलावलिका, निपुणिका इत्यादि गौणपात्र हैं। कालिदास के सब नायकों में अग्निमित्र हीन दर्जे का है। सस्कृत अलकार कर्ताओं के भेद के अनुसार वह धीरललित नायक है। 'रघुवश' में अग्निवर्ण की तरह वह राजकाज से बिलकुल बेपरवाह नहीं है, यह बात ठीक है। परन्तु उसमें शौर्य, धैर्य इत्यादि उदात्तगुण बिल्कुल नहीं दीखते। इस नाटक में उसका उद्देश्य किसी प्रकार से मालविका को काबू करना भी है। उसके बोलने में बहुत मिठास है। स्त्री-दाक्षिण्य इसके रोम रोम में भरा है। मालविका के साथ एकान्त में पकड़े जाने पर इरावती के सदृश चडी को प्रसन्न करने के लिये उसके पाँव भी पकड़ता है। अपनी प्रेमाभिलाषा पूर्ण करने में वह सदैव विदूषक का आश्रय लेता है। मालविका दृष्टिगोचर हो, यह युक्ति विदूषक ने बताई। आगे एकान्त में पकड़े जाने पर वहाँ से कैसे छूटें यह भी विदूषक ने ही सुझाया है। मालविका के सुरग में बद किये जाने पर उसको वहाँ से छुड़ाकर राजा से प्रमदवन में उसकी विदूषक ने ही भेंट कराई। हर समय काम में आने वाला यह कामतन्त्रसचिव यदि राजा के पास न होता तो इसकी अवस्था बहुत कठिन हो जाती, इस में कोई सन्देह नहीं है। अग्निमित्र उस काल की राजनीति का और कालिदास की दृष्टि से भी आदर्श राजा था, ऐसा एक महाराष्ट्र विद्वान् ने कहा है। परन्तु यह मत अप्रमाण मालूम नहीं होता। कर्मशील जवान लड़के का यह पिता अन्त पुर में अनेक स्त्रियों के होते हुये भी तरुणी दासी पर अनुरक्त हो उससे चोरी से अनुराग करता है तथा पकड़े जाने पर अपनी स्त्री के पैर पकड़ता है परन्तु अपनी आसक्ति नहीं छोड़ता। उसके पिता पुष्यमित्र

ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया है और दिग्विजय के लिये घोड़ा छोड़ा है। ऐसी जगह स्वय न जाकर उसकी रक्षा करने का भार अपने कम उमरवाले कुमार पर डाल देता है। विदभ देश पर स्वय चढ़ाई नहीं करता, प्रत्युत उस समय भी अन्त पुर की प्रेमलीला में मस्त रहता है—ऐसे विलासी और कर्तव्यशून्य राजा को अपने अन्य ग्रन्थों में दिलीप, रघु, राम इत्यादि राजर्षियों के उदात्त चरित्र, रसाल वाणी में वर्णन करने वाला कालिदास, आदर्श मानेगा यह ठीक नहीं जँचता। इस नाटक में कवि ने अपने समय के सामान्य राजा लोगों के अन्त पुर के कृत्यों का वणन किया है ऐसा प्रतीत होता है।

कालिदास के सब नायकों में अग्निमित्र हीन और सब विदूषकों में 'मालविकाग्निमित्र' का गौतम नामक विदूषक अत्यन्त होशियार है। अन्य विदूषकों की भाँति यह खाने पीने का शौकीन और सोनेवाला तो है ही परन्तु वह उनकी तरह प्रमादी और केवल बकवादी नहीं किन्तु युक्ति निकालने में अत्यन्त निपुण है। हाज़िर जवाब और उपहास करने में चतुर है। राजा से उसकी दोस्ती है। राजा को मालविका मिले इसके लिये वह नाना प्रकार की युक्तिया लड़ाता है। दो नाट्याचार्यों में कलह करवाता है। मालविका को प्रमदवन में भेजने के लिये षड्यन्त्र रचकर रानी के पैर में दद पैदा कराता है। अन्त में रानी के पास से अँगूठी लेने के लिये विष बाधा का बहाना करता है। चालाकी का जाल बुनने में जैसा होशियार यह है वैसा ही अभिनयकला में भी वह निपुण है। इरावती उसकी कुशलता देख उसे 'कामतन्त्रसचिव' की पदवी देती है। उस समय वह कहता है—"कामनीति का एक अक्षर भी अगर मुझे आता हो तो मुझे गायत्री मन्त्र की शपथ। ऐसे बुद्धिमान्

मनुष्य को परम्परा के अनुसार पेटू और सोनेवाला दिखाया है। तो भी उसकी विसगति शीघ्र ही कवि के ध्यान में आ गई। इतना चतुर विदूषक मित्र दिखाने से नायक बिलकुल निकम्मा हो जाता है। इस कारण कालिदास ने अपने दूसरे नाटकों में विदूषक को प्राचीन परम्परा के अनुसार चित्रित किया है।

मालविका विदर्भराजकन्या है परन्तु दैवदुर्गति से उसको दासी होकर रहना पड़ता है। वह अत्यन्त स्वरूपवती और नाट्य कला में निपुण दिखाई गई है। पहिले मेरा विवाह अग्निमित्र से होगा ऐसा उसको मालूम था तो भी दैववशात् दास्य प्राप्त होने पर वह उच्चपद मिलना अशक्य है इस बात को वह जानती है। राजा का मन उस पर रीझ गया है और वह उसके लिये आतुर है ऐसा मालूम होने पर आगे पीछे का विचार न कर और आनाकानी न कर वह राजी हो जाती है, इसीलिये वह कालिदास की दूसरी नायिका पावती और शकुन्तला के समान धीरप्रकृति की नहीं देख पड़ती। तथा अज्ञातवास के कष्ट भोगते हुये उसे अपने पूर्व वैभव की स्मृति कभी हुइ हो यह उसके भाषण से नहीं दीखता। एक तरह से यह कुछ अस्वाभाविक है। धारिणी और इरावती इनके स्वभावों का विरोध कालिदास ने अच्छी तरह दर्शाया है। धारिणी मध्यम अवस्था की पटरानी है। अत पुर में सब लोग उसकी धाक मानते हैं। अपने पति का भ्रमरवृत्ति से नित्य नई नई स्त्रियों पर आसक्त होना उसको बिल्कुल नहीं जँचता। मालविका—एक साधारण दासी ने राजा का ध्यान अपनी तरफ खींचा है, यह समझते ही वह सावधान होकर राजा की दृष्टि में मालविका न आवे, ऐसा प्रयत्न करती है। तथापि उसकी प्राप्ति के बिना पति को सुख नहीं होता है यह ध्यान में आने पर उसको सौंपने की

उदारता दिखाती है। अपने पुत्र को दीर्घायुष्य मिले और विजय प्राप्त होवे इसलिये वह प्रतिदिन दान करती है। अपनी भेंट के लिये फूल तोड़ते हुये विदूषक को सर्प दंश हुआ यह मालूम पड़ते ही उसको बहुत दुःख होता है। ऐसे प्रसंग से उसके स्वभाव में कोमलता की छटा कवि ने प्रदर्शित की है। इसके विपरीत इरावती तरुणी नृत्यगायन आदि कला में प्रवीण है। राजा का मन मेरे ऊपर से हट न जाय इसलिये बड़ी रानी से कहकर मालविका को बन्दीखाने में डाल देती है। इसके अतिरिक्त वह ईर्ष्यालू और मानिनी स्त्री मालूम होती है। इन दोनों रानियों की अवस्था और स्वभाव में भेद दिखाने के लिये कालिदास ने मद्यमत्त इरावती को रंगभूमि पर दिखाया है। जिनका तारुण्य चला गया है वे स्त्रियां मद्य-पान करती थीं ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं। यहां यह कहना कि कालिदास को अपने समय की रानी पर टीका करनी थी, यह मत ग्राह्य नहीं दीखता।

पंडिता कौशिकी—माधवसेन के सचिव की बहन—पर अकाल वैधव्य का प्रसंग आया था। आगे अपने भाई की मृत्यु हो जाने से उसका रहा सहा आधार भी टूट गया। तब वह विषण्ण होकर सन्यास आश्रम को स्वीकार करती है। तत्कालीन परिस्थिति में राजकुल में प्रवेश करने के लिये उसको बहुत प्रयास नहीं करना पड़ा होगा। तथा मालविका को देखते ही पहिले संकल्प के अनुसार और एक सिद्ध के द्वारा बतायी हुई भविष्य की घटना से उसका राजा से विवाह हो सकता है यह उसको मालूम होता है और उसके लिये वह विदूषक की मदद करती है। परन्तु सम्पूर्ण नाटक में मालविका उसको नहीं पहचान सकी, यह आश्चर्य की बात है। कालिदास ने गौण पात्रों का थोड़े में चित्रण किया है। हरदत्त और गणदास

इन नाट्याचार्यों को अपनी कला में अभिमान और एक दूसरे से स्पर्धा, बकुलावलिका का अपनी सखी पर निष्कपट प्रेम और उसके लिये सकट सहने की दृढता, निपुणिका का मालविका आदि का अधूरा और परोक्ष में सुने हुये संभाषण से अनुमान निकालने में नैपुण्य, ये सब बातें कालिदास ने अच्छी तरह स्पष्ट की हैं। 'मालविकाग्निमित्र' की भाषा प्रसाद पूर्ण और मनोहर है। उस में कहीं भी क्लिष्टता और कृत्रिमता नहीं है। इस नाटक में कालिदास ने अलङ्कारों की भरमार न होने की सावधानी रक्खी है। कवि का यह पहिला ही नाटक होने से उसने उसमें 'मायूरी मदयति मार्जना मनांसि' इत्यादि स्थल में तरुण कवि को विशेष अच्छा लगनेवाले अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों का उपयोग किया है। दो तीन प्रसगों में श्लेष का भी बड़ी खूबी के साथ प्रयोग किया है। तो भी और ग्रन्थों की तरह उपमादि अर्थालङ्कारों की अधिकता भी है। इस नाटक से कालिदास का नाम निश्चय ही सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया होगा। उसको चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का स्थायी आश्रय मिला होगा। पीछे के प्रकरण में जैसा कहा गया है, चन्द्रगुप्त के कुमार गुप्त नामक पुत्र उत्पन्न होने के अवसर पर कालिदास ने 'कुमार सभव' नाम का काव्य रचा। इसके बाद राजकुमार का राज्याभिषेक हुआ। उस समय उसका दूसरा नाटक 'विक्रमोर्वशीय' खेला गया होगा। क्योंकि इस नाटक के अन्त में पुरूरवा के आयु नामक पुत्र के यौवराज्याभिषेक करने का प्रसग वर्णित है। अब उस नाटक की ओर हम ध्यान देंगे।

विक्रमोर्वशीय

इस नाटक में पाँच अक हैं। नांदी द्वारा कालिदास ने अपने अन्य नाटकों की तरह शकरजी की स्तुति की है। अनन्तर सूत्रधार

प्रवेश करता है और प्रेक्षकों से कहता है, 'हमारी प्रार्थना मानने के लिये अथवा नाटक के उदात्त नायक का गौरव रखने के लिये कालिदास की इस कृति को आप ध्यानपूर्वक सुनें।' इस समय कवि की प्रसिद्धि हो गई थी। इसलिये उसको इस नाटक के गुणवर्णन के लिये कुछ भी नहीं कहना पड़ा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इसके बाद आगामी पात्रों के प्रवेश की सूचना देकर सूत्रधार चला जाता है और मुख्य अंक का प्रारम्भ होता है। पहले रंभा मेनका इत्यादि अप्सरायें प्रवेश करती हैं और सहायता के लिये पुकारती हैं। यह सुनकर सूर्यपूजा करके लौटता हुआ पुरूरवस् राजा उनके पास जाकर पूछताछ करता है और उसको यह विदित होता है कि कुबेरभवन से लौटते समय उर्वशी नामक सुन्दर अप्सरा और उसकी सखी चित्रलेखा को केशी नामक दैत्य ने पकड़ लिया है। यह सुनते ही राजा उनसे हेमकूट शिखर पर ठहरने के लिये कहकर उन दोनों को बचाने के लिये जाता है और थोड़े ही काल में चित्रलेखा द्वारा बचाई हुई मूर्च्छित उर्वशी को लेकर लौट आता है। इसके अनन्तर उर्वशी होश में आती है। उस समय उसका सौन्दर्य देखकर राजा मोहित हो जाता है और कहता है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ विक्र० १, ९

'इस सुंदरी का निर्माण करने वाला विधाता रमणीय कान्ति का चंद्र, शृङ्गार रस-मय मदन अथवा वसंत ऋतु रहा होगा। क्योंकि वेदाभ्यास से जड़ और उपभोग्य विषयों से निरुत्सुक बूढ़ा मुनि ब्रह्मा इतना मनोहर रूप कैसे निर्माण कर सकता है?'

उर्वशी का भी मन राजा के शौर्य से और मधुर भाषण से उसकी ओर आकृष्ट होता है। अनन्तर वे सब एक जगह एकत्र होकर बातचीत करते हैं। इतने में चित्ररथ गंधर्व वहाँ आता है और राजा से कहता है 'महाराज, नारद ऋषि के द्वारा उर्वशी हरण की बात मालूम होते ही इन्द्र ने उसको वापिस लाने के लिये गंधर्व-सेना को आज्ञा दी थी। परन्तु मार्ग में भाटों के द्वारा किया हुआ आपके विजय का वर्णन सुनकर मैं यहाँ आया हूँ। आप उर्वशी को लेकर इन्द्र के पास चलें। आपने इन्द्र का बड़ा भारी उपकार किया है।' 'इन्द्र के प्रभाव से ही उनके पक्ष के लोग मेरी तरह विजयी होते हैं' यह राजा के वचन सुनकर चित्ररथ उत्तर देता है—'अनुत्सेक खलु विक्रमालङ्कार.' (गर्व का न होना ही पराक्रम की शोभा है।) इस भाषण में कालिदास ने अपने आश्रयदाता (चन्द्रगुप्त) विक्रमादित्य का गर्वरहित होना श्लेष से सूचित किया है। प्रेक्षकों में बैठे हुये विक्रमादित्य को यह स्तुति अवश्य अच्छी लगी होगी। बाद में अप्सरायें और गन्धर्व आकाशमार्ग से जाते हैं। परन्तु लता में अटकी हुई मोतियों की माला छुड़ाने के मिस राजा को फिर एक बार देखने के लिये उर्वशी पीछे रह जाती है। उधर राजा भी अपनी नगरी को लौट जाता है। (अंक १) इसके बाद लगभग पन्द्रह दिन की घटना दूसरे अंक में आती है। आरम्भ में एक छोटासा प्रवेश है, उससे मालूम होता है कि राजा ने उर्वशी पर अपनी आसक्ति की बात विदूषक को बताई और उसको उसे गुप्त रखने के लिये चेतावनी भी दी। परन्तु रानी औशीनरी को यह सशय है कि राजा का मन किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है इसलिये उसने अपनी निपुणिका नाम की दासी को राजा के पास भेजा। वह बड़ी युक्ति से उस रहस्य को विदूषक से जान लेती है। उसके

बाद राजकार्य देखकर, राजा विदूषक के साथ प्रवेश करता है। मनोविनोद के लिये कहाँ चलें, यह राजा के पूछने पर विदूषक उत्तर देता है—'चलो हम रसोईघर में चलें, वहाँ पञ्चपक्वान्न तैयार करने के लिये इकट्ठी सामग्री देखकर मन बहलायें।' राजा को यह सूचना पसद नहीं आई। अत वे प्रमदवन में जाते हैं। उधर वसत ऋतु के आगमन से विकसित आम्रमजरी को देखकर राजा का मन और भी ज्यादा अस्वस्थ होता है। वहाँ राजा के कथनानुसार उर्वशी के समागम का कोई उपाय ढूढ निकालने के लिये विदूषक बैठकर सोचने लगता है। राजा को भावी समागम के सूचक शुभ शकुन होते हैं। उसके कारण वह भी आशा से राह देखता हुआ बैठ जाता है। इतने में विमान पर बैठकर उर्वशी और चित्रलेखा वहाँ आती हैं। विदूषक और राजा को विचार-मग्न देख, वह क्या बात कर रहे हैं, यह सुनन के लिये वे तिरस्करिणी (गुप्त होने की) विद्या से अदृश्य होकर पास ही खड़ी रहती हैं। उधर विदूषक कहता है 'राजा, मुझे उपाय मिल गया ! स्वप्न में समागम कराने वाली निद्रा का सेवन करो अथवा उर्वशी का चित्र निकाल कर उसे देखते रहो।' राजा कहता है, 'ये दोनो उपाय नहीं सध सकते।' मेरा हृदय मदन के बाणों से बिंधा हुआ है। इसलिये प्रिया से समागम कराने वाली निद्रा का मिलना सभव नहीं और यदि उसका चित्र खींचा जाय तो उसके पूर्ण होने के पहिले मेरे नेत्रों में आँसू आये बिना न रहेंगे। मेरे इस दारुण मदन-सताप को उर्वशी नहीं जानती, ऐसा मालूम पड़ता है।' यह सुनते ही उर्वशी अपनी मदनबाधा का वर्णन करती हुई दो श्लोकों को रचकर एक भोजपत्र पर लिखती है और राजा के आगे फेंक देती है। राजा उसे पढ़कर प्रत्यक्ष उर्वशी से मिलने का सा आनन्द प्राप्त

करता है। उसकी अँगुलियों में पसीना आता है। उसके अक्षर खराब न हो जायँ इसलिये वह भोज-पत्र विदूषक को दे देता है। इसके बाद उर्वशी और चित्रलेखा प्रगट होती हैं। उनका थोड़ा वार्तालाप होता है। इसी समय इन्द्र 'अप्सराओं को सिखाये हुये भरत के अष्टरसयुक्त नाटक का प्रयोग देखना चाहता है और उसने उर्वशी को लेकर आने की मुझे आज्ञा दी है, यह कहता हुआ देवदूत आता है। तब राजा से आज्ञा लेकर सखेद उर्वशी वापस जाती है। इसके बाद मनोविनोद करने के लिये राजा विदूषक से वह भोजपत्र माँगता है, किन्तु वह तो उसके हाथ से पहिले ही गिर गया था और हवा से दूसरी तरफ उड़ गया था। तब वह कहता है "यहा वह कहीं भी नहीं दीखता। मालूम होता है कि उर्वशी के साथ ही चला गया है।" इस लापरवाही के लिये राजा उसके कान ऐंठता है। वे दोनों ही उसकी तलाश करने लगते हैं। इतने में निपुणिका दासी के साथ रानी औशीनरी उधर आती है। उसके नूपुर में वह भोज पत्र जाकर अटक जाता है। निपुणिका उसे रानी को बाचकर सुनाती है और यह उवशी का प्रेम लेख है, ऐसा अनुमान करती है। राजा के आगे आकर रानी कहती है 'महाराज, आप जिसे ढूढ रहे हैं वह भोज-पत्र लीजिये।' मैं कुछ दूसरी ही चीज ढूढ रहा था, ऐसा राजा अभिनय करता है। परन्तु रानी असली बात ताड़ जाती है इसलिये उसे प्रसन्न करने के लिये राजा उसके पैरों पड़ता है। परन्तु उसकी ओर ध्यान न देकर रानी दासी के साथ चली जाती है। तब विदूषक कहता है 'अच्छा हुआ जो यह चली गई। जिसकी आँख आजाती है वह मनुष्य सामने जलते हुए दिये की ज्योति नहीं सह सकता।' इस पर राजा जवाब देता है, 'मित्र, ऐसी बात नहीं है। उर्वशी के ऊपर मेरा प्रेम है तो भी रानी के लिये

मेरे मन में पहिले की तरह अब भी आदर है।' इसके बाद मध्याह्न हो जाने पर दोनों ही स्नान भोजन करने के लिये चले जाते हैं। (अक २) तीसरे अक के आरम्भ में एक छोटासा प्रवश है। उसमें पल्लव और गालव भरतमुनि के दो शिष्यों के सवाद से मालूम पड़ता है कि उर्वशी के स्वर्ग में लौट जाने पर इन्द्रसभा में सरस्वती के बनाये हुये 'लक्ष्मी स्वयवर' नामक नाटक का प्रयोग हुआ था। उसमें मेनका ने वारुणी का और उर्वशी ने लक्ष्मी का वेश धारण किया था। स्वयवर के समय वारुणी ने लक्ष्मी से पूछा 'हे सखी! विष्णु के साथ यह सब लोकपाल यहाँ आये हैं। इन में से किस से तुम्हारा मन लगा है?' उर्वशी को 'पुरुषोत्तम के ऊपर' ऐसा उत्तर देना था, परतु 'बुद्धि कर्मानुसारिणी' इस न्याय के अनुसार लक्ष्मी वेषधारी उर्वशी के मुँह से 'पुरूरवा' का नाम भूल से निकल जाता है। बस, मामला बिगड़ जाता है। तब भरतमुनि क्रोध से शाप देते हैं कि 'तेरा स्वर्ग का स्थान नष्ट हो जाय।' पर इन्द्र ने नाटक प्रयोग पूरा होने पर सिर नीचा करके बैठी हुई उर्वशी से कहा 'पुरूरवा राजा ने मेरी युद्ध में सहायता की है इसलिये उसकी इच्छा मुझे पूर्ण करनी ही चाहिये। इसलिये तू उसके पास जा, और तेरे पुत्र के मुख का दर्शन जब तक राजा न करे तब तक तू उसके पास रह।' दिन के तीसरे प्रहर तक पिछले अक की उक्त घटना घटी होगी। उस दिन के बाद रात का वृत्तान्त मुख्य प्रवेश में वर्णित है। पहिले कचुकी प्रवेश करता है और नीचे लिखे प्रकार से सायकाल का वर्णन करता है।

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वडभयः सदिग्धपारावताः।

आचारप्रयत सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मती
स ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धा तवृद्धाजन ॥ विक्र० ३, २

'रात की निद्रा से आलस्ययुक्त मयूर वासयष्टि पर ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे वे चित्र में खींचे हुये और जालीदार खिड़कियों से निकले हुये हों। धूपगध से छत ऐसी मालूम होती है जैसे उन पर कबूतर बैठे हों, रीतिरिवाज का अनुकरण करने वाली अन्त पुर की वृद्ध स्त्रियाँ पुष्प बलियों के साथ जलती हुई स ध्या समय की मगल दीपिकायें जगह जगह रख रही हैं।

इस श्लोक में स ध्या का सुदर वणन है। इसके बाद राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं। उधर रानी कचुकी के हाथ सदेश भेजती है कि मणिहर्म्य की छत से आज रात को च द्रमा अच्छा दीखेगा इसलिये उसका रोहिणी के साथ सयोग होने तक मैं भी महाराज के साथ बैठना चाहती हूँ। वे सब छत पर चले जाते हैं। उधर उदय होते हुये च द्र की किरणों से अन्धकार दूर हो जाता है, यह देखकर राजा उस दृश्य का निम्न लिखित वणन करता है—

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरमित प्रतिसारिते।
अलकसयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम्॥
विक्र० ३, ६

'उदयपर्वत की आड़ में छिपे च द्र की किरणों ने अ धकार दूर कर दिया है, मानो बाल काढ़ दिये जाने के कारण पूर्व दिशा का मुख हमारे नेत्रों को आनन्ददायक हो गया है।' इस वर्णन में समासोक्ति और उत्प्रेक्षा अर्थालङ्कारों का मधुर सयोग हुआ है। चन्द्र पूर्वदिशा का पति है। वह क्षितिज पर आया नहीं था। अत जैसे विरहिणी स्त्री के केश, तैलादि से वासित न होने पर उसके मुख पर फैले रहते हैं, उसी प्रकार अधकार पूर्वदिशा को व्याप्त

कर रहा था। परन्तु उदयोन्मुख चन्द्र की किरणों से अन्धकार दूर होने के कारण पूर्वदिशा का मुख, बाल सँभाल कर पति के आगमन की प्रतीक्षा करनेवाली स्त्री के मुख के समान दृष्टि को आनन्द देता है, ऐसा राजा का आशय है। इतने में चन्द्र का उदय देखकर विदूषक कहता है 'यह, देखो, लड्डू के खंड के समान चन्द्र उदित हुआ है।' विदूषक बड़ा खब्बू है। इसलिये उसकी उपमायें खाद्य, पेय पदार्थों से ही ली गई हैं। वे इस तरह बातचीत कर रहे थे कि अभिसारिका का वेष धारण कर उर्वशी, अपनी सखी चित्रलेखा के साथ विमान से उतरती है। विरह से दुर्बल राजा का भाषण सुनकर उर्वशी प्रगट होने वाली थी कि उपहार का सामान लिये हुये दासी के साथ औशीनरी रानी वहाँ आ जाती है। वह शुभ्रवस्त्र धारण कर सौभाग्यदर्शक अलङ्कार पहने हुए थी और व्रतपालन के कारण उसने अभिमान का त्याग कर दिया था। उसे देख उर्वशी के हृदय में आदर का भाव उत्पन्न होता है। राजा उसको देवी शब्द से संबोधन करता है। यह देखकर वह कहती है, 'सचमुच इसको 'देवी' की पदवी बहुत अच्छी लगती है। तेजस्विता में इन्द्राणी से यह किसी प्रकार कम नहीं है।' इसके बाद गंध पुष्पादिकों के द्वारा चन्द्रकिरणों का पूजन कर और विदूषक को स्वस्तिदक्षिणा देकर रानी राजा की पूजा करती है और हाथ जोड़कर कहती है—'इस रोहिणीचन्द्र की जोड़ी को साक्षी रखकर मैं कहती हूँ जिसके ऊपर आपका प्रेम है और आपसे समागम के लिये जो उत्सुक है उसके साथ आज से मैं प्रेम का बर्ताव करूँगी।' उस पर विदूषक अपने मन में कहता है, "हाथ से मछली निकल जाने के बाद धीवर कहता है, 'बहुत अच्छा हुआ मुझे पुण्य मिलेगा।" इधर रानी चली जाती है और उर्वशी तथा चित्रलेखा

प्रगट होती हैं। पहले स्वागत कुशलप्रश्न इत्यादि हो जाने पर चित्रलेखा राजा से विनती करती है कि वसत ऋतु पूर्ण होने पर गर्मी में मुझे सूर्य की सेवा करनी है। इसलिये मेरी सखी को स्वर्ग का स्मरण न हो ऐसा यत्न कीजिये। उस पर विदूषक कहता है 'अजी तुम्हारे स्वग में न खाना है न पीना। केवल मछली की तरह आँख खोले रहना पड़ता है।' अनन्तर चित्रलेखा के जाने पर रात बहुत बीत गइ समझकर सब भीतर जाते हैं। (अ ३) इसके बाद चौदह पद्रह वर्ष में गुजरी हुई बातें चौथे अक में वर्णन की गई हैं। बीच का वृत्तान्त चित्रलेखा और सहजन्या अप्सराओं की बातचीत से हम को मालूम पड़ता है। पिछले अक के वर्णनानुसार उर्वशी का समागम हो जाने पर कुछ काल के लिये राज्य का काय भार अपने मत्री को सौंपकर राजा उर्वशी के साथ गधमादन पर्वत पर विहार करने चला जाता है। एक समय मदाकिनी के तट पर रेत हूहे बनाकर खेलती हुई विद्याधर कुमारी की तरफ़ राजा देखने लगा। इस पर उर्वशी को क्रोध आया और वह उस स्थान को छोड़कर चली गई और कार्तिक स्वामी के बन में घुस गई। कार्तिक स्वामी आज म ब्रह्मचारी और स्त्रीदशन को अनिष्ट माननेवाले थे। उन्होंने ऐसा नियम बनाया था कि जो स्त्री इस जगल में घुसेगी वह लता हो जावेगी। तदनुसार उर्वशी भी लता हो गई। इधर उर्वशी के विरह को न सहकर राजा जगल में भटकने लगा। अब वर्षाऋतु में मेघ को देखकर उसकी दशा और भी कठिन हो गई। इसके अनन्तर मुख्य प्रवेश में उवशी के वियोग से राजा पागलसा हो गया और मेघ, लता, वृत्त, पशु, पत्ती इत्यादि से अपनी स्त्री की खबर पूछता फिरने लगा। आकाश से जलवृष्टि करनेवाले मेघ को अपनी प्रिया का हरण करनेवाला राक्षस समझकर राजा कहता है,

'अरे दुरात्मा, ठहर ! मेरी प्रियतमा को कहाँ ले जा रहा है ? अरे, य पर्वत शिखर से आकाश में उड़कर हम पर बाणों की वृष्टि कर रहा है ।' थोड़ा विचार करने पर, यह राक्षस नहीं मेघ है, ऐसा राजा को ज्ञान होता है ।

नवजलधर सनद्धोऽय न दृप्तनिशाचर
सुरधनुरिद दूराकृष्ट न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥ विक्र० ४, १

'अरे यह तो नया मेघ ऊपर उठ रहा है, घमडी निशाचर नहीं, और यह दूर तक खींचा हुआ इन्द्रधनुष है न कि राक्षस धनुष, और यह धारावृष्टि हो रही है बाणों की वर्षा नहीं, कसौटी पर सोने के तुल्य बिजली है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं ।' आगे जाने पर ओष्ठ राग से रञ्जित अश्रु बिन्दु से अकित उर्वशी का पृथ्वी पर पड़ा हुआ हरा स्तनांशुकसा राजा को दिखाई देता है । परन्तु ध्यान से देखने पर इन्द्रगोप नाम के लाल कीड़े जिस पर बिखर रहे हैं ऐसी नई हरित तृणभूमि प्रतीत होती है । इस तरह फिरते फिरते उसे एक रक्तवर्ण मणि मिलती है । वेणी में पहिनने क लिये इसे जिसको देना था वह मेरी प्रिया अब दुर्लभ हो गइ, मैं इसे लेकर क्या करूँगा, ऐसा राजा को प्रतीत होता है परन्तु इतने ही में "पार्वती के चरण के महावर से उत्पन्न हुई यह मणि शीघ्र ही प्रियजन का सगम करा सकती है, अत तू इसको अवश्य ले जा" ऐसे एक ऋषि का वाक्य सुन राजा उसको उठा लेता है और जैसे ही पास में पुष्परहित होते हुये भी मनोहर दीखनेवाली लता से आलिङ्गन करता है वैसे ही उर्वशी प्रगट हो जाती है । इसके बाद "आपको राज्य छोड़े बहुत समय बीत गया है । प्रजा

मुझे दोष देती होगी।" ऐसा कहकर उर्वशी राजा से लौट चलने की प्रार्थना करती है। अनन्तर वे दोनों राजधानी को लौट जाते हैं। (अक ४) इसके बाद शीघ्र ही पाँचवें अक की घटनायें घटती हैं। एक दिन गगा यमुना के सगम में रानी के साथ स्नान करके राजा वस्त्रालङ्कार धारण कर ही रहा था कि एक गृध्र उस सगमनीय मणि को मास-खड समझ कर उठा ले जाता है। राजा वैसे ही बाहर आता है और उसे मारने के लिये धनुष-बाण माँगता है। किन्तु इसके पहले ही वह गृध्र आकाश में अदृश्य हो जाता है। तब राजा कचुकी से कहता है कि नगर कोतवाल से जाकर कहो कि वह गृध्र जब किसी वृक्ष पर बसेरा कर तो ध्यान रखे। इसके अनन्तर विदूषक के साथ राजा उस सम्बन्ध में बात कर ही रहा था कि कचुकी उस मणि और एक बाण को लेकर वापस आता है। बाण के ऊपर खुदे हुये अक्षरों को बाँचते ही वह बाण उर्वशी से उत्पन्न आयु नामक मेरे कुमार का है ऐसा राजा को मालूम पड़ता है। यह जान राजा को बड़ा आश्चर्य होता है। वह कहता है 'मेरा और उर्वशी का सिर्फ नैमिषेय सत्र के समय वियोग हुआ था उस समय भी वह गर्भवती थी यह मुझे मालूम न था। तब यह उर्वशी का पुत्र कैसे ?" उस पर विदूषक जवाब देता है 'अरे उर्वशी तो दिव्याङ्गना है। दिव्य स्त्रियाँ मनुष्यस्त्रियों के समान सब विषय में एकसी होती हैं ऐसा मत समझो।" इस प्रकार वे दोनों बातचीत कर ही रहे थे कि कचुकी आता है और च्यवनाश्रम से एक तापसी एक कुमार को लेकर आई है ऐसी राजा को सूचना देता है। कुमार को देखते ही उसका और राजा का सादृश्य विदूषक के ध्यान में आता है। राजा का भी वात्सल्य प्रेम उमड़ पड़ता है। वह कहता है—

नाप्यायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्
वात्सल्यबन्धि हृदय मनस प्रसाद ।
सञ्जातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्ति–
रिच्छामि चैनमदय परिरब्धुमङ्गैः ॥ विक्र० ५, ६

'इसको देखते ही मेरे नेत्रों में आँसू भर आये हैं । हृदय वात्सल्यपूर्ण और मन प्रसन्न हो गया है । अपना धीरस्वभाव छोड़ कर कम्पित अगों से इसको खूब गाढ़ आलिङ्गन करूँ ऐसी मेरी इच्छा होती है ।' कुमार को भी उसी के सदृश प्रेम का अनुभव होता है । बाद में तापसी कहती है—'जन्मते ही इस कुमार को उर्वशी ने मेरे अधीन कर दिया था । भगवान् च्यवन ने इसके जातकर्मादि सस्कार करके इसको धनुर्विद्या सिखाई है । आज पुष्प समिधा इत्यादि लाने क लिये जब ऋषिकुमारों के साथ बाहर गया था । और उसने मास खड को चोंच में दाए और झाड़ पर बैठे हुये एक गृध्र को मारा । तब च्यवन ऋषि ने मुझ को बुलाकर इसे आपको लौटा देने के लिये कहा है ।' इसके अनन्तर कुमार राजा को नमस्कार करता है । तब राजा कहता है 'वह तुम्हारे पिता का प्रिय मित्र ब्राह्मण बैठा है इसे नि शक होकर वदन करो ।' इस पर विदूषक उत्तर देता है 'इसे डर क्यों लगना चाहिये ? आश्रम में वास करते हुये इसने बन्दर तो देखे ही होंगे ।' इसके बाद उर्वशी प्रवेश करती है और कुमार को देखते ही उसके हृदय में अपत्य प्रेम उमड़ आता है । परन्तु पति को अपने पुत्र का दर्शन हो गया है, इसलिये इन्द्र के आज्ञा अनुसार अब मेरा और राजा का वियोग होनेवाला है ऐसा विचार मन में आते ही उसकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं । राजा उर्वशी के रोने का कारण जान कुमार का राज्याभिषेक करके वन में जाने का निश्चय करता है । परन्तु इतने में

नारद ऋषि वहाँ आते हैं। और इन्द्र का यह सन्देश राजा को सुनाते हैं—"राजन्, त्रिकालदर्शी मुनियों ने कहा है कि आगे सुरासुरों का संग्राम होनेवाला है। तुम युद्ध में हमारे सहायक बनना और तुम अभी शस्त्र संन्यास मत करो। यह उर्वशी जन्मभर तुम्हारी सहधर्मचारिणी होकर रहेगी।" इसके बाद इन्द्र के भेजे हुये जल से अप्सरायें आयु का यौवराज्याभिषेक करता है। नारद को कुमार नमस्कार करता है और औशीनरी रानी को नमस्कार कराने के लिये सब लोग उसे नगर ले जाते हैं और भरतवाक्य से नाटक समाप्त होता है। (अंक ५)—

कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटकों के नाम की तरह प्रस्तुत नाटक का 'विक्रमोर्वशीय' नाम अन्वर्थक नहीं मालूम होता। पुरूरवा का नाम विक्रम था, ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं आया है। तब 'विक्रम यानी पराक्रम से प्राप्त की है उर्वशी जिस नाटक में' इस अर्थ में इस नाटक का नाम कवि ने रक्खा होगा ऐसी योजना करनी पड़ती है। शायद अपने आश्रय दाता का नाम इस नाटक से जोड़ देने की कामना कालिदास की रही होगी। उसी निमित्त से उसने 'विक्रम' शब्द का नाटक में दो जगह प्रयोग किया है यह हम पीछे बता चुके हैं।*

कालिदास ने इस नाटक का कथानक कहाँ से लिया है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पुरूरवा और उर्वशी की प्रेम-कथा

---

* राजशेखर ने अपने 'प्रचण्डपाण्डव' नाटक और आर्य क्षेमेश्वर ने 'चण्डकौशिक' नाटक के नाम में अपने आश्रयदाता राजाओं के नामों का श्लेष गर्भित उल्लेख किया है यह हम ने अन्यत्र दिखलाया है। (K B Pathak: Commemoration Volume pp 360-364)

अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद १०, ९५ सूक्त में पुरूरवा और उर्वशी का संवाद दिया गया है। सूक्त की भाषा कहीं कहीं पर दुर्बोध है। तो भी उसका सामान्य रीति से अर्थ समझने में बहुत अड़चन नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त उक्त सूक्त का संदर्भ और कुछ ऋचाओं का स्पष्टीकरण शतपथ ब्राह्मण में भी (५, १–२) मिलता है। वह कहानी इस प्रकार है —

उर्वशी नाम की अप्सरा का पुरूरवा से प्रेम हो गया। वह उसके सहवास में कुछ काल तक रही। पहिले ही से उसने राजा से दो शर्तें करली थीं पहली यह कि मेरे दोनों मेढ़े हरदम मेरे शयनागार में बँधे रहें। दूसरी यह कि तुम नग्नावस्था में कभी भी मेरे सामने न आओ। राजा ने दोनों शर्त स्वीकार कर ली थीं। कुछ काल के बाद उर्वशी गर्भवती हुई। इधर उर्वशी के चले जाने से स्वर्ग सूना लगने लगा। इसलिये उसको वापस लाने के लिये गन्धर्वों ने एक युक्ति सोची। उन्होंने एक रात को मेढ़ों को ले जाकर मारना शुरु किया। उनकी चिल्लाहट सुनकर उर्वशी बोली 'मेरे इन लाडले बच्चों का रक्षण करने के लिये इधर कोई नहीं है क्या ?' । तब राजा वैसे ही नग्नावस्था में जल्दी उनकी रक्षा के लिये दौड़ा। राजा उर्वशी के नजर में पड़ जाय इसलिये गन्धर्वों ने बिजली का खूब प्रकाश कर दिया। यह देख अपनी शर्त के अनुसार उर्वशी उसको छोड़कर चलने लगी। उस समय राजा ने उसकी खूब अनुनय विनय की और उसने कहा कि मैं तुम्हारे प्रेम में पागल होकर भटक कर प्राण त्याग कर दूँगा और अपना शरीर सियार और कुत्तों को खिला दूँगा। इस पर उर्वशी ने उत्तर दिया—'पुरूरवा ! अपना सर्वनाश न कर और प्राण भी मत

रखो । तेरे शरीर को सियार, कुत्ते कुछ भी हानि न पहुँचावेंगे, तू लौट जा । स्त्रियों का प्रेम स्थिर नहीं होता । उनके हृदय सियार के सदृश होते हैं ।' अन्त में दयावश होकर वह वर्ष के अंत में एक रातभर उसके साथ रहने की प्रतिज्ञा करती है । पीछे पुरूरवा ने गन्धर्वों को सन्तुष्ट कर उनके कहने के अनुसार मनुष्यलोक में स्वर्गीय अग्नि लाकर यज्ञ किया तथा गन्धर्व रूप प्राप्त कर लिया । शतपथ ब्राह्मण की यह कथा थोड़े भेद से विष्णु और भागवत पुराण में भी आई है कि उर्वशी को मित्रावरुण का शाप होने से मनुष्यलोक में रहना पड़ा । इसके सिवा इस कथा का एक निराला ही स्वरूप 'कथासरित्सागर' में देख पड़ता है । मालूम होता है स्वकालीन 'बृहत्कथा' से कालिदास अवश्य परिचित रहे होंगे । 'कथासरित्सागर' से यह ज्ञात होता है कि पुरूरवा विष्णुभक्त था । विष्णु ने उर्वशी को देने के लिये इन्द्र को आज्ञा दी थी । एक दिन राजा इन्द्र के साथ सभा में बैठा था कि रम्भा ने नृत्य में कुछ ग़लती की । इस पर राजा को हँसी आ गई । यह देख नृत्याचार्य तुम्बरु को क्रोध आया । और उसने राजा को उर्वशी से वियोग का शाप दिया । तब तपश्चर्या से विष्णु को सन्तुष्ट कर राजा ने उर्वशी को पुनः प्राप्त किया ।

पुरूरवा और उर्वशी की प्रेमकथा के ऊपर बताये हुये,—कालिदासकालीन—स्वरूप को ध्यान में रखने से कवि की कल्पना शक्ति इस नाटक में उत्तम रीति से दीख पड़ेगी । उर्वशी को शाप लगने पर थोड़े दिनों तक मृत्युलोक में वास करना पड़ा था और उसकी शर्तों का राजा ने पालन न किया, इसलिये वह स्वर्ग को वापिस चली गई । यह वर्णन शतपथ ब्राह्मण और पुराणों में आया है । 'बृहत्कथा' में तो तुम्बरु के शाप से राजा का और उसका

वियोग हुआ ऐसा बताया गया है। अपना सविधानक रचते समय इन सब घटनाओं का कालिदास ने मार्मिकता से उपयोग किया है। पहिले अंक में उर्वशी हरण का, इसके बाद पुरूरवा और उर्वशी के प्रथम दर्शन का रम्य प्रसंग, कवि की प्रतिभा से उत्पन्न हुआ दीखता है। तीसरे अंक में उल्लेख किया हुआ भरतमुनि का शाप 'बृहत्कथा' के तुम्बरु के शाप से कवि को सूझा होगा। शतपथ ब्राह्मण और पुराणों में वर्णन की हुई उर्वशी की शर्तें कला की दृष्टि से रमणीय न होने से उनकी जगह पर कवि ने पुत्र दर्शन की शर्त लगाई है। चौथे अंक में कार्तिकस्वामी का नियम, उसके कारण उर्वशी का रूप परिवर्तन, पुरूरवा का शोक इत्यादि प्रसंग और पूरा पाँचवाँ अंक ये कालिदास की कल्पना शक्ति के फल हैं। यदि कुमार के दर्शन होते ही उर्वशी को स्वर्ग में लौट जाना पड़ता तथा राजा को तपश्चर्या के लिये आश्रम में जाना पड़ता तो नाटक दुःखान्त हो जाता। नाट्यकार संस्कृत नाटकशास्त्रों के नियमों के अनुसार ऐसा नहीं कर सकते। इसलिये अन्तिम अंक में नारद के द्वारा इन्द्र का संदेसा राजा को सुनाकर कालिदास ने नाटक को सुखान्त बनाया है। ऐसा कई विद्वानों ने कहा है कि इस नाटक के पहले तीन अंकों में सविधानक के सदृश मत्स्यपुराण में कथा मिलती है। अतः कालिदास ने उसे वहाँ से लिया होगा। परन्तु पुराणों की वर्तमानकालीन प्रतियाँ विश्वसनीय नहीं हैं। उन में समय समय पर नई नई कथायें जोड़ी गई हैं। इसलिये मत्स्यपुराण में पुरूरवा और उर्वशी की प्रेमकथा के—दूसरे पुराणों में दीखते हुये—नीरस स्वरूप को छोड़कर उसके स्थान में 'विक्रमोर्वशीय' का रम्य कथानक संक्षिप्त रूप से

दिया है, ऐसा कह सकते हैं।*

'विक्रमोर्वशीय' नाटक का सविधानक कालिदास के पहले नाटक के समान जटिल नहीं है। साँप की तरह टेढे मेढे कथानक में प्रेक्षकों का चित्त उलझाने की अपेक्षा स्वभाव चित्रण के रम्य दर्शन से दर्शक को आकृष्ट करना अच्छा है। कोई भी कारण हो 'मालविकाग्निमित्र' की तुलना से इस में सविधानक-चातुर्य बहुत कम दीखता है। दूसरे तीसरे अकों की कुछ घटनायें कथानक की प्रगति के लिये आवश्यक नहीं दीखती हैं। उदाहरणार्थ, उस अक में औशीनरी रानी के प्रवेश एव विरोधदर्शन से उर्वशी के स्वभाव को ज्यादा उत्थान मिलेगा इसलिये ही रखा गया है। इसकी भाषा पहले नाटक की भाषा के समान प्रसादगुणपूर्ण, सौष्ठवयुक्त और अलकृत है। इसमें सभोग और विप्रलभ इन दोनों शृगारों का उत्तम परिपोष हुआ है। तथापि चौथे अक में आरम्भ से लेकर अन्त तक राजा करीब करीब एक ही प्रकार से शोक करता हुआ दिखाया गया है। शोक रस का उत्थान करने के लिये दूसरे रस की योजना नहीं की गई इसलिये वह अक फीकासा हो जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' क मान से इस नाटक की पात्र सख्या यद्यपि कम है, तथापि उनका चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ किया

---

* मत्स्यपुराण की कथा में 'बृहत्कथा' और 'विक्रमोर्वशीय' का वर्णन मिला हुआ दीखता है। उसमें लिखा है कि लक्ष्मी स्वयवर के प्रसग पर मेनका और रभा इनके साथ साथ लक्ष्मीरूपधारिणी उर्वशी नाचती है। और भरत के सिखाये हुये अभिनय को भूल जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयवर के प्रसंग पर वधू को नाच कराने में प्रतीत होने वाला प्रत्यक्ष अनौचित्य—इस कथा को मत्स्यपुराण में जोड़नेवाले के ध्यान में नहीं आया।

गया है। उस में पुरूरवा, विदूषक ये पुरुष पात्र, उर्वशी और औशीनरा ये स्त्रीपात्र प्रमुख हैं। पुरूरवा नायक धीरोदात्त है। वह अत्यन्त शूर, प्रेमी और दाक्षिण्य सपन्न दिखलाया गया है। नाटक के आरम्भ में केशी दैत्य पर उसका विजय पाना, उर्वशी की तरह प्रेक्षकों के भी मन को आकृष्ट कर लेता है। उसके शौर्य के कारण साक्षात् इन्द्र को भी उसकी मदद की ज़रूरत पड़ती है। विनय से उसका शौय ज्यादा चमक उठता है। उर्वशी पर राजा का निस्सीम प्रेम उसे पागल बना देता है और वह लता वृक्ष और पशु पक्षियों से उसका हाल पूछता हुआ भटकता फिरता है। कालिदास के अन्य नाटकों क नायकों की तरह यह भी बहु-पत्नीक है। तो भी यहाँ राजा के मन म अपनी बड़ी रानी के गुणों के प्रति आदर भाव है। दूसरी स्त्री से उसका प्रेम हुआ है जब यह औशीनरी को मालूम होगा तो उसे बुरा लगगा, इसलिये जहां तक हो सका राजा ने यह बात उससे छिपा रखने की सोची। अग्निमित्र के स्वभाव से इसका स्वभाव अच्छा बताया गया है। परन्तु दुष्यन्त के प्रजावात्सल्य आदि गुण इसमें नहीं पाये जाते। इसलिये एक तरह से यह उससे नीचा भी है। इस नाटक का माणवक नाम का विदूषक 'माल विकाग्निमित्र' नाटक के विदूषक गौतम की तरह खाद्यलोलुप है। परन्तु बुद्धि में उसकी अपेक्षा बहुत कम दर्जे का है। राजा को मालविका का प्रथम दर्शन और उससे समागम कराने के लिये गौतम नाना प्रकार की युक्तियाँ सोचता है। परन्तु माणवक राजा के उर्वशी से प्रेम की गुप्त बात को औशीनरी की चतुर दासी से नहीं छिपा सका। उसकी मूर्खता से ही औशीनरी रानी को प्रवेश का अवसर मिला। खाद्य पेयादि पदार्थों में से ली हुई उपमा आदि अलकारों से और अपनी कुरूपता से

दूसरे पात्रों और प्रेक्षकों का मनोरंजन करना ही इसका काम है। कथानक को प्रगति देने में इसका बहुत उपयोग नहीं है। तीसरा पुरुष पात्र राजकुमार आयु है। 'मालविकाग्निमित्र' का कुमार वसुमित्र रंगभूमि पर नहीं आता। उसके शौर्य के विषय का वर्णन सुनकर प्रेक्षकों को उसे देखने की इच्छा होती है परन्तु वह पूरी नहीं होती। कालिदास इस नाटक में सर्वप्रथम एक अल्पवयस्क कुमार को रंगभूमि पर लाते हैं। वह वसुमित्र की अपेक्षा आयु में कम है। तो भी उसका स्वभाव-परिपाक अच्छा हुआ है। उसकी धनुर्विद्या में निपुणता, अपने पिता की तरफ सहज प्रेम और च्यवनाश्रम के प्राणियों पर उसकी ममता ये थोड़े ही में उत्तम रीति स दिखला दिये गये हैं। स्त्री पात्रों में उर्वशी प्रमुख है। यह अप्सरा होने के कारण स्वरूप में अप्रतिम है, संस्कृत नाट्यशास्त्रकारों के वर्गीकरण के अनुसार यह 'साधारणा' और 'प्रगल्भा' है। उसका पुरूरवा पर निस्सीम प्रेम है। अपनी उपभोग लालसा तृप्त हो जाने पर पति के विषय में लापरवाही दिखाने वाली और उसके अनुनय विनय पर 'स्त्रियों की मित्रता स्थायी नहीं होती, उनके हृदय सियार की तरह होते हैं' ऐसे निर्लज्जता से उत्तर देनेवाली अत्यन्त स्वार्थ पूर्ण स्त्री का स्वरूप ऋग्वेद आदि प्राचीन ग्रन्थों में दीखता है। परन्तु कालिदास की प्रतिभा से निखर उठने पर उसका स्वभाव बहुत बदला हुआ दीखता है। पुत्र दर्शन होने पर इन्द्र की शर्त के अनुसार उर्वशी से वियोग होनेवाला है, इस कल्पना से राजा को उसको अत्यन्त दुःख होता है। तो भी उसका स्वार्थीपन बिल्कुल नष्ट नहीं हुआ ऐसा प्रतीत होता है। अपने उपभोग के लिये, अपने पेट के बालक को जन्म दिवस से लेकर दूसरे के अधीन छोड़ने में उसे जरा भी दुःख नहीं होता। उसके स्वभाव में स्त्रीजन

सुलभ मात्सर्य है। तथापि औशीनरी रानी की गम्भीराकृति देखते ही उसकी तरफ उर्वशी के हृदय में आदर का भाव उत्पन्न हो जाता है। पुत्र का यौवराज्याभिषेक हो जाने पर वह उसको ज्येष्ठ माता औशीनरी रानी को नमस्कार कराने के लिये ले जाती है। इससे रानी के विषय में उसका आदर व्यक्त होता है। कालिदास के समय म धनी और रसिक लोग विदुषी और विविध कलाभिज्ञ वेश्याओं की सगति में कैसे रहते थे इसका उत्तम चित्र वात्स्यायन के कामसूत्र में मिलता है। ऐसे नागरिकों की पत्नियाँ अपने पति में बाहर की स्त्रियों पर आसक्त होने के लक्षण देखकर भी उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करती थीं। गृह व्यवस्था देखती थीं और सदैव विविध कर्तव्यों में निमग्न रहती थीं यह उस ग्रन्थ से प्रतीत होता है। ऐसी ही प्रेम से भरा हुइ मानिनी और गम्भीर स्वभाव की गृहिणी का चित्र कालिदास ने औशीनरी रानी के रूप में रँगा है। उर्वशी से प्रेम होने पर भी पुरूरवा औशीनरी रानी के साथ आदर ही से पेश आता है। इसी को देखकर चित्रलेखा कहती है 'अन्यसक्रान्तप्रेमाणो नागरिका अधिक दक्षिणा भवन्ति' अर्थात् दूसरी स्त्री पर प्रेम करने वाले नागरिकों का व्यवहार सौजन्ययुक्त होता है। ऐसा कहकर उर्वशी को समझाती है। अत इस नाटक को लिखते हुये कवि के मन में अपने समय के नागरिकों का और उनकी सुशील और सद्गुणी स्त्रियों का चित्र घूम रहा होगा। औशीनरी को राजा की कामुकता अच्छी नहीं लगती और वह पहले उसके दिखावटी प्रेम परन्तु निस्सार भाषण को तुच्छ समझ कर चली जाती है। बाद म उसे पश्चात्ताप होता है और वह 'प्रियानुप्रसादन' व्रत के मिस राजा को बुलाती है। तुम्हारी प्रिय स्त्री के साथ मैं प्रेम व्यवहार करने को तैयार हूँ, ऐसा स्पष्ट कहकर उसका रास्ता निष्कण्टक कर

देती है। यह कितना बड़ा स्वार्थत्याग है। 'मालविकाग्निमित्र' की धारिणी रानी भी स्वार्थत्यागी और उदार थी, परन्तु वह अपने वचन में बद्ध होकर और पुत्र-विजय के महोत्सव के कारण। उसकी अपेक्षा औशीनरी रानी का त्याग ज्यादा निरपेक्ष और इसलिये प्रशंसनीय है। उर्वशी और औशीनरी दोनों का राजा पर निस्सीम प्रेम है। परन्तु उर्वशी का प्रेम भोग मूलक और औशीनरी का प्रेम त्याग मूलक है। दोनों में यह महत्त्व पूर्ण भेद कवि ने सूचित किया है। सांसारिक कष्टों और प्रिय-जनों की उपेक्षा से जो प्रेम कम नहीं होता और जिसका परिणाम अन्त में आत्मविसर्जन होता है, वही सच्चा प्रेम है अपना यह मत, अन्य ग्रन्थों की तरह इस नाटक में भी कवि ने औशीनरी रानी के चरित्र चित्रण द्वारा व्यक्त किया है।

शाकुन्तल

'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय' ये दो नाटक कालिदास ने लिखे तो भी नाटककार के रूप से उसकी कीर्ति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' पर ही अंतिम, सर्वाङ्गसुन्दर और निर्दोष रूप से स्थिर हो सकी है। सविधानक-चातुर्य, चरित्र चित्रण, रस-परिपोष, भाषा-सौष्ठव, आदि की दृष्टि से उसके गुणों पर लुब्ध होकर प्राचीन रसिकों ने इसको सब संस्कृत नाटकों में श्रेष्ठ माना है। ई. स. १७८९ में सर विलियम जोन्स ने एक संस्कृत पंडित की सहायता से उसका अंग्रेजी में अनुवाद किया। उसके बहुतसे स्थलों में दोष हैं तो भी उसने युरोपीय विद्वानों को मुग्ध कर दिया। उस समय उसके कई यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हो गये। और इस समय पृथ्वी की ऐसी एक भी प्रमुख भाषा नहीं है जिस में शाकुन्तल का अनुवाद न मिले। इस नाटक के अंतिम अंक में छोटे बालक का अकृत्रिम

हास्य और तोतली बोली का मनोहर वर्णन बाँचकर शेजी नाम के फ्रेंच विद्वान् को ऐसा आनन्द हुआ कि वह नाचने लगा। जगत्प्रसिद्ध जर्मन कवि गटे ने तो इस नाटक का अनुवाद पढ़कर उसकी प्रशंसा में कहा,—"अगर तुम वसन्त के फूलों को चाहते हो और शीत ऋतु के फल चाहते हो और आत्मा को मोहन करनेवाला, प्रसन्न करनेवाला और उसी तरह से पुष्ट करनेवाला रसायन और पृथ्वी के ऊपर स्वर्ग, ये सब बातें एक जगह देखना चाहते हो तो तुम 'शाकुंतल' का अध्ययन करो और वहाँ तुमको ये सब बातें मिल जावेंगी।" कालिदास के सब ग्रंथों में उत्कृष्ट होने से 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुंतलम्' यह उक्ति सर्वमान्य हो गई है। प्राचीन काल से ही शाकुन्तल के लोकप्रिय हो जाने पर उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ हिंदुस्तान के सब प्रान्तों में मिलती है। परंतु उन में बहुत भेद है। उन सब का विचार करके काश्मीरी, बंगाली, देवनागरी और मद्रासी ऐसी चार पाठ परंपरायें निश्चित की गई हैं। इन सब की सूक्ष्म परीक्षा करके कालिदास के सर्वोत्कृष्ट नाटक का मूल स्वरूप ठहराना अत्यन्त आवश्यक है। तो भी नागरी पाठ सर्वोत्तम प्रतीत होने के कारण हमने विवेचना के लिये उसी का सहारा लिया है।

इस नाटक के आरम्भ में भी कवि ने श्रीशंकर के प्रत्यक्ष दीखनेवाले अष्टविध स्वरूप का वर्णन किया है। अनन्तर सूत्रधार नटी को बुलाता है और 'विद्वत् परिषद् के सामने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नवीन नाटक का प्रयोग करना है, इसलिये प्रत्येक पात्र के काम पर सावधानी रखनी चाहिये' ऐसी सूचना देता है। 'आपने नाटक का खेल अच्छा जमाया है अत उसमें कमी न रहेगी' नटी के ऐसा कहने पर वह कहता है—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ शाकु० १, २

'जब तक विद्वानों का संतोष न हो तब तक प्रयोग की उत्तमता में मेरा विश्वास नहीं है । कितनी ही शिक्षा क्यों न मिली हो किंतु अपनी योग्यता के विषय में चित्त संदिग्ध ही रहता है ।' इस श्लोक में सूत्रधार के मुख से स्वयं नाटकरचना में कुशल होते हुए भी अपनी कृति से जब तक विद्वज्जनों को संतोष न हो तब तक अपना समाधान नहीं होता, यह कालिदास बहुत विनय से सूचित करते हैं । इसके अनन्तर नटी ग्रीष्म-समय वर्णन पर एक गीत गाती है । उसकी स्तुति के मिस से दुष्यन्त के प्रवेश की सूचना देकर सूत्रधार नटी के साथ बाहर निकल जाता है और मुख्य अंक का आरंभ होता है । जहां रथ में बैठकर हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त और सारथी दिखाई देते हैं । निशाना ताककर राजा उसको बाण मारनेवाला ही था कि 'राजन्, यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारो' ऐसा चिल्लाता हुआ एक वैखानस (तपस्वी) दो शिष्यों के साथ उसके सामने आ जाता है । उसकी बिनती को मानकर राजा अपना बाण खींच लेता है । उसे ऐसा करते देख संतुष्ट वैखानस राजा को आशीर्वाद देता है, "तेरे चक्रवर्ती पुत्र हो" और पास ही में मालिनी नदी के तीर पर बने हुये आश्रम में जाकर वहाँ का अतिथि सत्कार स्वीकार करने के लिये राजा से प्रार्थना करता है । 'वहाँ के कुलपति कण्व ऋषि शकुन्तला नाम की अपनी कन्या पर अतिथि सत्कार का भार सौंपकर उसके प्रतिकूल दैव की शान्ति करने के लिये सोमतीर्थ पर गये हुये हैं ।' यह भी तपस्वी राजा को बता देता है । शिष्यों के साथ तपस्वी के चले जाने पर राजा तपोवन की तरफ रथ हाँकने के लिये सारथि से कहता है । तपोवन

क पास पहुँचने पर वहाँ के लोगों का कष्ट न हो इसलिये वह स्वयं रथ से उतर पड़ता है और अपना धनुष और अलंकार सारथि को सौंप विनीत वेश से तपोवन में प्रवेश करता है। उस समय उसके दक्षिण बाहु के फड़कने से शुभ शकुन होता है। जैसे ही दुष्यन्त आगे बढ़ता है वैसे ही उसे सुनाई पड़ता है कि पास की झाड़ी मे कुछ लोग बोल रहे है। वह कलश लेकर पानी डालने के लिये अपनी ही ओर आती हुई तीन तापसक याओं की देखता है। और एक पेड़ के नीचे छाया में बैठकर उनकी राह देखने लगता है। उनके संभाषण से, उसे ज्ञात होता है कि एक कण्व की लड़की शकुन्तला और बाकी दो अनसूया और प्रियंवदा नाम की उसकी सखियाँ हैं। वल्कल पहिने हुये शकुन्तला को देखकर वह अपने मन में कहता है, 'इसका सुन्दर शरीर वल्कल के योग्य नहीं यह बात ठीक है, परन्तु उससे उसकी शोभा बढ़ ही गई है। क्योंकि सहज सुन्दरों को क्या अच्छा नहीं लगता?' इधर शकुन्तला और उसकी सखियों के बीच मज़ाक चल रहा है। कोमल पल्लववाले आम्रवृक्ष को, वनज्योत्स्ना नामक फैली हुई बेला की लता को देखकर शकुन्तला खड़ी रहती है। इस पर प्रियंवदा कहती है 'अनसूये, शकुन्तला वनज्योत्स्ना को इतने ध्यान से देख रही है, इसका कारण तेरे ध्यान में आया? अनसूया कहती है वनज्योत्स्ना का योग्य वृक्ष से जिस प्रकार संयोग हुआ है वैसा क्या मुझे भी योग्य पति मिलेगा! इस पर शकुन्तला उत्तर देती है 'यह इच्छा तो तुम्हारे मन की है।' इस बात से शकुन्तला अविवाहित है, यह राजा को मालूम हो जाता है। वह सोचता है "यह कण्व मुनि की असवर्ण स्त्री से उत्पन्न हुई कन्या है क्या? क्योंकि मेरा मन इस पर आसक्त हुआ है इसलिये अवश्य इसे मेरे सदृश क्षत्रिय से विवाह करने लायक होना ही चाहिये।" क्योंकि

प्रतिलोम विवाह तो निषिद्ध है। इतने में बेला में पानी डालने से बिचक कर उड़ा हुआ भ्रमर शकुन्तला के मुख के सामने चक्कर लगाता है। उसको देखकर राजा उसको शाबासी देता है। वह कहता है—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥ शाकु० १, २३

'अरे भ्रमर, तू उसके कटाक्षयुक्त (कम्पित) नेत्र को बार बार छूता है और उसके कान के पास आकर मीठा मीठा शब्द करता है मानो कुछ रहस्य कह रहा है। यद्यपि यह हाथ से तुझको हटाती है तो भी तू उसके रति के सर्वस्वभूत अधर का पान करता ही है। हम तो तत्व की खोज में मारे गये और तू बड़ा भाग्यशाली है।' इस में राजा ने भ्रमर का कामुकरूप से वर्णन किया है और अन्त में 'हम तो तत्वान्वेषण में मग्न होने से फस गये। और तू कृतार्थ हो गया' ऐसे उद्गार निकाले हैं। इस श्लोक में समासोक्ति और व्यतिरेक अलंकार का मधुर संयोग हुआ है। भ्रमर उसको बहुत कष्ट दे रहा था इसलिये शकुन्तला अपनी सखियों को मदद के लिये पुकारती है तब वे हँसी में कहती हैं 'हम तुम्हारी क्या रक्षा कर सकती हैं? दुष्यन्त को पुकार। तपोवन का रक्षण राजा को ही करना चाहिये' यह समय प्रगट होने के लिये बहुत अच्छा है ऐसा जानकर राजा आगे आ जाता है और कहता है 'दुष्टों का शासन करनेवाले पौरव राजा का पृथ्वी पर राज्य है। तब ऐसी भोली भाली तपस्वी कन्याओं को कौन सता रहा है?' अचानक परपुरुष के उपस्थित होने पर पहिले वे सब घबड़ा सी जाती हैं, बाद में उसका स्वागत करती हैं। राजा को

देखकर शकुन्तला के मन में प्रेम विकार उत्पन्न होता है। मैं राजा हूँ यदि उनका यह मालूम पड़ा तो वे खुल दिल से मुझ से बात चीत नहा करगी यही सोचकर दुष्यन्त उनसे कहता है कि राजा ने धम विभाग का मुझे अधिकारी नियत किया है। इस तपोवन में धम कृत्य निर्विघ्नता से हो रहे हैं या नहीं यह देखने के लिये मैं यहा आया हूँ। उनके द्वारा शकुन्तला का हाल उसे मालूम होता है। 'विश्वामित्र की उग्र तपश्चया से डरकर देवताओं ने उनको मोह में डालने के लिये मेनका नामक अप्सरा भेजी थी। उस मे यह शकुन्तला नामक कन्या उत्पन्न हुई। माता न इस को वन मे डाल दिया था तब कण्व ऋषि ने इसका पालन किया, इसलिये कण्व इसके पिता ह। योग्य वर मिलने पर इसका विवाह कर देन का विचार है।' अपने विवाह विषय की चचा सुनकर शकुन्तला क्रोध से गौतमी—अपना फूफी—के पास शिकायत करने के लिये जाना चाहती है। उसे लौटाने के लिय प्रियवदा कहती है 'मने तेरी ओर से दो झाड़ों को पानी दिया है तू मेरा ऋण पहिले चुका दे फिर तू चाहे चली जाना।' 'वृक्ष-सेचन मे यह अत्यन्त थक गई है, इसलिये मैं ही इसको ऋणमुक्त करता हूँ' ऐसा कहकर राजा प्रियवदा को अपनी अगूठी देता है। उस पर उसके नाम के अक्षर बाचते ही वे आश्चर्यचकित हो जाती हैं। यह देखकर राजा कहता है, "मैं कोई दूसरा हूँ ऐसा न समझिये। इसे मुझे राजा ने दिया है।" इस पर प्रियवदा कहती है 'तो इसे आप अपनी ही अगुली में रहने दीजिये। आपके बचन से ही यह ऋणमुक्त हो गइ है।' इस तरह उनकी बातचीत हो रही थी कि 'मृगयाविहारी दुष्यन्त राजा तपोवन में आया है। उसके रथ से डरकर एक हाथी हिरनी को चौंकाता हुआ तपोवन में प्रवेश कर रहा है। इसलिये

यहां के प्राणियों की रक्षा करो' ये शब्द उसके कान में सुन पड़ते हैं। तब राजा की आज्ञा से ऋषिकन्यायें अपनी पर्णकुटी की तरफ जाती हैं। जाते समय केवल शकुन्तला अपने पावों में चुभते हुये दर्भांकुर निकालने का और करौंदे के पेड़ में अटक हुये अपने वल्कल को छुड़ाने के बहाने से थोड़ी देर पीछे रहकर राजा की तरफ फिर एक बार देखती है और सखियों के साथ चली जाती है (अंक १)। इसके बाद दूसरे दिन की घटनायें दूसरे अंक में वर्णित हैं। तपोवन के पास ही राजा ने अपने सैनिकों के साथ डेरा डाला था। वही इस अंक का स्थल है। पहले विदूषक प्रवेश करके कहता है 'इस मृगयाशील राजा की संगति से मुझे बहुत कष्ट हो रहा है। कहीं हरिण, कहीं वराह, कहीं बाघों के लिये चिल्लाते इस ग्रीष्म ऋतु में घोर जंगल में फिरना पड़ता है। समय कुसमय सलाई पर भूँजे हुये माँस को खाना पड़ता है। इस तरह हमारे दिन गुजरते हैं। रात में सुख की नींद भी पूरी होने नहीं पाती। कल मेरे दुर्भाग्य से राजा को तापस कन्या शकुन्तला दीख पड़ी। अब तो वे घर लौटने की चर्चा ही नहीं छेड़ते।' इस तरह विदूषक अपने आप बक बक कर रहा था कि राजा वहाँ आ पहुँचता है। शकुन्तला पर मन आसक्त होने से राजा के मन में मृगया का उत्साह नहीं रहा। अतः उसको बंद कर देने के लिये विदूषक की बिनती को मान लेता है। और उसी के अनुसार सेनापति को आज्ञा देता है। अनन्तर एक पेड़ की छाया में बैठकर विदूषक के पूछने पर राजा उसको शकुन्तला के जन्म का हाल बताता है। इसके बाद किस बहाने से फिर आश्रम में जाऊँ, इस बिचार में राजा पड़ा हुआ ही था कि दो ऋषिकुमार प्रवेश करते हैं और 'कण्व मुनि के यहां न रहने से राक्षस यज्ञकर्म में विघ्न

करते हैं, अत आप कुछ दिन आश्रम मे रहे।' राजा आश्रमवासी लोगो की प्रार्थना को आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है। उनके जाने पर 'तुझे शकुन्तला देखने की उत्सुकता है क्या' यह वह विदूषक से पूछता है। उस पर वह उत्तर देता है 'पहले तो मेरी उत्सुकता अधिक थी, परन्तु अब राक्षसों के वृत्तान्त मे ज़रा भी नहीं रही।' इतने में राजधानी से एक दूत आता है और "आज से चौथे दिन पुत्रपिंडपालन नामक व्रत की पारणा है। उस समय चिरजीव को जरूर लौटना चाहिये।" यह राजमाता का सन्देशा सूचित करता है। क्या करना चाहिये, राजा सोचता है। अत में राजा विदूषक से कहता है मेरी माता ने तुझे भी तो पुत्रवत् माना है, इसलिये तू लौटकर जा, और मै तपस्वियों के कार्य में लगा हुआ हूँ, यह माता जी से कहकर उनके पुत्रकृत्य को पूरा कर। घर जाने पर यह कदाचित् शकुन्तला की बात, अन्तःपुर की स्त्रियों से कहेगा, यह समझ कर राजा विदूषक से कहता है, 'ऋषि के शब्दों को सम्मान देने के लिये मै आश्रम में जाता हूँ। उस तापस-कन्या के प्रति मेरी अभिलाषा नहीं है। मैंने हसी मे जो कुछ कहा उसे सच्चा मत समझना।' (अक २) इसके अनन्तर महीने पन्द्रह दिन में तीसरे अक के वृत्तान्त की घटना घटती है। पहले एक छोटा सा प्रवेश है। उसमें शिष्य के भाषण और राजा के पास रहने से यज्ञ-कर्म निर्विघ्नता से समाप्त हो गये हैं, ऐसा हमें मालूम पडता है। इसके बाद राजा प्रवेश करता है और मदन और चन्द्र से अपनी काम पीडा का वर्णन करता है। मध्याह्न के समय मालिनी के तीर पर सखियों के साथ शकुन्तला बैठी होगी, ऐसा समझ कर वहाँ जाता है और एक लतागृह के पास उसके पैर के चिह्न उसको दीखते हैं। आगे जाकर देखता है तो उसको पुष्पों से आच्छादित

शिलातल पर बैठकर, सखियों के साथ बात करती हुई शकुंतला दीखती है। उस समय उसका विश्रम्भालाप सुनने के लिये वह वहाँ वृक्ष की आड में छिप जाता है। दुष्यन्त को जिस दिन देखा उसी दिन से शकुंतला दुबली होती जाती थी। इसलिये उसका विकार प्रेम-मूलक होना चाहिये ऐसा समझ कर अनसूया उससे पूछती है, "शकुन्तला! हम तो प्रीत की रीत नहीं जानते, तो भी इतिहास के ग्रन्थों में कामार्त्त जनों की जैसी अवस्था वर्णन की गई है वैसी तेरी दीखती है। तू बता, तुझे किस कारण से यह ताप हो रहा है? रोग का निदान जाने बिना उपाय करना ठीक नहीं है।" लज्जा से शकुन्तला कुछ बोलती नहीं। और प्रियवदा भी मन का हाल बताने के लिये उससे आग्रह करती है। तब शकुन्तला कहती है "सखियों, वह तपोवन का रक्षण करनेवाला जब से मुझे दीखा है तब से उस पर आसक्ति के कारण मेरी ऐसी अवस्था हुई है। तुम्हारी सम्मति हो तो जिससे उसको मुझ पर दया आये वैसा करो। नहीं तो मुझे तिलोदक देने के लिये तैयार हो जाओ।" पौरवश्रेष्ठ राजर्षि पर उसका प्रेम हुआ है यह समझ कर सखियों को आनन्द होता है। राजा की भी प्रेम से उसी के सदृश अवस्था हुई है, यह प्रियवदा ने देखा था। इसलिये वह शकुन्तला से कहती है, 'तू एक मदन लेख रचकर इस कमलपत्र पर नखों से खोदकर लिख। यह देवता का प्रसाद है, इस मिस से फूलों में छिपाकर इसे मैं उसके पास पहुँचा दूँगी।' अनन्तर शकुन्तला अपना मदन ताप व्यक्त करने वाली एक प्राकृत गाथा रचकर अपनी सखियों को सुनाती है। उसको सुनकर राजा आगे आकर कहता है कि 'मदन ने मेरी स्थिति और भी ज्यादा खराब कर दी है।' इसके बाद प्रियवदा उससे शकुन्तला को स्वीकार करने के लिये विनती करती

है। उस पर शकुन्तला कहती है, "प्रियवदे, अन्त पुर की स्त्रियों के विरह से उत्कठित हुये राजर्षि को तू क्यों रोकती है?" अनसूया भी कहती है, 'राजा लोगों के अनेक स्त्रियाँ होती हैं, अत जिस से हमारी प्रियसखी के बन्धुवर्गों को दु ख न हो, उस रीति से आप इसके साथ व्यवहार करें।' इस पर राजा उत्तर देता है, 'मेरी अनेक स्त्रियाँ हैं तो भी समुद्रवलयांकित पृथ्वी और यह तुम्हारी सखी इन दोनों पर ही मेरे कुल की प्रतिष्ठा अवलबित रहेगी।' इस आश्वासन से उन दोनों के चित्त को सन्तोष होता है और हरिण-बालक को उसके माता के पास पहुँचाने के मिस से वे वहाँ से चली जाती हैं। उनके पीछे शकुन्तला भी जाने लगती है परन्तु राजा उसको रोकता है और "गान्धर्वविधि से बहुत सी क्षत्रिय कन्यायों के विवाह हुये हैं। तुझे भी अपने गुरुजनों का भय मानने की कुछ आवश्यकता नहीं है" ऐसा कहकर उसके मन को समझाता है। इतने में 'हे चक्रवाकवधू! अपने सहचर से विदा माँग, रात पास आ गई है।' ये शब्द सुनाई देते हैं। तब शकुन्तला राजा से कहती है कि गौतमी मेरा समाचार लेने के लिये इधर आ रही है, इसलिये आप वृक्ष की ओट में हो जाँय। अनन्तर प्रियवदा और अनसूया के साथ गौतमी प्रवेश करती है, शकुन्तला के स्वास्थ्य की पूछ ताछ करती है और उसके मस्तक पर दर्भोदक सींचती है। उस समय सायकाल हो जाने से वह शकुन्तला को अपने साथ ले जाती है। जाते समय शकुन्तला 'हे सतापहारक लताकुज! फिर भी मैं तेरा उपभोग करूँ इसलिये मैं तुझ से आज्ञा माँगती हूँ' ऐसा कह कर दुष्यन्त को फिर भेंट करने के लिये सूचना देती है। इतने में 'सायकाल के यज्ञकर्मों के समय वेदी के चारों तरफ़ आकाशस्थ राक्षसों की भयकर छाया दीखती है' ये शब्द राजा को सुन पड़ते

हैं और यज्ञ के रक्षण करने के लिये वह जाता है। (अंक ३)। चौथे अंक के आरम्भ में एक विष्कंभक है। उसमें शकुन्तला के सौभाग्य देवता की पूजा करने के लिये अनसूया और प्रियंवदा फूल चुनती हुई दीखती हैं। उनके भाषण से मालूम पड़ता है कि यज्ञ समाप्त होने पर ऋषियों की आज्ञा से राजा अपनी राजधानी को लौट गया है। वे इस तरह संभाषण कर रहीं थीं कि 'यहां कोई है ?' ऐसे आश्रम के पास गम्भीर शब्द उनको सुनाई पड़ते हैं। शकुंतला आश्रम में है तो भी उसका चित्त शून्य है इसलिये अतिथि का सत्कार करने के लिये वे जाने लगती हैं, इसी बीच में दुर्वासा का भयंकर शाप सुनती हैं 'जिसके विषय में तू एकाग्रता से विचार कर रही है और मेरे सदृश तपोधन का तुझे ध्यान नहीं है, वह तेरा प्रिय याद दिलाने पर भी तुझे नहीं पहचानेगा।' आगे जाकर देखती हैं तो अति क्रोधी दुर्वासा बैठे हैं। तब ऋषि को प्रसन्न करने के लिये प्रियंवदा आगे बढ़ कर प्रार्थना करती है। इस पर दुर्वासा कहते हैं 'मेरा शाप बदल तो नहीं सकता। परन्तु कोई याद दिलाने वाली वस्तु दिखाने पर शाप की निवृत्ति हो सकेगी।' प्रियंवदा को कुछ संतोष होता है। क्योंकि शकुन्तला के पास दुष्यन्त की अंगूठी थी। इस कारण शाप की बाधा नहीं होगी, शकुंतला स्वभाव से ही कोमल मन की है और इस शाप के वृत्तान्त से उसके मन को बड़ा भारी धक्का पहुँचेगा, ऐसा समझ कर वे उस विषय में उससे कुछ भी नहीं कहतीं। इसके बाद कुछ महीने बीत जाने पर मुख्य अंक का प्रसंग आता है। 'मेरी अंगूठी का एक एक अक्षर प्रतिदिन तू गिनती जा। सब अक्षर पूरे होने तक तुझ को ले जाने के लिये मैं सेवकों को भेजूँगा' राजा ने यह वचन शकुन्तला को दिया था। परन्तु कई महीने बीत गये तो भी आज तक उसने कोई समाचार

नहीं भेजा इसलिये क्या करना चाहिये इस चिन्ता में अनसूया पड़ी है, और प्रियवदा उससे आकर कहती है, "प्रवास से लौटे हुए कण्व बाबा को, अग्निगृह में जाते ही आकाशवाणी न 'शकुन्तला को दुष्यन्त से गर्भ रह गया है' ऐसी सूचना दी। तब 'हे वत्से सच्छिष्य को दी हुई विद्या के समान तेरे विषय में भी मुझे अब कोई चिन्ता नहीं रही' यह शकुन्तला से कहकर कण्व ने अपना आनद व्यक्त किया है। वे आज ही ऋषियों के साथ उसको श्वशुर के घर भेजने वाले हैं, इसलिये उसकी पठौनी की तैयारी करने चलो।" इसके बाद वे दोनों उस जगह जाती हैं जहाँ तापसियाँ शकुन्तला को आशीर्वाद दे रहीं थीं और बकुलमाला जैसे आश्रम में मिलनेवाले सादे अलकार उसे पहनाती हैं। उन्हें यह बात अखरती है कि उसके सौन्दर्य के अनुरूप ये वस्तुए नहीं हैं, इधर तपोवन की वनदेवी के दिये हुये रेशमी वस्त्र लाक्षाराग और अनेक प्रकार के भूषण दो ऋषिकुमार उनको लाकर देते हैं। और सखियां उन्हें पहना देती हैं। इतने ही में स्नान कर महर्षि कण्व वहाँ आते हैं। शकुन्तला आज ससुराल जाने वाली है, यह सोचकर ऋषि कहते हैं —

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदय सस्पृष्टमुत्कण्ठया
> कण्ठ स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजड दर्शनम्।
> वैक्लव्य मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकस
> पीड्यन्ते गृहिण कथ नु तनयाविश्लेषदु खैर्नवै ॥
>
> शाकु० ४, ६

'आज शकुन्तला जानेवाली है इस विचार से मेरा हृदय दुःख से भर गया है, कठ गद्गद् हो रहा है, चिन्ता से दृष्टि जड़ हो गई है, मैं अरण्यवासी होकर भी, कन्या के प्रेम से इतना व्याकुल हो जाता

हूँ, तो कन्या के विवाह में गृहस्थ लोगों की क्या दशा होती होगी ?' शकुन्तला ऋषि के पाँव पड़ती है उस समय ऋषि उसे आशीर्वाद देते हैं कि 'तू अपने भर्त्ता को अत्यन्त प्रिय हो और तेरे चक्रवर्ती पुत्र हो।' अग्नि की प्रदक्षिणा करने के बाद वे सब चलने लगते हैं। तब तपोवनतरुओं से कण्व ऋषि कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

शाकु० ४, ९

'जो तुम को पानी बिना पिलाये स्वयं पानी नहीं पीती थी, भूषणों की रुचि होने पर भी जो प्रेम के कारण तुम्हारे पल्लवों को तोड़ती नहीं थी, तुम्हारे पहले फूल निकलते हुये देखकर जिस को अत्यानंद होता था, वह शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है। आप सब उसे अनुज्ञा दीजिये।' उस समय तपोवनदेवता उसको आशीर्वाद देते हैं। वह जा रही है इसलिये सारा तपोवन दुःख से व्याकुल है। हरिणों के मुख से दर्भ-कवल गिर पड़ते हैं। मोर अपना नाचना बंद कर देते हैं। लताएं सूखे पत्तों के मिस आँसू ढाल रही हैं, ऐसा प्रतीत होता है। शकुन्तला अपनी वनज्योत्स्ना नामक लतारूपी भगिनी से भेंट करती है। 'गर्भिणी मृगी जब बच्चा जने तब हमें खबर देना' यह प्रार्थना वह कण्व ऋषि से करती है। अपने वस्त्र से लिपटने वाले और स्वहस्तसंवर्धित मातृहीन हिरण के बच्चे को समझाती है। इसके अनन्तर वे सब क्षीरवृक्ष के छाया में जाते हैं। तब कण्व ऋषि अपना यह संदेश देते हैं—

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मनः
त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥
शाकु० ४, १७

'हम संयमधन हैं, तुम्हारा कुल ऊँचा है और बान्धवों के प्रोत्साहन बिना ही इसने अपना हृदय तुम को स्वयं अर्पण किया है, इस बात का ध्यान रखकर अन्य स्त्रियों की तरह इसके साथ व्यवहार करना। इससे अधिक की बात इसके भाग्य पर अवलम्बित है जो वधू के बान्धवों का नहीं कहनी चाहिये।' इसके अनन्तर कण्व शकुन्तला को भी एक श्लोक में उपदेश देते हैं। वह श्लोक पहले प्रकरण में दिया गया है। 'कदाचित् तुम्हारे पति तुम्हें पहिचान न सके तो इस अंगूठी को दिखाना' यह उसकी सखी कहती है। यह सुनकर शकुन्तला के हृदय को धक्का लगता है। 'डरने का कोई कारण नहीं है, अत्यन्त स्नेह से अनिष्ट की शंका होती है' यह कहकर वे उसकी चिन्ता को दूर करती हैं। सूर्य ऊपर चढ़ गया है। इसलिये कण्व ऋषि को लौट चलने के लिये गौतमी सूचना देती है। शकुन्तला पितृवियोग से दुखी होकर पूछती है, 'बाबा, फिर कब मुझे तपोवन देखने को मिलेगा?' इस पर कण्व ऋषि कहते हैं—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ शाकु० ४, २०

'बहुत काल पर्यन्त समुद्रवलयवेष्टित पृथ्वी की सपत्नी बनकर,

जिसका कोई प्रतिस्पर्धी बालक नहीं ऐसे अपने लड़के को सिंहासन पर बैठा कर और उस पर कुटुम्ब का भार सौंप कर फिर तू अपने पति के साथ इस शान्त आश्रम में आवेगी।' तब शकुन्तला कहती है—'बाबा, तपश्चर्या से तुम्हारा शरीर कृश हो गया है, इसलिये मेरे लिये कष्ट मत उठाना।' शकुन्तला और गौतमी शिष्यों के साथ चली जाती हैं। तब कण्व ऋषि कहते हैं—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥

शाकु० ४, २२

'कन्या दूसरे का धन है। इसलिये उसको पति के पास पहुँचा कर मेरा मन ऐसा स्वस्थ हुआ है जैसे किसी की धरोहर उसके मालिक को लौटा दी हो।' (अंक ४)। कन्या को पति के घर पहुँचाने में कण्व का शोक, शकुन्तला को दिया हुआ बहुमूल्य उपदेश, उसके भावी ऐश्वर्य का रम्य चित्र और उसके जाने के बाद कण्व के चित्त की निश्चिन्तता, यह सब जिन श्लोकों में वर्णन किया गया है वे ऊपर उद्धृत किये हुये चार श्लोक संपूर्ण 'शाकुन्तल' नाटक में उत्कृष्ट गिने जाते हैं। पाँचवें अंक का स्थल दुष्यन्त का राजमहल है। राजा और विदूषक बातचीत करते हुये बैठे हैं। उस समय हंसपादिका नीचे लिखे हुये आशय का एक गीत गाती है। 'हे भ्रमर, तू नवीन नवीन मधु का लोभी है। आम्र-मंजरी का चुम्बन करके अब केवल कमलवास से संतुष्ट होने वाला तू उसे क्यों बिलकुल भूल गया है?' राजा सोचता है 'मैंने हंसपादिका से एक समय प्रेम किया था, इसलिये अब वसुमती रानी का उल्लेख करके वह ताना मार रही है।' 'यह ताना अच्छा है' ऐसा जताने के लिये राजा विदूषक को उसके पास भेजता है। उस गीत के अर्थ का

विचार करते हुये राजा के मन में एक तरह की चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु उसका कारण उसे मालूम नहीं होता। इसी तरह वह चिन्ता में बैठा था कि कचुकी कण्व ऋषि का सन्देश लेकर कुछ तपस्वियों के आने की खबर देता है। राजा उनका सत्कार करके अग्निगृह में ले जाकर ठहराने के लिये कहता है और वह स्वय उधर जाकर उनकी राह देखता है। ऋषियों के साथ आई हुई, घूँघट काढ़े शकुन्तला की रमणीय आकृति से राजा की दृष्टि आकृष्ट होती है। तथापि परस्त्री की तरफ़ देखना योग्य नहीं ऐसा कह कर वह मन का सयम करता है। राजा के नमस्कार करने के बाद शार्ङ्गरव उसे आशीर्वाद देता है और कण्व का सन्देश सुनाता है कि 'एकान्त में तुमने मेरी लड़की का पाणिग्रहण किया है, उस पर मैंने सम्मति दी है और उससे मुझे आनन्द भी हुआ है, क्योंकि तुम दोनों परस्पर योग्य हो। अब अपनी गर्भवती पत्नी को स्वीकार करो।' राजा का मन दुर्वासा के शाप से ग्रस्त हो गया था, इसलिये उसको शकुन्तला की याद बिल्कुल नहीं रहती। वह कहता है 'क्यों! इसका मैंने कब पाणिग्रहण किया है!' उस पर शार्ङ्गरव सक्रोध कहता है कि 'किये हुये कर्म का पश्चात्ताप होने से तू धर्म की अवहेलना करता है! बहुधा ऐश्वर्य से उन्मत्त हुये लोगों में इस तरह के विकार देख पड़ते हैं।' गौतमी भी उसको अपनी याद दिलाने के लिये शकुन्तला का अवगुठन दूर करती है। शकुन्तला का सौन्दर्य देखकर राजा चकित हो जाता है। तो भी अधर्म के डर से वह उसको स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होता। तब शार्ङ्गरव गुस्से में आकर बोलता है, 'जैसे किसी चोर को उसके चुराये हुये धन की बख्शीश देना है उसी तरह तेरे द्वारा विवाहित अपनी कन्या को मुनि तुझे अर्पण करते हैं। उनका तू इस तरह

अपकार न कर। तो भी राजा मञ्जूर नहीं करता। तब उसको पूर्ण विश्वास दिलाने के लिये अंगूठी दिखाना चाहिये यह सोचकर शकुन्तला अंगूठी देखने लगती है। परन्तु वह अंगुली में दिखाई नहीं देती। तब सहज ही गौतमी बोलती है, 'शक्रघाट पर शचीतीर्थ को नमस्कार करते हुये तेरी अंगुली से अंगूठी निकल कर गिर गई होगी।' इतना सुनकर राजा ताने के साथ कहता है 'यही स्त्रियों की हाज़िरजवाबी की आदत है। इसके अनन्तर आश्रम में बीती हुई बातें सुनने से राजा को विश्वास होगा, ऐसा विचार कर शकुन्तला पुरानी बातें याद दिलाती है। किन्तु राजा को यह सब स्त्री चरित्र प्रतीत होता है। तब गौतमी कहती है, "तपोवन में पाली गई इस शकुन्तला को, छल क्या चीज़ है यह बिल्कुल नहीं मालूम है।" राजा कहता है, 'हे तापसवृद्धे,—

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
 सन्दृश्यते किमुत या प्रतिबोधवत्य।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात—
 मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति॥ शाकु० ५, २२

'मनुष्य से इतर प्राणियों की स्त्रियों में भी नैसर्गिक धूर्तता दीखती है। फिर जिनको ज्ञान है ऐसी मानव स्त्रियों की बात ही क्या? आकाश में उड़ने के पहले कोकिला दूसरे पक्षियों से अपने बच्चे का पोषण करा लेती है।' राजा ने कोकिला का दृष्टान्त अपने पक्ष को पुष्ट करनेवाला समझ कर दिया था। परन्तु उसके श्लोक में, अन्तरिक्ष गमन, द्विज और परभृत ये शब्द द्व्यर्थक होने से परोपजीवी अप्सरा अपनी संतान दूसरे ब्राह्मणों के द्वारा पोषण करा लेती है, ऐसी भी ध्वनि उस में से निकलती थी। राजा इस प्रकार से मेरी माता की निंदा करता है यह जानकर शकुन्तला के क्रोध का

आवेग ज्यादा हो जाता है । वह खूब रोष में भर के कहती है— 'अनार्य ! तू अपनी तरह दूसरों को भी समझता है । तू तृण से आच्छादित कुए के समान धर्म का आवरण ले रहा है, तेरी बराबरी कौन करेगा ?' उसका अकृत्रिम कोप देखकर राजा के मन में सदेह उत्पन्न होता है, परन्तु विश्वास नहीं होता । इसके बाद 'यह तुम्हारी पत्नी है । इसको स्वीकार करो या छोड़ दो, हम तो चले' ऐसा कहकर वे तापसकुमार जाने लगते हैं । तब शकुन्तला भी उनके साथ जाने लगती है । उस समय शार्ङ्गरव उसस चिल्लाकर कहता है, 'हे धृष्ट लड़की ! मनचाहा बर्ताव करती है ।' शकुन्तला भय से काँप उठती है । उस समय राजा का पुरोहित एक युक्ति सुझाता है । वह कहता है 'महाराज, आपके पहले ही चक्रवर्त्ती पुत्र होगा ऐसा साधु पुरुषों ने आशीर्वाद दिया है । तब इसको प्रसूति पर्यंत हमारे यहाँ रहन दीजिये । इसका लड़का यदि चक्रवर्ती के चिह्न से युक्त हुआ तो आदरपूवक इसको स्वीकार करना नहीं तो इसे पिता के यहाँ भेज देना । राजा यह बात स्वीकार करता है । इसके बाद वे सब चले जाते हैं । थोड़े समय के बाद पुरोहित प्रवेश कर कहता है, 'महाराज, कण्वशिष्यों के चले जाने पर वह अपने दैव को दोष देती हुई रोने लगी । इतने में अप्सरतीर्थ के पास एक स्त्रीरूपी तेजस्वी मूर्ति आइ और उसको लेकर अदृश्य हो गई ।' 'पहले ही उसने उस वस्तु का त्याग कर दिया है । और उसके लिये व्यर्थ सोच क्यों करे ?' ऐसा जान राजा विश्रान्तिगृह में चला जाता है । (अक ५) । इसके बाद थोड़े ही दिनों की गुजरी हुइ बातें छठे अक में दिखलाई हैं । आरम्भ के प्रवेशक में नगर का अधिकारी राजा का साला और दो सिपाही एक धीवर को राजा की अँगूठी चुराने के आरोप में हाथ बाँधकर ले आते हैं । राजा क

साले ने पूछा—बता यह अँगूठी तुझे कहाँ मिली ?

धीवर—मैं शक्रघाट के पास रहनेवाला धीवर हूँ।

सिपाही—अरे चोर! मैंने क्या तेरी जाती पूछी है ?

राजा का साला—सूचक! इसको सब बातें क्रम से कहने दे। बीच में छेड़छाड़ मत करो।

दोनों सिपाही—जो आज्ञा।

धीवर—जाल बसी वगैरह डालकर मैं मछली पकड़ता हूँ और जीविका चलाता हूँ।

राजा का साला—बहुत अच्छा धधा है!

धीवर—महाराज! ऐसा मत कहिये। निंद्य को भी जाति का कर्म छोड़ना नहीं चाहिये। ब्राह्मण स्वभाव से दयार्द्र है तो भी यज्ञ-कर्म में पशुहिंसा करने के लिये निष्ठुर बन जाता है। इसके बाद "मैंने एक दिन पकड़े हुये लाल मत्स्य को चीरा तो भीतर यह अँगूठी मिली। उसे बेचने के लिये मैंने लोगों को दिखाया तो आपने मुझे पकड़ लिया।" इस पर नगर कोतवाल उस अँगूठी को लेकर राजा के पास जाता है। उसे देख राजा को शकुंतला की याद आने लगती है। इसलिये वह उस अँगूठी का मूल्य उस धीवर को देने के लिये आज्ञा देता है। एक घड़ी पहले उस धीवर को वध स्तम्भ के पास ले जाने की तैयारी करनेवाले सिपाही उसे बख्शीश मिली हुई देखकर उसके परम मित्र बन जाते हैं और अपनी मैत्री मद्य-पान से दृढ करने के लिये मद्यशाला की ओर जाते हैं। इसके बाद मेनका की सखी सानुमतीनामक अप्सरा राजा के राजमहल के प्रमदवन में प्रवेश करती है। यद्यपि वसत ऋतु का प्रारम्भ हो गया है तो भी उसे राजमहल में कहीं उत्सव के चिह्न नहीं दीखते। यह देखकर उसे आश्चर्य होता है। इतने में दो

उद्यानपालिकायें प्रवेश करती हैं और नई आई हुई आम की मजरी तोड़कर कामदेव को अर्पण करती है। त्योंही कचुकी प्रवेश करके आम्रमजरी तोडने पर गुस्सा करता है। 'हम लोग दूसरे गाँव से अभी आई हैं। इसीलिये मालूम नहीं कि महाराज ने वसतोत्सव की मनाई कर दी है। परन्तु उसका कारण क्या है?' ऐसा पूछने पर कचुकी उत्तर देता है कि अँगूठी देखते ही शकुन्तला से पहले विवाह करने की बात महाराज को याद आ गई है उन्होंने भूल से उसका त्याग किया था इस कारण उनको पश्चात्ताप हो रहा है। उस समय से लेकर कोई भी रम्यवस्तु उन्हें नहीं भाती और रातभर आँख भी नहीं लगती। मानसिक अस्वस्थता से उन्होंने वसतोत्सव बद कर दिया है।' इतना सुनकर वे अपने काम पर चली जाती हैं और राजा विदूषक के साथ प्रवेश कर प्रतीहारी को आज्ञा देता है कि मन्त्री से जाकर कहो कि पिछली रात बहुत जागने के कारण आज न्यायासन पर बैठकर काम देखने की मेरी इच्छा नहीं है। इसलिये पौर जनों का जो कुछ काम तुम ने देखा हो वह लिखकर भेज देना। उसके बाद वह विदूषक के साथ मनोरजन के लिये माधवी मडप में चला जाता है। दुष्यन्त कहता है कि अब मुझे शकुन्तला के विषय में सब बातें स्मरण हो गई हैं। जिस दिन वह आई थी उस दिन तू मेरे पास न था परन्तु पहले कभी भी तू ने उसके बारे में एक शब्द तक नहीं कहा, यह क्यों? मेरी तरह तू भी भूल गया क्या?' विदूषक बोला—"मुझे सब स्मरण था, परन्तु जब आप कह चुके थे कि यह सब हँसी ही है, इस में कुछ भी तथ्य नहीं। मैं भी मन्दबुद्धि था। आपका कहना मुझे सच्चा लगा। अथवा भवितव्यता चूकती नहीं, यह बात सच है।" राजा सोचता है शायद शकुन्तला को उसकी माता

मेनका की सखी उड़ा ले गइ होगी। हाँ अँगूठी को शकुन्तला की अगुली में रहने का सौभाग्य हुआ था, तो भी वह गिर गई। इस से उसकी भी आई पुरी हो गई होगी। इतने में शकुन्तला का चित्र लेकर एक दासी आती है। राजा के चित्रकला नैपुण्य को देखकर पास ही अदृश्य रूप मे खडी हुई सानुमती आश्चर्य चकित हो जाती है। राजा न उस चित्र में तीन स्त्रियों के रूप खींचे थ। 'उन में से शकुन्तला कौन है?' यह पूछते ही विदूषक उत्तर देता है, '*मुझे मालूम पड़ता है थोड़ी थकी हुई यह शकुतला* है। जलसिंचन के कारण जिसके कोमल पल्लव लहलहाते दीखते हैं, ऐसे आम्र-वृक्ष के पास स्थित, वणी की गाँठ छूट जाने से जिस के बालों से फूल गिर गये हैं, जिस के मुख पर पसीने की बूँदें दीखती हैं, जिस की भुजा विशेष कर शिथिल मालूम पड़ती हैं, और दूसरी उसकी सखियाँ।' उस चित्र में शकुन्तला के मुख के सामने चक्कर लगाता हुआ भ्रमर उसे डरा रहा था ऐसा दिखाया गया था। वह सच्चा ही भ्रमर है ऐसा जानकर राजा उससे बात चीत करने लगता है। विदूषक कहता है, 'महाराज ! यह चित्र है।' तब सानुमती सोचती है क्या सचमुच यह चित्र है ? फिर चित्रित किये हुये प्रसग को जिसने स्वय अनुभव किया हो उसकी दशा का क्या वर्णन करना ? इतने में दासी प्रवेश करके कहती है, 'मैं रंग की पेटी ला रही थी त्योंही रास्ते में वसुमती रानी ने मुझे देखकर मेरे हाथ से पेटी छीन ली और 'मैं स्वय इस को ले जाऊँगी।' यह कहा। वे इधर आ रही हैं। यह सुनते ही राजा विदूषक को चित्र देकर उसको मेघप्रतिच्छन्द महल में भेजता है। इतने में प्रतीहारी अमात्य के पास से कागज पत्र लेकर आती है जिस में लिखा है कि जलमार्ग से व्यापार करने वाला धनमित्र नाम का

व्यापारी जहाज टूट जाने से डूब कर मर गया। वह पुत्रहीन था, इसलिये उसकी सब संपत्ति सरकार में जमा होनी चाहिये। इस पर राजा आज्ञा देता है कि देखो उसकी कोइ स्त्री गर्भवती तो नहीं है ?' और प्रतीहारी से यह जानकर कि उसकी एक स्त्री गर्भवती है, राजा आज्ञा देता है कि गर्भ के बालक को उसके पिता की सब संपत्ति दी जावे। इसके अतिरिक्त राजा आज्ञा देता है यदि 'प्रजा में किसी का कोई भी सबंधी मरा तो पापकर्म को छोड़कर उस की जगह और दूसरे विषयों में दुष्यन्त को सबंधी मानना चाहिये' ऐसा ढिंढोरा पीटने की आज्ञा देता है। "मैं स्वयं निपूता हूँ और मेरी मृत्यु के अनन्तर पितरों को पिंड मिलेगा या नहीं।" इस बात से उसे अत्यंत शोक होता है। इतने में मेघच्छद प्रासाद की छत पर से विदूषक का स्वर सुनाई देता है। किसी राक्षस ने उसको पकड़ा होगा ऐसा समझ कर राजा बाण मारने वाला ही था कि इन्द्र का सारथि मातलि आकर प्रार्थना करता है कि 'महाराज! मुझे इन्द्र ने असुर युद्ध में सहायता माँगने के लिये आपके पास भेजा है। मैं इधर आया तब आपको शोक मग्न देखा। इसलिये आपका क्रोध उकसाने के लिये, मैंने विदूषक को पीटा है। इसके अनन्तर अमात्य को राज्य का भार सौंपकर राजा मातलि के साथ स्वर्ग को चला जाता है। (अंक ६)। सातवें अंक के आरंभ में रथ में बैठे हुये राजा और मातलि स्वर्ग से नीचे उतर रहे हैं, ऐसा दृश्य दिखाया गया है। राजा कहता है "स्वर्ग से लौटने के लिये मुझ को अनुमति देते समय मेरा इन्द्र ने अत्यन्त सम्मान किया।" मातलि ने कहा पहले नरसिंह के नखों से और इस समय आपके बाणों से सुखोपभोग में मस्त रहनेवाले इन्द्र के सब शत्रु नष्ट हो गए हैं। अतः आप इन्द्र के किस सन्मान के पात्र नहीं हैं ?'

मातलि के द्वारा हेमकूट पर्वत पर सुर असुरों के पिता मारीच ऋषि के पास आ गया हूँ, यह जान कर उनको नमस्कार करने के लिये राजा वहाँ उतरता है। फिर राजा के आने का समाचार सुनाने के लिये मातलि ऋषि के पास जाता है और राजा वहीं वृक्ष के नीचे बैठ जाता है। वहाँ उसे दक्षिण बाहु फड़कने का शुभ शकुन होता है। इतने में अपनी माँ के दूध पीनेवाले सिंह के बच्चे को खेलने के लिये ज़बरदस्ती खींचनेवाला एक बालक और उसे रोकनेवाली दो तापसियाँ उसके सामने आती हैं। उनके भाषण से राजा को ज्ञात होता है कि ऋषि ने उसका सर्वदमन अन्वर्थ नाम रक्खा है। बालक को देखते ही राजा के मन में पुत्र स्नेह उत्पन्न होता है। वह सिंह के बच्चे को छोड़ दे इसलिये तापसी उसको दूसरा खिलौना देना चाहती है। "लाओ, कहाँ है वह ?" ऐसा कहकर वह हाथ फैलाता है। तब उसकी हथेली पर चक्रवर्ती के चिह्न राजा को दीखते हैं। विशेषत उसका चचल स्वभाव देखकर राजा की इच्छा होती है उसे गोद में ले लें। वह कहता है—

आलक्ष्य दन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवच प्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनया वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥

शाकु० ७, १७

"बिना कारण हँसते हुए जिन के कली की तरह दाँत थोड़े थोड़े देख पड़ते हैं, जिन की तोतली बोली चित्ताकर्षक लगती है, पिता की गोद में बैठने के लिये जो अत्यन्त उत्सुक हैं, ऐसे धूल से भरे हुये अपने बालकों को लेकर जिनके अग मलिन हो जाते हैं वे धन्य हैं।" सर्वदमन किसी की नहीं सुनता यह देख तापसी दुष्यन्त

की मदद माँगती है । राजा के बुलाने पर सर्वदमन उसके पास जाता है । उन दोनों के चेहरे की विलक्षण समता देखकर तापसी को आश्चर्य होता है । उसके द्वारा राजा को मालूम होता है कि यह बालक पुरुवंश में उत्पन्न हुआ है और उसकी माता का अप्सरा से सम्बंध होने के कारण इस आश्रम में यह बच्चा हुआ था। इतने में दूसरी तापसी जो रँगा हुआ मिट्टी का मोर लाने के लिये गई थी, लौट कर आती है और कहती है—'सर्वदमन, इस शकुन्तलावण्य को देखो ।' सर्वदमन अक्षर की सदृशता से, शकुंतला को देख ऐसा अर्थ समझता है । तब वह कहता है, 'कहाँ है मेरी माँ ?' राजा को मालूम पड़ता है कि उसकी माता का नाम भी शकुंतला है । तो भी एक ही नाम बहुतों के होते हैं, और दूसरी तरह की सदृशता हुई भी तो कदाचित् अंत में यह सब मृगजल के समान मिथ्या न निकले, ऐसी राजा को शंका होती है । इतने में 'उसके पहुँचने पर रक्षा की तावीज कहीं नहीं दीखती ।' यह तापसी कहती है । 'वह सिंह के साथ धींगा मस्ती कर रहा था उस समय उसका तावीज गिर गया होगा देखो' यह कहकर तापसी के रोकने पर भी दुष्यन्त उसे उठा लेता है । दुष्यन्त ने जब निषेध का कारण पूछा, तब वह बोली कि 'भगवान् मारीच ऋषि ने इस बालक के जातकर्म के समय अपराजिता नामक औषधि रखकर इस तावीज को इसकी कलाई पर बाँधा था । "इसके माता पिता या स्वयं मुझ को छोड़कर दूसरा कोई भी व्यक्ति जमीन पर गिरे हुए तावीज को हाथ न लगाये । नहीं तो वह सर्प होकर उसको डस लेगी ।" यह उन्होंने कहा था । इसका परिचय हम लोगों को कई बार हुआ है ।' इस प्रसंग से तो दुष्यन्त का संशय पूरी तौर से दूर हो जाता है । इस घटना को शकुन्तला से कहने के लिये तापसी

दौड जाती है। उसके साथ साथ बालक भी जाने लगता है। तब दुष्यन्त कहता है, 'बेटा, ठहरो। हमारे साथ माता के पास चलना।' उस पर 'दुष्यन्त मेरे पिता हैं, तुम नहीं हो' यह सर्वदमन का उत्तर सुनकर राजा का निश्वास अधिक दृढ हो जाता है। इतने में मलिन वस्त्र पहने हुए, एक ही वेणी धारण किये शकुन्तला प्रवेश करती है। पश्चात्ताप से पीले पड़ गये राजा को वह एकदम नहीं पहिचान पाती। परन्तु शीघ्र ही उसको विश्वास होता है और वह राजा को प्रणाम करती है। फिर सर्वदमन ने पूछा 'यह कौन है ?' तब 'पुत्र अपने दैव से पूछो' यह कहती हुई रोने लगती है। 'हे प्रिये, मैंने तुम्हारा त्याग किया है ऐसा तुम को बिल्कुल मन में नहीं लाना चाहिये। क्योंकि उस समय मेरे मन को न मालूम क्या हो गया था।' यह कहकर राजा उसके पाँव पड़ता है। शकुन्तला उसको उठाती है और वे सब मारीच मुनि के दर्शन के लिये जाते हैं। मारीच ऋषि और उनकी पत्नी अदिति उन दोनों को आशीर्वाद देते हैं। मारीच ऋषि से दुर्वासा के शाप का वृत्तान्त सुनकर दुष्यन्त को 'मैं दोषमुक्त हो गया' यह जानकर आनन्द होता है। शकुन्तला को भी मुझे पति ने बिना कारण नहीं छोड़ा था, यह जानने पर सतोष होता है। इसके अनन्तर राजा के कहने से, मारीच ऋषि कण्व मुनि को यह सब वृत्तान्त सुनाने के लिये एक ऋषिकुमार को भेजते हैं और दुष्यन्त को पत्नी और पुत्रसहित राजधानी जाने की आज्ञा देते हैं। इसके बाद भरतवाक्य से नाटक समाप्त होता है।

कालिदास ने इस नाटक का कथानक कहाँ से लिया, इस विषय में सौभाग्य से वादविवाद के लिये अवकाश नहीं। अनन्त कथारत्नों के सागर प्राचीन महाभारत के आदिपर्व में करीब ३०० श्लोकों में, शकुन्तला की कहानी आ गई है। उसकी

'शाकुन्तल' से तुलना करने पर कालिदास का अनुपम रचनाकौशल और कलाभिज्ञत्व ध्यान में आजायगा। इसलिये महाभारत की कहानी सक्षेप से यहाँ दी जाती है*।

एक दिन पुरुकुलोत्पन्न दुष्यन्त राजा अपने साथ बड़ी सेना, अमात्य और पुरोहित इत्यादि को लेकर शिकार को गये। बहुत देर तक शिकार करने के बाद एक पास के आश्रम में पहुँचे। तपोवन के बाहर सेना छोड़कर और राज चिह्न शरीर से उतार उसने पुरोहित और अमात्य के साथ आश्रम में प्रवेश किया। थोड़ा आगे जाने पर अमात्यादिकों को एक जगह छोड़ वह अकेला कण्व की पर्णकुटी की तरफ गया। उस समय कण्व ऋषि फल लाने के लिये बाहर गये हुये थे। तथापि उनकी सुदर कन्या शकुन्तला पर्णकुटी में थी। उसने उनका स्वागत किया। उसको देखते ही राजा के मन में कामविकार उत्पन्न हुआ। पूछने पर शकुतला ने अपना जन्म-वृत्तान्त विस्तार से कह सुनाया। उस समय नाना प्रकार के वस्त्रालकारों का लालच देकर उसने शकुन्तला से अपनी पत्नी होने की विनती की। शकुन्तला ने उत्तर दिया मेरे बाबा फल लाने के लिये बाहर गये हैं। वे एक घड़ी भर में आवेंगे और फिर वे मुझे आपको अर्पण कर देंगे। परन्तु राजा ने 'गाधर्व विवाह क्षत्रिय के लिये विहित है। तू अपना दान स्वत करने के लिये समर्थ है।' ऐसा कहकर उसका मन अपनी ओर आकृष्ट किया। परन्तु अपनी सम्मति देने के पहले "मेरे लड़के को तुम्हारे पीछे गद्दी मिलनी

---

* इस कथासारांश में भाण्डारकर ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित महाभारत (आदिपर्व) के नवीन संस्करण का उपयोग किया गया है।

चाहिये" ऐसी शकुन्तला ने शर्त की और उसे राजा ने मान लिया। उसके अनन्तर राजा ने उससे गांधर्व विवाह किया और कुछ देर तक उसके साथ रहा। शकुन्तला को अपनी राजधानी में ले जाने के लिये बड़ी भारी सेना भेजने का वचन देकर कण्व ऋषि के शाप के डर से वह वहां से चल दिया। ऋषि के लौटने पर शकुन्तला लज्जा से उनके सामने नहीं आई। तब उन्होंने अंतर्ज्ञान से सब हाल जानकर उसका अभिनंदन किया और उसको माँगा हुआ वर दिया। इधर वचन के अनुसार दुष्यन्त ने न तो सेना भेजी न उसके विषय में कोई पूछ ताछ ही की। कालान्तर में शकुन्तला को आश्रम में बच्चा हुआ। इस लड़के के जातकर्मादि संस्कार कण्व ने किये। वह छः वर्ष का भी नहीं हुआ था कि वह व्याघ्र, सिंहादि क्रूर पशुओं को पकड़ कर ले आता और उनसे खेलता था। इसलिये आश्रम के सब लोगों ने उसका नाम 'सर्वदमन' रक्खा। बल और पराक्रम युक्त होने से वह युवराज होने योग्य हुआ ऐसा देखकर कण्व ने शकुन्तला और सर्वदमन को हस्तिनापुर भेजने के लिये शिष्यों को आज्ञा दी। राजदरबार में पहुँचने के अनन्तर शकुन्तला ने पिछले प्रसंग की राजा को याद दिलाई और पुत्र को स्वीकार करने के लिये बिनती की। राजा ने उत्तर दिया तुम्हारे साथ विवाह की मुझे याद नहीं है। तुम्हारी इच्छा हो तो रहो अथवा चली जाओ।" तब शकुन्तला को अत्यन्त संताप हुआ और वह बोली 'राजा, किसी क्षुद्र मनुष्य की तरह तू क्यों झूठ बोलता है? मैं जो बात कहती हूँ वह सच्ची या झूठ यह तुम्हारे मन को मालूम है। पाप करते समय हमें कोई नहीं देखता है, ऐसा पापी मनुष्य जानता है, परंतु ईश्वर और पाप करनेवाले की अन्तरात्मा यह सब देखते रहते हैं। भार्या को पुरुष की अर्धांगिनी कहते हैं।

उसमें पुत्ररूप से उसके पति का फिर जन्म होता है । पुत्र की अपेक्षा अधिक आनन्द देनेवाली ऐसी कौनसी वस्तु जगत् में है ?' इत्यादि कहकर उसका मन अपनी तरफ खींचने के लिये उसने यत्न करके देखा। परन्तु राजा ने एक न सुनी । 'तूने इसको स्वीकार नहीं किया तो भी मेरा लड़का अखिल पृथ्वी को पादाक्रान्त करेगा।' ऐसा कहकर वह पुत्र के साथ जाने लगी । उसी समय आकाशवाणी हुई, 'दुष्यन्त ! यह तेरा ही लड़का है । इसको स्वीकार कर।' तब राजा आनन्दित होकर पुरोहित, अमात्य आदि से बोला, 'सुनो यह देवदूत की वाणी । यदि मैंने इस लड़के को पहले से स्वीकार कर लिया होता तो यह जन्म से शुद्ध है या नहीं इसका तुमको संशय रहता।' इसके अनन्तर वह शकुन्तला से बोला, 'अगर मैंने ऐसा न किया होता तो 'कामुकता से मैंने तुमको स्वीकार किया है।' यह लोग कहने लगते । क्रोध से तूने जो अपशब्द मुझ से कहे उसके लिये मैं तुझे क्षमा करता हूँ।' अनन्तर उसने शकुन्तला को अपनी पटरानी बनाया और भरत को युवराज पद दिया।

'महाभारत' की ऊपर लिखी हुई सादी और वैचित्र्य-रहित कहानी बाँचने पर उस में से संसार के एक अत्यन्त उत्कृष्ट नाटक की उत्पत्ति हुई ऐसा यदि किसी से कहा जाय तो उसको सत्य नहीं प्रतीत होगा। खान में से निकला हुआ टेढ़ा मेढ़ा पत्थर देखते ही इस में से एक अत्यन्त रम्य मूर्ति का निर्माण हो सकता है ऐसी कल्पना कर सकना कठिन है । परन्तु सामान्य लोगों के चर्मचक्षु को जो नहीं दीखता वह कलाभिज्ञ के प्रतिभारूपी दिव्य दृष्टि के सामने प्रकट हो जाता है। व्यास की सादी साधन-सामग्री में अपनी प्रतिभा से बनाया हुआ वैचित्र्य पूर्ण प्रसंग रखने से उसमें उत्कृष्ट

रस परिपाक हो सकता है यह कालिदास को मालूम पड़ा होगा*। दूसरी बात यह है कि महाभारत के कथानक की घटना बहुत प्राचीन काल में हुई थी। समाज की उस प्राथमिक अवस्था में प्रसग और विचार असभाव्य और अनुचित नहीं लगे तो भी शायद कालिदास के समय के सुसस्कृत समाज को वे न भाते। इसके सिवा व्यास की पुराण कथा में नायक दुष्यन्त और नायिका शकुन्तला ये केवल स्वार्थ से प्रेरित दीखते हैं। नाटक में उनके चित्र रम्य और आकर्षक बनाने के लिये उनके स्वभाव में तरह तरह की छटा के रगों का उचित प्रमाण में मिलाना जरूरी था। इस कारण कालिदास ने मूल कहानी में, बहुत परिवर्तन किये हैं। यह स्पष्ट है कि 'शकुन्तलोपाख्यान' और 'शाकुन्तल' इनके कथानक की तुलना की जाय तो दुर्वासा ऋषि का शाप और उसकी निवृत्ति होने के लिये आवश्यक मुद्रिका ये दोनो महत्त्व की बातें कवि ने स्वय प्रसूत की हैं। इन में से पहली का उपयोग दो प्रकार से किया है। 'महाभारत' का दुष्यन्त, विषयासक्त, डरपोक और स्वार्थी दीखता है। कण्व का घटे दो घटे में लौट आना सभव था। उसकी राह न देखकर उसके परोक्ष में वह उसकी कन्या का उपभोग करता है। विषयोपभोग की तात्कालिक लहर शात होने पर मुझ पर ऋषि क्रोध करेंगे इस डर से वह शीघ्र ही वहाँ से भाग जाता है। बाद में शकुन्तला को दिये हुये वचन को मानता ही नहीं। इतना ही नहीं, वह स्वय अपने पुत्र के साथ राजसभा में उपस्थित हुइ तो भी लोकापवाद के भय से अपने कर्तव्य को भूल जाता है। आकाशवाणी यदि न हुई होती तो अपनी निरपराध पत्नी और पुत्र

---

* आनन्दवर्धनाचार्य ने भी 'ध्वन्यालोक' (पृ० १४८) में यही बात कही है।

प्रेम की परीक्षा लेने के लिये उसने दुर्वासा के शाप का कुशलता से उपयोग किया है। उसके दूसरे नाटकों में भी किसी न किसी दैवी घटना के कारण नायक नायिका पर सकट का प्रसग आया हुआ प्रतीत होता है। ऐसा प्रसग किसी ऋषि के शाप से आये यह स्वाभाविक ही है। शकुन्तला सदृश प्रेमल और पतिचिन्तामग्न नायिका को शाप देने के लिये दुर्वासा के सदृश निष्ठुर और सुलभ क्रोधी दूसरा कौन मिल सकता था? शाप के बाद शापविमोचन होना ही चाहिये। शाप से राजा को शकुन्तला की विस्मृति हो गई थी इसलिये शाप विमोचन के लिये किसी साधन से उसकी पहिचान कराना आवश्यक था। ऐसे समय मुद्रिका सदृश पूर्व परिचित साधन का कवि को सूझना स्वाभाविक ही है। सीता को अपनी पहचान कराने के लिये हनुमान ने रामचन्द्र जी की मुद्रिका अपने साथ ली थी यह कवि को मालूम ही था। किं बहुना 'मेघदूत' रचने के समय वह प्रसग उसके मस्तिष्क में घूमता ही रहा होगा। तब दुष्यन्त को भी मुद्रिका दर्शन से शकुन्तला की याद दिलाने की कल्पना कवि को सूझे तो कोई आश्चर्य नहीं। बौद्धों की पाली भाषा में लिखे हुये जातक ग्रथ में गौतम बुद्ध की पूर्व जन्म की कथाओं का वर्णन आया है। उस में 'कट्ठहारि' जातक में 'शाकुन्तल' के सविधानक सदृश एक कथा मिलती है। "वाराणसी नगर में ब्रह्मदत्त राजा जगल में एक सुन्दर स्त्री को देखता है। उससे कुछ समय तक रमण करके अपनी नगरी को लौट जाता है। परन्तु जाते समय उसकी अँगुली में निशानी के लिये एक मुद्रिका पहिना देता है। इसी बीच जगल में उस स्त्री के प्रसव होता है और वह बालक बोधिसत्त्व कहलाता है। उसके बड़े होने पर उसे लेकर वह स्त्री राजा के पास जाती है और पहिचान की निशानी अँगूठी दिखलाती है। राजा

जान बूझकर, हम उसे पहचानते ही नहीं ऐसा दिखाता है। तब सत्यक्रिया के सिवाय दूसरा उपाय नहीं ऐसा जानकर वह अपने लड़के का पाव पकड़ कर उसको आकाश में फेंक देती है और राजा से कहती है 'राजा यदि वह तुम्हारा ही लड़का होगा तो आकाश में भी सुरक्षित रहेगा नहीं तो जमीन पर गिरकर उसके शरीर के टुकड़े टुकड़े हो जावेंगे।' बोधिसत्त्व आकाश में ही पालथी मारकर रह जाता है यह देखकर किसी को भी उसके जन्म के बारे में सशय नहीं रहता। तब राजा भी उसको स्वीकार कर उसे यौवराज्य पद देता है।" ऊपर कही कहानी सुनकर कालिदास को मुद्रिका की कल्पना आई होगी ऐसा कई योरोपियन विद्वानों का मत है। परन्तु उसको हम नहीं मानते। ऊपर कहे हुये जातक में और 'महाभारत' की शकुन्तला की कथा में बहुत कुछ सत्य है। बौद्ध लोगों ने वह कथा हिन्दू ग्रन्थों से ली और थोड़ासा भेद करके गौतम बुद्ध के पूर्वजन्म से उसका सबध जोड़ दिया ऐसा प्रतीत होता है। जातक ग्रथ की अनेक कथाओं में ऐसा ही किया गया है यह स्पष्ट है। कालिदास के नाटक में दुर्वासा का शाप और मुद्रिका का घनिष्ठ सबध है। परन्तु ऊपर की कहानी में शाप का उल्लेख नहीं है। 'शाकुन्तल' में मुद्रिकाप्रकरण की कल्पना कालिदास को स्वाभाविक रूप से कैसे सूझी यह हम ऊपर दिखला आये हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में भी कवि ने मुद्रिका का उपयोग पहिचान के लिये किया था यह बात ध्यान देने योग्य है।

मुद्रिका दर्शन से ही राजा की स्मृति जाग्रत हो उठती इसलिये राजा के पास शकुन्तला के जाने के पहिले ही अँगूठी का गिरना और आगे शकुन्तला का त्याग करने के बाद अँगूठी देखकर राजा की स्मृति जाग्रत होना—ये दोनों घटनायें बड़ी स्वाभाविक रीति से

आई हैं। यह कैसे हुआ यह दिखाने के लिये कालिदास ने धीवर और सिपाही का सीन नाटक में डाला है। उसमें उसका अलौकिक कल्पनाकौशल उत्कृष्ट रीति से दीख पड़ा है। क्राइस्ट के पूर्व ५वीं शताब्दी के हिरोडोटस नामक ग्रीक इतिहासकार के ग्रन्थ में ऐसे ही एक प्रसंग का वर्णन आया है। उससे यह कल्पना कालिदास को सूझी होगी ऐसा एक विद्वान् ने प्रतिपादन किया है*। 'पालिक्रेटस् नाम के ग्रीक राजा ने एक दिन अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिये अत्यन्त मूल्यवान् रत्न के खड से जड़ी हुई अपनी मुद्रिका समुद्र में डाल दी। फिर पाँच छ दिन में एक धीवर से लाई हुई मछली के पेट में वह उसको मिली।' ऊपर कहे हुये विद्वान् के मतानुसार यह बात कालिदास को विदित होनी चाहिये। 'क्योंकि ई० स० के प्रथम शताब्दी में भड़ोच बंदरगाह द्वारा मालवा और काठियावाड़ प्रान्तों का पश्चिम देश से व्यापार चलता था। इन देशों से हिन्दुस्थान के राजाओं के उपभोग के लिये अनेक सुन्दर ग्रीक तरुणियाँ भी लाई जाती थीं। कालिदास ने अपने प्रान्त के राजदरबार में इन यवनियों को देखा होगा। इसी कारण से उसने 'शाकुन्तल' नाटक में दुष्यन्त राजा के साथ शिकार के समय यवनी थीं, ऐसा दिखाया है। उन यवनियों के मुख से यह ग्रीक कहानी कवि को मालूम हुई होगी।' इस मत में बहुत सी बातें अप्रमाण ही मान ली गई हैं। हिरोडोटस् की वर्णन की गई कहानी उसके बाद लगभग आठ नौ सौ वर्ष तक ग्रीक लोगों की स्त्रियों को मालूम थी, उन स्त्रियों का और कालिदास का संबंध हुआ, उनकी बातचीत में वह कहानी आई और उस से कवि को

* J B O R S Vol VII P 97

'शाकुंतल' का प्रसग सूझा ऐसा मानना पड़ता है । इस में बहुत दूर का सनध जाड़ा गया मालूम होता है । कालिदास ने कहीं भी दूसरी जगह ग्रीक कहानियों का उपयोग किया है, ऐसा नहीं मालूम पड़ता । तन इस कल्पना का श्रय कवि ही को देना योग्य होगा। ग्रीक और भारतीय तत्त्वज्ञान में बहुत जगह आश्चर्यजनक साम्य दीखता है । ऊपर का प्रसग भी इसी तरह है और उसकी उत्पत्ति मानवीय स्वभाव स, जो सवत्र एक समान होता है, लगानी चाहिये।

दुर्वासा का शाप और मुद्रिका ये दोनों महत्त्व की बातें कवि को कैसी सूझीं, यह हम ने ऊपर देखा है । मूलकथा में उसके किये हुये परिवर्तनों का कारण समझना आसान है । दुष्यत आश्रम में गया। उस समय कण्व ऋषि पुष्प, फल आदि लेने के लिये जगल में गये थे। उसके आने के पहले, राजा शकुन्तला के जन्म सबध की कहानी सुनता है। स्वय लबा चौड़ा भाषण कर उसका मन आकर्षित करता है । उस से रमण करता है और चला जाता है, ऐसा 'महाभारत' में वर्णन किया है । एक दो घटों में इन सब बातों का होना असभवनीय और कला की दृष्टि से समर्थन करने लायक नहीं ठहरता। इसके सिवा उस से राजा का उल्लूपन और शकुन्तला का स्वार्थी स्वभाव व्यक्त होता है । कलाविलास और औचित्य की दृष्टि से इस जगह परिवर्तन करना आवश्यक था। इसलिये कालिदास ने कण्व ऋषि को शकुन्तला के प्रतिकूल भाग्य की शाति करने के लिये दूर सोमतीर्थ में भेजा है। उधर से लौट आने में उसको सहज ही चार छ मास लगे होंगे । इस अवधि में यज्ञ-रक्षण के लिये आश्रमवासियों की विनती के कारण दुष्यन्त आश्रम में रहा। उसका और शकुन्तला का मदन-सताप उत्तरोत्तर बढ़ता गया और वह अत्यन्त असह्य हो गया। उस समय उस ने

गांधव विवाह किया, ऐसा कवि ने दिखाया है। इस में अस्वाभा विकता कुछ भी नहीं दीखती। शकुन्तला का योग्य पति से गान्धर्व विवाह हुआ और वह गर्भवती हुई यह समझते ही कण्व ने उसको पतिगृह भेजने का निश्चय किया, इस में कालिदास-कालीन लोगों के स्त्री विषयक विचारों का प्रतिबिंब पड़ा हुआ दीखता है। उस समय स्त्रियों की शालीनता विषयक कल्पना भी 'महाभारत' के काल से बिलकुल निराली थी। इसलिये कालिदास ने अपने नाटक में शकुन्तला के जन्म का हाल उसके मुख से न कहलवा कर सखी के द्वारा राजा को सूचित किया है। 'महाभारत' में शकुन्तला, मेरे पुत्र को गद्दी मिलनी चाहिये, यह प्रतिज्ञा राजा से कराना चाहती है और राजा के स्वीकार कर लेने पर आत्मसमर्पण करती है। इसमें उसकी व्यावहारिकता दीख पड़ती है लेकिन उसी के साथ उसके हृदय में सकृद्दर्शन से उत्पन्न होनेवाले प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, यह भी सिद्ध होता है। कालिदास की शकुन्तला प्रेम परवश हुई थी। उसको ऐसी शर्त कैसे सूझेगी ? उसकी सखियाँ स्वभाव से ही ज्यादा समझदार थीं। तथापि उन्होंने 'राजा के अनेक स्त्रियाँ होती ही हैं इसलिये यह हमारी प्रिय सखी बान्धवों के दुःख का कारण न हो, ऐसा आप उसके साथ व्यवहार करें' इतना ही सुझाया है। ऐसे प्रसंग पर सब बातें नायिका के द्वारा कहलाना उचित नहीं होगा, यह जानकर कवि ने प्रियंवदा और अनसूया—शकुन्तला की प्यारी सखियों की जोड़ी निर्माण की है। इस के सिवा शारद्वत और शार्ङ्गरव ये कण्व के शिष्य, गौतमी, शकुन्तला का पालन करने वाली वृद्ध तापसी, राज पुरोहित, माधव्य नाम का विदूषक, वैखानस, सेनापति इत्यादि कथानक के विकास करने के लिये आवश्यक अनेक पात्र कवि की कल्पना की उपज हैं। इन में से

कई पात्र शारद्वत, शार्ङ्गरव, पुरोहित, प्रियंवदा और गौतमी ये 'पद्मपुराण' के 'शकुन्तलोपाख्यान' में भी मिलते हैं। इसके सिवा पद्मपुराण की कथा 'शाकुन्तल' नाटक के संविधानक से बहुत अंश में मिलती है। इसलिये कालिदास ने 'पद्मपुराण' से अपने नाटक का कथावस्तु और अनेक पात्र भी लिये होंगे ऐसा डा० विन्टरनिट्ज़ सदृश संशोधक कहते हैं। उनके मतों का यहां थोड़े में विचार करना आवश्यक है।

'पद्मपुराण' और 'रघुवंश' में दिलीप से लेकर दशरथ पर्यन्त राजाओं के वर्णन में कई स्थानों पर आश्चर्यजनक शब्दसाम्य और कल्पनासाम्य मिलता है, इसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। उसी तरह इस जगह भी साम्य है। दुष्यन्त का मृग को मारने चलना, वैखानस से उसका निवारण, आश्रम में प्रवेश करने पर शकुन्तला और सखियों को वृक्षों का पानी देते हुये देखना, उसके पूछने पर सखी द्वारा शकुन्तला के जन्मवृत्तान्त का वर्णन, दुष्यन्त के चले जाने के बाद दुर्वासा का शाप, हस्तिनापुर के रास्ते में एक तीर्थ में मुद्रिका का पतन और अदृश्य होना, दुष्यन्त का स्मृतिभ्रंश, शकुन्तला का निराकरण, धीवर के द्वारा मुद्रिका की प्राप्ति और उसके अनन्तर राजा का पश्चात्ताप और शोक, अन्त में स्वर्ग से लौटते हुये मारीच के आश्रम में शकुन्तला और सर्वदमन से भेंट इत्यादि प्रसंग 'शाकुन्तल' नाटक और 'पद्मपुराण' दोनों में समान हैं और इन प्रसंगों का वर्णन भी बहुत अंश तक समान शब्दों में किया गया है। कई जगह महत्त्व के भेद भी मिलते हैं। महाभारत के समान पद्मपुराण में भी कण्व ऋषि दूसरे स्थान में नहीं, किन्तु फल और पुष्प लाने के लिये वन में गये थे और उनके लौट आने के पहले दुष्यन्त नगर को लौट गया था ऐसा वर्णन किया है।

हस्तिनापुर जाने के समय शारद्वत, शार्ङ्गरव और गौतमी के साथ प्रियंवदा भी शकुन्तला के साथ थी। तीर्थ में स्नान करते हुये शकुन्तला ने उसे अँगूठी दी। अँगूठी को वह वस्त्र में रखती ही थी कि वह लुढकती हुई पानी में जा गिरी। उस समय प्रियंवदा ने शकुन्तला को वह वृत्तान्त नहीं बताया और शकुन्तला को भी उसकी याद नहीं रही। परन्तु राजा के सामने मुद्रिका की जरूरत पड़ी, तब उसने प्रियंवदा से माँगी, ऐसा पद्मपुराण में वर्णन आया है। 'शाकुन्तल' के समान महाभारत से भी पद्मपुराण का कई विषयों में अत्यन्त सादृश्य मिलता है। शकुन्तला को वश में करने के लिये दुष्यन्त का प्रलोभनात्मक भाषण, बन से लौट आने पर कण्व ऋषि से शकुन्तला का अभिनंदन, इसके बाद शकुन्तला को वर प्रदान, राजा के अस्वीकार करने से अत्यन्त संतप्त शकुन्तला द्वारा राजा का वाक्ताडन, महाभारत और पुराण में बिल्कुल समान शब्दों में किया गया है। लगभग १०० श्लोक इन दोनों ग्रन्थों में समान हैं। इस समानता का विचार करने से व्यास और कालिदास ने पद्मपुराण की कथा और कल्पना लेकर अपने ग्रंथ रचे किंवा पद्मपुराण कर्ता ने 'शाकुन्तल' के कुछ प्रसंग और 'महाभारत' से कुछ भाषण लेकर और कुछ अपनी कल्पना से मिलाकर अपनी कहानी को सजाया, ये दो पक्ष सम्भव हो सकते हैं। इस में दूसरा पक्ष हमें अधिक सम्भवनीय मालूम पड़ता है। 'हरिवंश' में और 'भागवत' आदि दूसरे पुराणों में 'महाभारत' की कथा के सदृश शकुन्तला की कथा दी गई है। 'पद्मपुराण' की कथा पुरानी होती तो वह भी उन पुराणों में आई होती। पुराण की कहानी में बहुधा शारद्वत, शार्ङ्गरव, गौतमी, प्रियंवदा सदृश जो विशेष आवश्यक नहीं हैं ऐसे पात्रों का निर्देश नहीं मिलता है। पद्मपुराण

में भी शार्ङ्गरव और शारद्वत इन दोनों मुनि शिष्यों के नाम हैं तो भी उनका कोई स्वतन्त्र भाषण न होने से यह नामनिर्देश आवश्यक अंग नहीं है। पद्मपुराण के शकुन्तलोपाख्यान में यह पात्र मिलते हैं इसका कारण यह है कि लेखक ने वह कथानक कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक से संक्षेपरूप में लिया है। यही संभव भी मालूम पड़ता है। मत्स्यपुराण में भी कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के कुछ प्रसंगों का उल्लेख आया है, यह हम पहिले बतला चुके हैं। इसी तरह पद्मपुराणकार ने 'शाकुन्तल' के प्रसंग और महाभारत के ओजस्वी भाषण लेकर अपने शकुन्तलोपाख्यान की कथरी बनाई है ऐसा विदित होता है।

'शाकुन्तल' का संविधानक 'मालविकाग्निमित्र' के संविधानक की तरह उलझा हुआ नहीं है, तो भी उसके प्रसंगों का भेद इतनी कुशलता से मिलाया गया है, कि प्रेक्षकों का औत्सुक्य अंत तक बना रहता है। उस में विविध घटनायें एक से एक ऐसी स्वाभाविकता से उत्पन्न हुई दीखती हैं। वे सब मुख्य साध्यघटना से न्यूनाधिक प्रमाण में संबद्ध हैं। एक दो स्थल में आकाशवाणी के सदृश अद्भुत बातों का कथानक की प्रगति के लिये कवि ने उपयोग किया है, तो भी उस समय के लोगों को वे असम्भवनीय नहीं लगती थीं, इसका हमें ध्यान रखना चाहिये। इस नाटक का प्रत्येक प्रवेश किंबहुना उसका प्रत्येक प्रसंग सहेतुक ही है। उदाहरणार्थ पाँचवें अंक में हंसपादिका का गीत लीजिये। उसके कारण शकुन्तला के लिये आगामी अस्वीकृति की सूचना प्रेक्षकों को मिलती है। राजा को पीछे का वृत्तान्त स्पष्ट रूप से याद नहीं आता, तो भी उसके मन में धुकधुकी लगी रहती है। गीत सुनने पर वह अपना संदेश सुनाने के लिये विदूषक को हंसपादिका के पास भेजता

है। उसके जाने पर शकुन्तला का वृत्तान्त जाननेवाला, राजा के विश्वासी जनों में से, कोई भी पास नहीं था। इसलिये पाँचवें अंक के शकुन्तला के अस्वीकार का प्रसंग अस्वाभाविक नहीं लगता। इन सब कारणों से उस प्रसंग की योजना कवि ने पाँचवें अंक के आरम्भ में की है। अंत के अंक में दुष्यन्त को सर्वदमन का परिचय धीरे धीरे परन्तु क्रमशः बलवत्तर कारणों से होता है। यह प्रसंग भी उत्तम रचा गया है।

'शाकुन्तल' नाटक की भाषा अत्यन्त प्रसादयुक्त और रमणीय है। उस में उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अनेक अलङ्कार आये हैं। उस में कहीं भी क्लिष्टता, कल्पना की खींचातानी, दूरान्वय वगैरह दोष नहीं दीखते। प्रत्येक पात्र के मुख से, अनुरूप भाषा और जैसे उसको सूझ सकते हों ऐसे अलङ्कार रखने में कवि ने विशेष सावधानी रक्खी है। शकुन्तला और उसकी सखी सदैव लतावृक्षादिकों के सहवास में खेलने और रहनेवाली हैं अतः उनके भाषण में 'कः इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तां पल्लवितां सहते' [आम्र के सिवा और कौन पल्लवित अतिमुक्तलता के योग्य है ?], 'को नामोष्णोदकेन नवमल्लिकां सिञ्चति' (कौन गरम जल से नवमल्लिका को सींचेगा ?), इस तरह के लतावृक्षों से सम्बद्ध सूक्तियां लिखी हैं। कण्व ऋषि सदैव यज्ञ याग में और अध्यापन कर्म में निमग्न रहते हैं। अतः उनको यदि 'दिष्ट्या धूमाकुलित दृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता' (धूम से व्याकुल दृष्टि वाले यजमान की आहुति भाग्य से अग्नि ही में गिरी), 'वत्से सुशिष्य परिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृत्ता' (हे वत्से ! अच्छे शिष्य को दी गई विद्या के समान तुम्हारे विषय में हमें शोक नहीं है।), ऐसे दृष्टान्त और उपमाओं का प्रयोग हुआ तो इसमें कौनसा आश्चर्य ! सदैव खाद्य

लोलुप और विनोदी विदूषक के स्वभाव का प्रतिबिंब 'यथा कस्यापि पिण्डखर्जुरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरि भोगिणो भवत इयमभ्यर्थना' (जैसे पिंडखजूर से उकता जाने पर किसी को इमली खाने की इच्छा होती है, इसी तरह स्त्रीरत्नों का भोग करने वाले आपकी यह अभिलाषा है)। नाटक के भाषण छोटे छोटे और चटकदार होने से उनको बाँचते हुये या सुनते हुये वाचक और प्रेक्षक दोनों का चित्त प्रसन्न हो जाता है। इन प्रसगों को देखते हुये प्रेक्षकों को प्रतीत होता है कि हम नाटक न देखकर गुजरे हुये प्रसग का साक्षात्कार कर रहे हैं। इसी में कालिदास की कला का उत्कर्ष है।

'शाकुन्तल' में सभोग और विप्रलभ दोनों तरह का शृङ्गार, करुण और शान्त ये प्रधान रस हैं। पहले तीन अकों में शृङ्गार का साम्राज्य है। तथापि प्रसग से और भी अनेक रसों का उस में आविर्भाव दीखता है। पहले अक के आरम्भ में दुष्यन्त के सामने अपना जीवन बचाने के लिये भागते हुये मृग का और उसी अक के अन्त में हाथी द्वारा किये गये विध्वस बखान में भयानक, दूसरे अक में विदूषक के विनोदी भाषण में हास्य, तीसरे अक के अन्त में राक्षसों के विघ्न के वर्णन से भयानक, इस तरह अन्य रसों का शृङ्गार से मिश्रण हुआ है। चौथे अक में आकाशवाणी और वनदेवता से दिये हुये वस्त्रालकार के वर्णन में अद्भुत रस की छटा देख पड़ती है। परन्तु उस अक का मुख्य रस करुण ही है। इस अक की बराबरी का सम्पूर्ण सस्कृत वाङ्मय में एक भी स्थल नहीं है, ऐसा सुभाषितकार ने कहा है और वह सर्वसम्मत भी है। पाँचवें अक में दुष्यन्त और शकुन्तला के वाक्कलह का प्रसग भी मनोरम हुआ है। राजा के छोड़ने से सतप्त हुई शकुन्तला के

भाषण में रौद्र और आगे उसकी असहाय स्थिति देखकर करुण और अन्त में अप्सरस्तीथ के पास उसके अदृश्य हो जाने में अद्भुत, ऐसे अनेक रसों का प्रेक्षकों को अनुभव होता है । छठे में करुण, शृङ्गार का परिपोष अच्छा हुआ है । 'विक्रमोर्वशीय' की तरह पूरे अंक में एक ही पात्र को शोक करते हुये बैठे देखकर प्रेक्षक ऊब जाते हैं और उस रस का भी उत्तम रीति से उत्थान नहीं होता हैं, इसका अनुभव होने से इस अंक में राजा के करुण शृङ्गार को विदूषक के हास्य रस में जोड़ दिया गया है । आखीर के अंक में सर्वदमन और दुष्यन्त की भेंट का प्रसंग अद्भुत, वात्सल्य और अन्त में मारीच ऋषि के सान्निध्य में शान्त आदि रसों का आविर्भाव होता है । नाटक के अन्त में प्रेक्षकों की चित्तवृत्ति अनेक रसों का अनुभव करने पर शान्त रस में मग्न हो जाती है ।

आकर्षक संविधानक, मधुर भाषा, उत्कृष्ट वर्णन शैली, उत्कट रस परिपोष, इत्यादि गुण 'शाकुन्तल' में हैं । परन्तु इन सब की अपेक्षा उस में अत्यन्त कुशलता से खींचे गये स्वभाव चित्रों से रसिकों का चित्त आकृष्ट होता है । इस में दुष्यन्त, कण्व और विदूषक ये पुरुषपात्र और शकुन्तला, अनसूया और प्रियंवदा, ये स्त्री पात्र महत्त्व के हैं । इनके अतिरिक्त कवि ने संविधानक के विकास के लिये दुर्वासा और मारीच ये ऋषि, गौतमी और अदिति ये ऋषिपत्नियाँ, सानुमती अप्सरा, शारद्वत और शार्ङ्गरव कण्व के शिष्य, वैखानस, सेनापति, कञ्चुकी, राजा का साला, धीवर और सिपाही इत्यादि गौण पात्रों की योजना की है । इन सब में नायक दुष्यन्त और नायिका शकुन्तला इनके स्वभाव चित्रण में कवि ने अपनी शक्ति का सर्वस्व दिखाया है ।

कालिदास के सब नायकों में दुष्यन्त श्रेष्ठ है । वह आकृति से

भव्य, मन से कोमल है। गभीर आकृति और मधुर भाषण से यह दूसरों के मन को एकदम आकृष्ट कर लेता है। पुरूरवा के समान यह भी पराक्रमी है। यज्ञ की रक्षा करने के लिये उसको धनुष पर बाण लगाने की भी जरूरत नहीं पड़ती। उसकी प्रत्यचा के टकार से ही सब विघ्न दूर हो जाते हैं। अत विदूषक के साथ सब सैनिकों को भेज कर वह राक्षसों के निवारण के लिये अकेला आश्रम में रहता है। राक्षसों से युद्ध करने क लिये स्वय इन्द्र उसे स्वर्ग में बुलाता है और विजय के अनन्तर पुत्र को भी स्पर्धा करने योग्य अर्धासन देकर और अपनी मदारमाला उसके गले में डाल कर उसका सम्मान करता है। राज्य में उसका विलक्षण प्रभाव है। उसकी प्रजा म अत्यन्त निकृष्ट लोग भी कुमार्गगामी नहीं है, ऐसा शार्ङ्गरव कहता है। शकुन्तला की अँगूठी मिलने पर उसे पश्चात्ताप होता है। इसी दुख में वह वसतोत्सव को बद कर देता है। उस समय लतावृक्ष और उन पर वास करनेवाले पक्षी भी उसकी आज्ञा मानते हैं, ऐसा कचुकी वर्णन करता है। उस में ज़रा भी अतिशयोक्ति की मात्रा सानुमती को नहीं दीखती। किन्तु वह कहती है कि वह महाप्रभावशाली राजर्षि है। दुष्यन्त का पराक्रम अपने विनय से शोभित होता है। असुरों पर प्राप्त विजय से उसको बिल्कुल गर्व नहीं होता। यह सब इन्द्र के अनुग्रह का फल है ऐसा वह बड़े विनय के साथ कहता है। कण्वाश्रम में प्रवेश करते समय, तपोवन में विनीत वेष से जाना चाहिये, यह कह कर वह अपनी बहुमूल्य पोशाक और रत्नजटित अलकार सारथि के पास रख कर जाता है। वह पराक्रम का उपयोग दुष्ट के शासन और आर्त जनों की रक्षा के लिये ही करता है। वह अत्यन्त धार्मिक, पापभीरु और प्रजापालनतत्पर है। कण्व ऋषि के शिष्य

आये हैं, वह सोचता है शायद ऋषियों की तपश्चया में कोई विघ्न हुआ है ? तपोवन के प्राणियों को किसी ने पीडित तो नहीं किया ? हमारे दुष्कृत्य के कारण वहाँ की लताओं में फलपुष्प की न्यूनता तो नहीं हुई ? ऐसे नाना प्रकार के विकल्प उसके मन में उठते हैं। मैं ऋषियों की रक्षा करता हूँ, इसके बदले वे अपनी तपश्चर्या का अंश देकर पूरा पूरा चुका देते हैं, ऐसा वह मानता है । वह सदैव सतर्क हो प्रजा की रक्षा करता है । लोगों को कुमार्ग से हटाकर उनकी लड़ाई, झगड़े शान्त कर और उनकी रक्षा करके वह अपना कर्तव्य उत्तम रीति से पालता है । प्रजा में किसी का संबंधी मरे तो दुष्कृत्य को छोड़कर और दूसरी बातों में मृत मनुष्य का स्थानापन्न मुझे ही मानना, ऐसा वह ढिंढोरा पिटवाता है । उसको संपत्ति का बिल्कुल लोभ नहीं । जलमार्ग से व्यापार करनेवाले के मरने पर उस समय के कानून के अनुसार उसकी सब सम्पत्ति राजा को मिलती है, तो भी उसका स्वीकार न कर वह उसके गर्भस्थ अपत्य को दे डालता है । कालिदास के नाटक के अन्य नायकों की तरह दुष्यंत भी बहुपत्नीक है । उसके अंतःपुर में अनेक स्त्रियाँ होने के कारण, एक से विशेष प्रेम दूसरी की उपेक्षा आदि बातें हमें मिलती हैं । अतः अपनी तरफ दुर्लक्ष्य करने के कारण हंसपादिका उसे ताना मारती है। तथापि किसी भी सुंदर स्त्री को देख कर मोहित हो जाय, ऐसी मधुकर-वृत्ति उसमें नहीं है । नहीं तो शकुन्तला के समान अत्यंत सुस्वरूप स्वयं आई हुई स्त्री को बहुत विचार न करके वह तुरन्त स्वीकार कर लेता । पर स्त्री की तरफ ग़ौर से देखना अनुचित है, यह कहकर वह पहले उसकी तरफ बहुत देखता ही नहीं है । कण्वाश्रम में जाने पर उसे सुंदर कन्यायें दीख पड़ीं और उन में सौन्दर्य की पुतली शकुंतला उसके मन को आकृष्ट करती

है। प्रथम ही 'यह ब्राह्मण कन्या है क्या ?' ऐसा उसको संशय होता है। यदि अंत में वैसा ही होता तो उसने इन्द्रिय निग्रह कर अपना मन खींच लिया होता, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। परन्तु अपनी सच्छील मन प्रवृत्ति पर विश्वास कर वह विवाहयोग्य क्षत्रिय कन्या है ऐसा उसे मालूम होने लगता है। शकुन्तला और उसकी सखियों के भाषण से उसके अनुमान को समर्थन मिलता है और शकुन्तला के जन्म का वृत्तान्त सुनने पर तो संदेह बिलकुल नहीं रह जाता। दुष्यन्त को देख कर शकुन्तला में मदन विकार बढ़ता ही जाता है। कण्व ऋषि शीघ्र ही लौटनेवाले होते तो उस समय तक वह अवश्य इन्द्रिय निग्रह करता। परन्तु उधर शकुन्तला की बहुत खराब अवस्था हो गई थी। 'उस राजर्षिद्वारा, यदि मेरा शीघ्र पाणि ग्रहण न हुआ तो मुझे तिलोदक देने के लिये तैयार रहो' ये शकुन्तला के निराश उद्गार उसने सुने थे। सखियों ने भी शकुन्तला को स्वीकार करने के लिये उससे विनती की थी, इसी से वह उस प्रस्ताव को आनन्द से मान लेता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि –

"कण्वाश्रमरूपी स्वर्ग में छिप कर पाप ने प्रवेश किया, उसके साथ साथ कीटदष्ट (कीड़े के खाये हुये) फूल के समान वहाँ का दिव्य सौन्दर्य विशीर्ण और नष्ट हो गया। इसके अनन्तर लज्जा, संशय, दुख, वियोग और पश्चात्ताप आये। अंत में विशुद्धतर और उन्नततर स्वर्गलोक में क्षमा, प्रीति और शान्ति ये रूप दीखने लगे। 'शाकुन्तल' को 'Paradise Lost' के अनुसार 'Paradise Regained' भी कह सकते हैं।" इस में दुष्यंत को स्वर्ग में छिप कर जानेवाले पाप और कुसुम का नाश करनेवाले कीड़े की दो उपमायें दी हैं। ये उपमायें कालिदास के दुष्यन्त की अपेक्षा महाभारत के दुष्यन्त पर अधिक लागू होती हैं। दुर्वासा के शाप

से दुष्यन्त की स्मृति नष्ट हो गई थी, इसलिये उसने शकु तला का त्याग किया, यह दिखला कर कालिदास ने अपने नायक को इस विषय में दोषमुक्त कर दिया है। सातवें अङ्क में मारीच ऋषि ने जब शापवृत्तान्त कहा तब राजा "सुदैव से मैं इस दोष से विमुक्त हो गया" ऐसा कहकर समाधान का उच्छ्वास लेता है। उससे भी ऊपर का विधान कविसम्मत है यह दीख पड़ेगा। कालिदास का दुष्यन्त अत्यन्त कोमल हृदय का है। निरपराध पत्नी का मैंने त्याग किया है यह बात उसके मन में धँस जाती है। पश्चात्ताप से वह इतना क्षीण हो जाता है कि शकु तला भी पहिले उसे पहचान नहीं सकी। उसकी मुलाकात होने पर महाभारत के दुष्यन्त के समान यह वह घमंड से नहीं कहता। 'तूने मुझ से दुर्वचन कहे तो भी मैं तुझे क्षमा करता हूँ।' इतना ही नहीं, उसके पाँव पर गिर कर नम्रतापूर्वक उससे माफी माँगता है। मातृभक्ति और पुत्र प्रेम ये उसके स्वभाव की अन्य कोमल छटायें भी कवि ने यथाप्रसग दिखाई हैं। साराश, पराक्रमी, विनयशील, धार्मिक, प्रेमिल और कर्तव्यतत्पर ऐसे धीरोदात्त नायक का चित्र खींचकर कालिदास ने हमारे सामने आदर्श पुरुष खड़ा किया है।

इस नाटक में नायिका के स्वभाव का भी उत्तम प्रकार से परिपोष हुआ है। नाटक के आरम्भ में, शकुन्तला लतावृक्ष पर अपने भाई बहन की तरह प्रेम करनेवाली, शुरू से ही उनकी चिन्ता करनेवाली, उनको नाम दने और बड़े होने पर उनका विवाह कर देने में आनन्द माननेवाली, स्वय युवती होने पर प्रियसखियों के विवाहविषयक परिहास का विषय होनेवाली, एक मुग्धा तरुणी दीखती है और वही अन्तिम अक में पति वियोग के कारण मलिन वस्त्र और एकवेणी धारण करनेवाली, व्रतोपवासादिक से शरीर

सुखानेवाली, पतिव्रता पुत्रवत्सला प्रौढ़ा स्त्री के रूप में परिणत हुई दीखती है। जैसे प्रात काल सृष्टि सती के द्वारा ओस की बूँद से स्नात कोमलकलिका धीरे धीरे सुदर पुष्प के रूप में विकसित होकर सूय के प्रखर ताप से सायकाल को सूख जाती है, वैसे ही शकुन्तला के स्वभाव में हमारे नेत्र के सामने परिवतन होता है। इसमें कालिदास की कला का परम उत्कर्ष दीख पड़ता है। छोटी अवस्था में उसके माता पिता ने उसका त्याग किया तो भी कण्व और गौतमी ने अपने प्रेम का आश्रय देकर किसी बात में भी कमी नहीं पड़ने दी। सुदैव से उसको प्रियवदा और अनसूया ऐसी हमजोली और प्रीति करनेवाली सखियाँ मिलीं। उनके सहवास में उसको लेखन, वाचन, काव्य, इतिहास इत्यादि विषयों के साथ साथ चित्रकला के सदृश ललितकला की भी शिक्षा प्राप्त हुइ। आश्रम के लतावृक्ष और पशुपक्षी के सहवास में बड़ी होने के कारण परस्पर निस्सीम प्रेम हो जाता है। 'शकुन्तले! तुम्हारी अपेक्षा कण्व बाबा को आश्रम के वृक्ष ज्यादा प्यारे हैं ऐसा मुझे मालूम पड़ता है। क्योंकि तू नवमालिका के समान कोमल है तो भी उन्होंने तुझे वृक्षों में पानी डालने के लिये नियुक्त किया है' ऐसा जब अनसूया ने हँसी में कहा तब वह उत्तर देती है, 'बाबा ने कहा है, इसलिये मैं इन्हें पानी देती हूँ ऐसा नहीं। मेरा स्वय इस पर अपने सगे भाई बहन के समान प्रेम है।' इसी प्रेम के कारण अपने अलकार के लिये उनके पत्र तोड़ना तक उसे बुरा लगता है। उनके प्रथम पुष्पोद्गम आते ही वह उसका उत्सव मनाती है। पति घर में जाते समय वनज्योत्स्ना नामक लतारूपी बहन को प्रेम का आलिङ्गन देना भी वह नहीं भूली। आश्रम के पशुपक्षियों पर भी उसका उतना ही प्रेम था। 'गर्भिणी होने से पर्णकुटी के आस पास मन्द मन्द

चलनेवाली हरिणी जब बच्चा जने तब यह सूचना मुझे देने के लिये किसी को भेजना' यह प्राथना वह कण्व ऋषि से करती है । छुटपन में अपने ही समान अनाथ हो जानेवाले हिरन के बच्चे का उसने माता के समान पालन किया था । आश्रम से जाते समय जब वह उसका वस्त्र खींचता है तब शकुन्तला का गला भर जाता है । ऐसी प्रेमिका शकुन्तला से तपोवन की चराचर सृष्टि प्रेम करती है । जाते समय उसकी प्रियसखी अनसूया और प्रियंवदा के सिवा उसके दुख की कल्पना कौन कर सकता है ? कण्व ऋषि तो उसके पिता थे । उनकी गोदी में वह छुटपन से खेली थी । 'मलय पर्वत पर से निर्वासित चन्दन के समान बाबा की गोदी से परिभ्रष्ट होकर मैं दूसरी जगह कैसे जीती रह सकूँगी ?' यह वह पूछती है । जाने को देर हो रही थी । शाङ्गरव आगे चलने की सूचना देता था तो भी 'बाबा ! यह तपोवन अब मैं कब देखूँगी ?' इस प्रकार वह रह रह कर अपने हृदय के भाव व्यक्त कर रही थी । 'बेटा, अनुष्ठान का समय आ गया है' यह कण्व के कहते ही तपश्चर्या से पहले ही कृश अपने पिता को वियोग का दुख असह्य होगा यह उसके ध्यान में आता है । तब 'बाबा ! तुम तपश्चया से दुबले हो गये हो । मेरे लिये बहुत दुख न मानना' ऐसी बिनती वह कण्व से करती है ।

राजा को देखते ही शकुन्तला के मन में अननुभूत प्रेमविकार उत्पन्न हो जाता है । उसकी धीरगम्भीर आकृति, मधुर भाषण और असामान्य पराक्रम से उसका हृदय आकर्षित होता है । वह कामवश हो गई थी तो भी स्वाभाविक लज्जा से अपना प्रेमविकार सखियों पर उसने प्रकट नहीं किया । राजा से बोलना तो दूर रहा वह उसके सामने खड़ी भी नहीं रह सकती थी । विदूषक के पूछने पर

शकुन्तला ने कैसा बर्ताव किया इसका राजा ने निम्न पंक्तियों में वर्णन किया है—

> अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
> विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥
>
> शाकु० २, ११

'महाभारत' की शकुन्तला अपनी जन्मकथा का विस्तारपूर्वक वर्णन करती है। भार्या होने के लिये राजा के विनती करने पर वह अपनी शर्त पेश करती है और उसके स्वीकृत होने पर राज़ी हो जाती है। राजा को देख कर वह कामवश हो गई, ऐसा नहीं दीखता। ऐसी धीठ, व्यवहारकुशल परन्तु निष्प्रेम तरुणी को कवि ने अपनी प्रतिभा से लज्जाशील और प्रेमपरवश मुग्ध बालिका के रूप में बदल दिया है। कालिदास की शकुन्तला को जब मदनविकार असह्य हो गया तब उसने प्रिय सखियों के बहुत आग्रह पर अपना अभिप्राय प्रकट किया और उन दोनों नें सम्मति दी तो भी पिता की आज्ञा के बिना राजा से विवाह करने को वह राजी न हुई। क्षत्रियों में गान्धर्व विवाह करना विहित है। तेरे पिता क्रोध नहीं करेंगे ऐसा राजा ने विश्वास दिलाया तब उसने उसके वचन को स्वीकार किया। अंतिम अंक में पहचान हो जाने पर पुत्र का हाथ पकड़ कर 'तेरे साथ भगवान् मारीच ऋषि के दर्शन के लिये जाने की मेरी इच्छा है' ऐसा राजा उससे कहता है। तब यह वह कहती है कि आपके साथ गुरुजनों के सामने जाने के लिये मुझे लज्जा लगती है। ऐसे प्रसंगों से उसकी विनयशीलता कवि ने दिखाई है। शकुन्तला का स्वभाव अत्यन्त सरल और भोला है। पाँचवें अंक में शाप से स्मृतिविभ्रम हो जाने वाले राजा को पहिचान कराने के लिये सब उपाय समाप्त हो गये। अँगूठी भी ठीक समय पर कहीं नहीं मिली। तब "मेरा पालन किया

हुआ दीर्घापाङ्ग नामक हिरन के बच्चे न जब आपके हाथ से पानी न पिया, और फिर वही पानी मैंने उसको दिखलाया तब वह पीने लगा। उस समय आप हँसकर बोले थे 'प्रत्येक जन्तु का अपने सजातीय पर विश्वास होता है। तुम दोनों अरण्यवासी हो।' इस बात को कहकर वह उसको याद दिलाने का प्रयत्न करती है। इससे क्या उसको याद आ जायगी। परन्तु भोली शकुन्तला को वह भी सम्भव मालूम होता है। ऐसी सरल स्वभाव और प्रेमशील शकुन्तला के सामने वज्राघात के समान अस्वीकार का प्रसग आता है। गौतमी और शार्ङ्गरव ने भी कहा और समझाया तब भी राजा ने न माना। इसलिये 'तू ही उसे विश्वास दिला' यह शारद्वत कहता है। तब 'आर्यपुत्र!' इस सबोधन से वह आगे कुछ कहनेवाली ही थी कि उसके ध्यान में यह आता है कि पति-पत्नी का सबध राजा नहीं स्वीकार करता। इसलिये इस नाम से उसको सबोधन करना योग्य नहीं है। और 'पौरव' इस सादे नाम से वह उसको पुकारती है। उसको याद दिलाने के प्रयत्न में उसे सफलता नहीं मिलती। प्रत्युत कोकिल का दृष्टान्त देकर 'स्त्रियाँ स्वभाव से ही झूठी होती हैं' यह राजा जवाब देता है। उस भाषण में द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग होने से राजा उसकी माता की निन्दा करता है ऐसा शकुन्तला को प्रतीत होता है। इससे उसका सताप बढ़ जाता है और वह उसे 'अनार्य' शब्द से सबोधन करके उसके ढोंगीपन के लिये उसका अनादर करती है।

सीता की तरह शकुन्तला भी पतिव्रता है। पति ने बिना कारण उसे छोड़ दिया तो भी सदैव उसका चिंतन करती है और विरही स्त्रियों को जिस रीति से रहना चाहिये वैसे ही अपने दिन काटती है। जब सानुमती से राजा के पश्चात्ताप की खबर मिलती है और अदिति के

आश्वासन से कुछ समय में पति उसे स्वीकार कर लेगा ऐसी उसको आशा होती है मानों उसी आशा के सहारे वह अवलम्बित रहती है। अन्त में राजा से मुलाकात होता है। तब वह अपने निराकरण के लिये उस पर अपना क्रोध नहा प्रकट करती। किंतु जब वह पश्चात्ताप करता हुआ अपने को दोष देने लगता है, तब "मेरे किये हुये कर्मों से आप ऐसे दयार्द्र भी मेरे ऊपर निष्ठुर हो गये।" यह कह कर उस का समाधान करती है। साराश कवि ने शकुन्तला के रूप में ऋजुस्वभाव, सद्गुणी और कर्तव्यनिष्ठ ऐसी आदर्श हिंदु गृहिणी का चित्र खींचा है।

नायक और नायिका के स्वभाव के शब्दचित्र खींचने में कालिदास ने अपनी सब शक्ति खर्च कर डाली तो भी दूसरे पात्रों को उसने परन्तु बड़ी कुशलता से रँगा है। साम्य विरोध से पारस्परिक स्वभाव का उत्कर्ष हो इसलिये उसने कुछ पात्रों की जोड़ियाँ बना डालीं। दुर्वासा—कण्व, प्रियवदा—अनसूया, शार्ङ्गरव और शारद्वत इनके स्वभावों के पृथक्करण करने पर, यह बात स्पष्ट हो जाती है। दुर्वासा बहुत मानी, क्रोधी और निष्ठुर ऋषि दीखते हैं। अपने घर लौट गये पति के वियोग से शून्यहृदया शकुन्तला उसके चिंतन में मग्न हो रही है ऐसा दिव्य दृष्टि से उनको दीखता है, तथापि इसने मेरा अपमान किया है, यह समझ कर वे उसको पति वियोग का दारुण शाप देते हैं। कितना छोटा अपराध और कितना भारी दण्ड!

दुर्वासा की तरह कण्व भी तपोनिष्ठ, महाप्रभावशाली और अन्तर्ज्ञानी हैं। परन्तु और दूसरी बातों में कण्व और दुर्वासा में अत्यन्त वैषम्य है। दुर्वासा क्रोधी है तो कण्व शान्त। वे निष्ठुर हैं तो ये अत्यन्त कोमल-हृदय और प्रेमशील। शकुन्तला अकस्मात्

वन में मिली हुई लड़की है, तथापि उन्होंने उसका पालन अपनी ही लड़की की तरह किया है और विविध प्रकार से उसको शिक्षित भी किया है। 'शकुन्तला मानो हमारे कुलपति का प्राण है' ('सा कुलपतेरुच्छ्वसितमिव।') यह उनका शिष्य कहता है और वह मिथ्या नहीं है। उसके दैव की शान्ति करने के लिये वे बड़े दूर का प्रवास करते हैं। अपनी अनुपस्थिति में उसने विवाह किया, इससे वे नाराज़ नहीं होते, प्रत्युत दुष्यन्त सदृश गुणी मनुष्य अपने नज़र के सामने होते हुये भी उसको शकुन्तला देना मुझे क्यों नहीं सूझा, इस पर उन्हें आश्चर्य सा होता है। सुदैव से उसने योग्य पति को चुना इस बात पर उनको आनंद होता है। यह अपना आशय उन्होंने 'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुति पतिता।' इस दृष्टान्त से व्यक्त किया है। जब वह सुसराल जाने लगी तब उनका हृदय दुख से भर आता है, कंठ रुद्ध हो जाता है, नेत्रों में आँसू भर आते हैं। इस प्रसंग में मेरे सदृश अरण्यवासी मनुष्य की कन्या के प्रेम से जब ऐसी दशा हो जाती है तो सांसारिक जनों की क्या दशा होती होगी, इन शब्दों द्वारा वे अपने आप विचार करते हैं। वे सदैव अरण्य में रहते हैं तो भी उनको व्यवहार का उत्तम ज्ञान है। ससुराल में शकुन्तला को कैसे बर्तना चाहिये इस विषय में उनका दिया हुआ उपदेश बहुमूल्य है। 'बाबा, मेरे लिये शोक मत कीजिये' जब यह प्रार्थना शकुन्तला ने की तब वे कहते हैं, तेरे प्रेम के चिह्न इधर उधर देख कर मेरा शोक कैसे शान्त होगा?' तथापि जब वह चली गई तब 'कन्या दूसरे की धरोहर है, आज उसे मैंने मालिक को सौंप दिया है' ऐसा विवेक करके अपने दुख को पी जाते हैं। कण्व के रूप में कालिदास ने प्रेमिल पिता का हृदयस्पर्शी चित्र खींचा है।

तीसरे ऋषि मारीच दिव्य कोटि के हैं। उनके आश्रम में सब स्वर्गीय सुख साधन हैं। परन्तु उनमें आसक्त न होकर वहाँ के ऋषि तपश्चर्या करते रहते ह। उधर जाते ही "यह स्वग की अपेक्षा अधिक आनद का स्थान है" ऐसा दुष्यन्त कहता है। मारीच ऋषि इन्द्रादि देवताओं क पिता हैं। भगवान् विष्णु वामनावतार में उनके पुत्र हुये थे। वे स्वय आप्तकाम होकर भी सदैव लोकहित के लिय तपश्चया में मग्न रहते हैं। इनके आश्रम में शकुन्तला को आश्रय मिला। इनके पतिव्रतधम के विवरण से शकुन्तला को मानसिक शान्ति मिली। जब उसके बच्चा हुआ तब उन्होंने लड़के के जातकर्मादि सस्कार किये। ऐसे ज्ञाननिष्ठ और लोकहितैषी महात्मा के आशीर्वाद द्वारा, नाटक की समाप्ति करने में कवि ने बहुत ही औचित्य दिखाया है।

प्रियवदा और अनसूया ये दोनों शकुन्तला की अत्यन्त प्यारी सखी था। दोनों उसी की तरह विविधकलाओं में निपुण हैं। दोनों का शकुन्तला पर अत्यधिक प्रेम है। तो भी उनक स्वभाव में भेद है। अनसूया गम्भीर, विवेकशील, दूरदर्शी और व्यवहारकुशल है और प्रियवदा अपने नाम के अनुसार मधुरभाषणी, सदैव आनदित रहने वाली और विनोदशील है। राजा के स्वागत करने में, शकुन्तला का जन्मवृत्तान्त कहने और अन्त में शकुन्तला के साथ अच्छी तरह व्यवहार करने के लिये दुष्यन्त से विनती करने में अनसूया ही प्रमुख बनती है। उसका गम्भीर स्वभाव देखकर कण्व उसी से बातचीत करते हैं। प्रियवदा का स्वभाव इससे उलटा है। वह सदा शकुन्तला की हँसी उड़ाती रहती है। "प्रियवदा ने मेरा वल्कल खूब कस कर बाँध दिया है, इसको ज़रा ढीला करो।" जब शकुन्तला ने अनसूया से यह कहा तब वह कहती है 'अपने स्तन विशाल करनेवाले

यौवन को दोष दो। मुझे क्यों देती हो ?' शकुन्तला बकुल वृक्ष के पास खड़ी है, यह देख कर प्रियवदा उस से कहती है 'शकुन्तले! थोड़ी देर वहीं ठहर। तुझ को केसर वृक्ष के पास खडी देख कर उसका लता से सयोग हुआ है, ऐसा मालूम पडता है।' शकुन्तला को भी उसका भाषण अच्छा लगता है, 'इसीलिये तुझ को प्रियवदा कहते हैं' यह वह कहती है। दुर्वासा सदृश निष्ठुर ऋषि शाप देकर जब जल्दी जल्दी जाने लगे तब प्रियवदा आगे जाकर अपने मधुर भाषण से उनके मन में शकुन्तला के विषय में कुछ दया उत्पन्न कराती है। शकुन्तला जब ससुराल जाने लगी तब दोनों को बहुत दुख होता है। तथापि हम लोग अपना दुख किसी न किसी तरह से भूल जायेंगे परन्तु उस बिचारी को सुख होवे, इस विचार से वे उसके भूषणादि की तैयारी करती हैं। जाते समय शकुन्तला अपनी लाडिली वनज्योत्स्ना नामक धरोहर लता को स्वाधीन करती है। तब 'हम को किस के अधीन करोगी ?' यह कहकर वे रोने लगती हैं। शकुन्तला के जाने पर उनको तपोवन सूना सा लगता है। ऐसी भोली, निर्दोष, प्रेमिल सखियों की जोड़ी सम्पूर्ण सस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिल सकती।

'शाकुन्तल' का माढव्य नामक विदूषक केवल बकवादी है। 'विक्रमोर्वशीय' का माणवक भोलेपन से राजा के रहस्य का उद्घाटन कर देता है, उधर यह माढव्य राजा की कही हुई बात को सच्चा समझ अपने मुख में ताला डाल देता है। एक बोलकर बिगाड़ देता है, दूसरा चुप रहकर बात को पी जाता है। बाकी और बातों में, खव्वूपन में और विनोदी भाषण में—दोनों समान हैं। शार्ङ्गरव और शारद्वत इन दोनों ऋषिकुमारों के भी स्वभाव में भेद है। शार्ङ्गरव शीघ्रकोपी और स्पष्टवक्ता है। शकुन्तला के साथ भेजी हुई

मडली में वही मुख्य है । वह प्रथम कण्व का सदशा राजा का सुना कर शकुन्तला को स्वीकार करने की राजा से विनती करता है। राजा एकदम स्वाकार नहीं करता यह देख कर वह युक्तिवाद से उसका मन फेरने का प्रयत्न करता है । तो भी राजा नहीं सुनता। एसा देख कर उसको ऐश्वर्यमत्त पुकारने में और उसकी चोर से तुलना करने में कुछ भी सकोच नहीं करता। उसका और राजा का झगडा उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है यह देख कर शारद्वत बीच में पडता है और 'हम ने गुरू का सदेशा सुना दिया है, चलो, अब लौट चलें', ऐसी सूचना देता है। वह स्वभाव से बहुत सौम्य और विवेकी दीखता है।

शकुन्तला की मातृस्थानीय गौतमी, सिंह के बच्चे को उसकी माता के पास स खींच कर उसके दाँत गिननेवाला निडर सर्वदमन, स्वामी की मर्जी देख कर चलनेवाला सेनापति, गरीब परन्तु स्वाभि मानी धीवर, सिद्ध साधक बन कर अपराधी पर सख्ती करनेवाले परन्तु उसके पास पैसे देखते ही मद्य की आशा से घडी भर में बदल जाने वाले पुलिस के सिपाही और उनका अफसर इन सब के चित्र भी मनोवेधक उतारे गये है। ऐसे मनुष्य हम लोगों को नित्य व्यवहार में दीखते हैं । इन पात्रों के चरित्र चित्रण को देख कर कालिदास की मार्मिक निरीक्षण शक्ति पर बडा आश्चर्य होता है।

छठा परिच्छेद

सातवाँ प्रकरण

कालिदास के ग्रंथों की विशेषतायें—

"निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसा-द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥"

बाण—हर्षचरित

[कविवर कालिदास की आम्रमजरी के समान मीठी और सरस सूक्तियों को सुन कर किस के हृदय में आनद का उद्रेक नहीं होता ?]

मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में यश की प्राप्ति को काव्य रचना का एक मुख्य प्रयोजन बतलाया है और उसके उदाहरण में कालिदास का खास तौर पर उल्लेख किया है। 'ध्वन्यालोक' जैसा साहित्य शास्त्रों में सर्वमान्य ग्रंथ लिखनेवाले, मार्मिक और सहृदय टीकाकार आनदवर्धन ने एक जगह पर कहा है कि 'अस्मिन्नति विचित्रकविपरम्परा-वाहिनि ससारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पचषा वा महाकवय इति गण्यन्ते' (इस ससार में अनेक कवि पैदा होते हैं, तो भी उन में से कालिदास के समान दो तीन या ज्यादा से ज्यादा पाच छ व्यक्तियों को ही 'महाकवि' की उपाधि हम दे सकते हैं) जयदेव कवि ने कालिदास को 'कविकुलगुरु' की सर्वश्रेष्ठ पदवी अर्पण की है। एक सुभाषितकार ने तो 'पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदास । अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥' (पुरातन काल में हाथ की उँगलियों से कवियों की गणना करने का प्रसग आने पर कालिदास का नाम कनिष्ठिका

पर लिया जाता था, किन्तु उसकी बरावरी करनेवाले किसी कवि के उस समय न होने के कारण उसके पास की उँगली को अनामिका कहने लगे, अब भी वैसा ही होने के कारण उस उँगली का आज भी वही सार्थक नाम है। यह कहकर कालिदास का अनन्य दुलभ स्थान बताया है। अर्वाचीन पाश्चात्य पंडितों ने भी 'कालिदास' को 'हिन्दुस्तान का शेक्सपियर' कह कर मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की है और संसार के अत्यन्त श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में उसका स्थान निश्चित किया है। कालिदास ने प्राचीन तथा अर्वाचीन, पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों पर जो यह मोहनी डाली उसका क्या कारण है, इसका हमें इस प्रकरण में विचार करना है।

उत्कृष्ट काव्य पढ़ने पर प्रत्येक सहृदय पाठक को आनन्द होता है, परन्तु वह क्यों और कैसे, इसका विवेचन वह नहीं कर सकता। एक कवि के अनुसार 'घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदैर्विशेष्या नाख्येयो भवति रसनामात्रविषय।' (घी, दूध, अंगूर, शहद इनका स्वाद केवल लोगों की जिह्वा को मालूम तो होता है मगर शब्दों से उनका वर्णन नहीं कर सकते)। सामान्य पढ़नेवाले को ही इस विषय में अपनी दुर्बलता मालूम होती हो ऐसा नहीं, प्राचीन काल से लेकर आज तक अनेक साहित्यकोविदों ने काव्य निर्माताओं के काव्य की छान बीन करके काव्य की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, फिर भी कोई उत्तम काव्य का लक्षण अब तक सर्वसम्मत नहीं हुआ। भारतवर्ष में भी भरतादि अनेक साहित्य शास्त्रकारों ने काव्य की व्याख्या की है। फिर भी उनमें मत-वैचित्र्य दिखाई देता है। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन ध्वनि या व्यंग्यार्थ को प्रधानता देकर उसे 'काव्य की आत्मा' मानते हैं, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' काव्य का लक्षण करके रस की ही श्रेष्ठता

का वर्णन करते हैं । 'काव्यालकार सूत्रवृत्ति' के लेखक वामन ने रीति या विशिष्ट पद-रचना को काव्य की आत्मा माना है। इसके विरुद्ध भामहादि आलकारिक, अलकारों को ही महत्त्व देते हैं। इसके अलावा कुन्तकादि इतर ग्रथकारों ने अपने अपने मतों का बड़े जोर के साथ समर्थन किया है। तथापि ध्वनि, रस, रीति और अलकार इस चर्चा में मुख्य पक्ष ये चार हैं । इन में से कौन सा पक्ष सयुक्तिक है इसका यहा विवेचन करना अपेक्षित नहीं है। तथापि इन में से किसी भी पक्ष को स्वीकार करने पर यह नि सदेह कहा जा सकता है कि कालिदास के सभी ग्रथ काव्य लक्षण की कसौटी पर पूर्ण रूप स उतरते हैं।

१ ध्वनि.

उत्तम काव्यों में शब्दों से दीखनेवाला वाच्यार्थ, कहीं उसके अर्थ की ठीक ठीक प्रतीति न होने से ख्याल में आनेवाला लक्ष्यार्थ, इन दोनों से भिन्न सहृदयहृदयाल्हादक ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ ही विवक्षित रहता है। इसी कारण काव्य में रमणीयता आजाती है इस मत का पहले आनदवर्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' में सविस्तर प्रतिपादन किया और उसका मम्मटादि साहित्यशास्त्रियों ने समर्थन किया है। जिस काव्य में वाच्याथ की अपेक्षा व्यग्यार्थ विशेष मनोहर है वह उत्कृष्ट काव्य, जिस में व्यग्यार्थ वाच्यार्थ से न्यून कोटि का है वह मध्यम काव्य और जिस में व्यग्यार्थ बिलकुल नहीं है या अत्यन्त अस्पष्ट या दुर्बोध है तथा अलकारादि पर विशेष ध्यान दिया गया है, वह अधम काव्य है। इस तरह काव्य का श्रेणीविभाग इन ग्रथकारों ने किया है। इस दृष्टि से कालिदास के काव्य बहुत ही ऊँचे दर्जे के हैं, इस में ज़रा भी सदेह नहीं। किसी भाव को स्पष्ट शब्दों में कहने की अपेक्षा

उसे खूबी से सूचित करने में कालिदास का नैपुण्य है। उदाहरणार्थ अंगिरा ऋषि द्वारा गिरिराज हिमालय से शंकर के लिये पार्वती की मगनी की प्रार्थना करने पर पास ही बैठी हुई पार्वती का कालिदास ने 'कुमारसंभव' में जो वर्णन किया है उसे देखिये—

एववादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

कुमार० ६, ८४

'इस तरह जब देवर्षि बोल रहे थे तब पिता के पास सिर नीचा किये बैठी हुई पार्वती (हाथों में लिये हुये) लीला कमलों के पत्र गिनती थीं'। इस श्लोक में एक भी अलंकार नहीं है, तथापि कमल पत्र की गिनती के वर्णन से पार्वती की लज्जा, उसके मन का प्रेम, आनन्द और प्रयत्न अति सुंदर रीति से सूचित किया गया है। इस श्लोक को उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण के तौर पर साहित्यकारों ने उद्धृत किया है। दूसरा उदाहरण 'मेघदूत' के 'गंगावर्णन' में देखिये—

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥ मेघ० ५२

'फिर तुम कनखल के पास हिमालय से नीचे गिरती हुई और सगरपुत्रों के स्वर्गारोहण करने के लिये सीढ़ी स्वरूप, जह्नुकन्या गंगा की ओर जाना। जिसने पार्वती की त्यौरी चढ़ी देख मानों फेनरूपी हास्य करके, ललाटस्थित चन्द्र तक अपने तरंगरूपी हाथ ऊँचे उठा श्रीशंकर के बालों का जूड़ा पकड़ लिया है।

इस श्लोक में रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि अलकारों की भरमार है। तथापि सगरपुत्रों की स्वर्गप्राप्ति का साधन होने से एव गगा की पवित्रता और पार्वती के सपत्नीमात्सर्य की परवाह न करके श्री शकरजी ने उसे अपने सिर पर स्थान दिया है, अतएव गगा का महत्त्व भी सूचित होने से ही उसमें रमणीयता आ गई है। कालिदास का प्रत्येक पद लिंग, विभक्ति, वचन और उसके अवयव भी किस तरह रमणीयार्थव्यजक होते हैं, यह आनदवर्धन, मम्मट इत्यादिकों ने अनेक उदाहरणों से दिखाया है। विस्तारभय से वे उदाहरण यहाँ नहीं दिये जा सकते।

कालिदास भवभूति और बाण आदि अन्य कवियों के ग्रथों के सूक्ष्मावलोकन से एक बड़ा भारी अन्तर पाठकों के ध्यान में आता है। यहां उसका उल्लेख करना आवश्यक है। किसी रम्य कल्पना के मन में आते ही अन्य कवि उसका लबा चौड़ा वर्णन करते हैं। पर कालिदास गिने-चुने शब्दों से उसका रेखाचित्र खींच कर उस में रग भरने का काम पाठकों की सहृदयता पर छोड़ देते हैं। अतएव कालिदास के काव्य 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति' वाली रमणीयत्व की कसौटी पर पूर्ण रूप से उतरते हैं। और उन्हें पढ़ते समय मन कभी नहीं ऊबता। उदाहरणार्थ, मदन दाह के बाद वसन्त को देखकर रति का दुःख दुगना हुआ, इस भाव को व्यक्त करने के लिये कालिदास ने 'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वार मिवोपजायते' इस पक्ति में 'विवृतद्वारमिव' इस छोटी सी उत्प्रेक्षा में घर्घर ध्वनि के साथ बहते हुये पानी के समान दुख का अनिवार्य प्रवाह सूचित किया है। किंतु ऐसे ही एक प्रसग में भवभूति ने एक समूचा श्लोक लिखकर उसको विविध अलकारों से सजाया है—

सन्तानवाहान्यपि मानुषाणां दुःखानि सद्बन्धुवियोगजानि ।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतःसहस्रैरिव सम्प्लवन्ते ॥

उत्तरराम० ४, ८

पीछे 'मालविकाग्निमित्र' का सन्निधानक देते समय कवि ने इरावती के अनावश्यक नृत्य प्रसंग को किस खूबी से टाला है, इसका हम विवेचन कर चुके हैं। इस प्रकार के प्रसंगों से कवि का संयम और कलाभिज्ञता बहुत उत्कृष्ट प्रतीत होती है।

२ रस

विषय भेद से ध्वनिभेद के वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि, ये तीन भेद अलंकारशास्त्रियों ने माने हैं। उन में से रसध्वनि सब से श्रेष्ठ है। आनंदवर्धन ने कहा है कि व्यंग्यव्यंजक भाव अनेक प्रकार से संभव है, तो भी काव्यनाटक आदि प्रबन्धों में रस को ही प्राधान्य देकर तदनुगुण अलंकारों की योजना करनी चाहिये। अतएव रस पक्ष को महत्त्व देकर विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में रस को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया है। साहित्यशास्त्र में शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शांत ये नौ रस माने गये हैं। इन में से संभोग और विप्रलंभ—दो प्रकार के शृङ्गार और करुण इन रसों का कालिदास के काव्य में उत्तम रीति से निर्वाह हुआ है। खासकर शृंगार रस में कालिदास का नैपुण्य देख कर जयदेव ने उन्हें 'कविताकामिनी का विलास' नामक संज्ञा दी है। किसी एक सुभाषितकार ने तो शृङ्गार रस में और ललित पदयोजना में कालिदास से बढ़ कर कवि अब तक हुआ ही नहीं, यहाँ तक कह डाला है। कालिदास के तीनों नाटक तथा 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' काव्य शृङ्गारप्रधान होने

के कारण उन में इतर रसों के विशेष समावेश होने की गुंजाइश नहीं है। तथापि प्रसगवशात्, हास्य, करुण, भयानक इत्यादि अन्य रसों की छटा भी उस में देख पड़ती है। 'रघुवश' से भी शृङ्गार के सदृश अन्य प्रमुख रसों का निर्वाह उत्तम रीति से होता दीखता है, यह हम पीछे दिखा चुके हैं।

किसी रस का पूर्ण परिपाक होने के लिये विभावानुभावादि अगों का सम्यक् वर्णन करना आवश्यक है। अतएव रसों का उदाहरण मूल ग्रन्थों में ही पढ़ना चाहिये। तथापि इस सबध में भी कालिदास का कौशल दिखाने के लिये एक दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

> नून तस्या प्रबलरुदितोच्छूननेत्र बहूना
> नि श्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
> हस्तन्यस्त मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
> दिन्दोर्दैन्य त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥
>
> मेघ० ८५

इस श्लोक में यक्ष ने अपनी कल्पना से अपनी विरहिणी पत्नी का सुदर वर्णन किया है। रात दिन अश्रु बहाने से सूजी हुई उसकी आँखें, उष्ण नि श्वासों के कारण विवर्ण अधरोष्ठ, हथेली पर रक्खे हुए और लबे बालों से ढक जाने के कारण आधे दीख पड़ते हुये उसके मुख के वर्णन से यक्षपत्नी का विरह दुख और विषाद, चिंता इत्यादि मनोविकार उत्कृष्ट रीति से व्यक्त हुये हैं। अतिम पक्ति के उदाहरण से उसके मुख की निस्तेजता सूचित की है। सब वर्णन पढ़कर पाठकों के हृदय में विप्रलब्धा यक्षपत्नी के प्रति सहानुभूति हुए बिना नहीं रहती।

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥
कुमार० ३, ६७

चन्द्रोदय को देख कर समुद्र की तरह शिवजी का चित्त किञ्चित् क्षुब्ध हुआ । और बिंबफलसमान अधरोष्ठयुक्त पार्वती के मुख पर शंकर के नेत्र लोटने लगे ।

इस श्लोक में शंकर के मन में एकाएक पैदा होने वाले रति भाव का उत्तम वर्णन है ।

३ रीति

ई० स० की आठवीं शताब्दी के वामन ने अपने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' नामक ग्रंथ में 'रीति' ही को काव्य की आत्मा माना है। किन्तु ध्वन्यालोककार का ध्वनिवाद रसिकों को अधिक पसंद होने के कारण वामन का 'रीतिवाद' पीछे पड़ गया । फिर भी काव्य में रीति का महत्त्व कम नहीं हुआ । विशिष्ट पदरचना को रीति संज्ञा दी गई है । वामन ने वैदर्भी, गौडी, और पांचाली आदि तीन रीतियाँ मानी हैं। उन में से सब से श्रेष्ठ रीति वैदर्भी है। क्योंकि उस में सब गुणों का सहवास रहता है । वामन ने श्लेषादि दस गुण माने थे, किन्तु उत्तरकालीन मम्मटादि आलंकारिकों ने उनकी छान बीन करके माधुर्य, ओजस् और प्रसाद इन तीन ही गुणों को प्रधानता दी है ।

कालिदास ने अपने सभी ग्रंथ इसी सर्वोत्कृष्ट वैदर्भी रीति में लिखे हैं। वैदर्भी रीति की विशेषता माधुर्यव्यंजक कोमल वर्णों का उपयोग और दीर्घ समासों का अभाव है। संस्कृत भाषा स्वयं श्रुति मनोहर है। कालिदास ने उस रीति में बनाये हुये अपने सब ग्रन्थों

में टवर्गीय, परुषवर्ण, संयुक्ताक्षर और बड़े बड़े समास जान बूझकर छोड़ दिये हैं। अतएव उनके ग्रंथ एक विद्वान् के कथनानुसार शहद के समान मीठे हैं। कालिदास के ग्रंथों में शृङ्गार और करुण इन दो रसों की प्रमुखता होने से उनके अनुरूप ही भाषा शैली भी मिलती है। क्योंकि शृङ्गार विशेषतः विप्रलम्भशृङ्गार और करुण में पाठकों का मन अत्यन्त पिघल जाता है। अत उन रसों के वर्णन में कोमल वर्णयुक्त रचना बहुत ही उचित होती है। नादमधुर शब्द योजना की ओर टेनिसन की तरह कालिदास ने बहुत ध्यान दिया है। उन्होंने अपने काव्यों में बार बार जाँच कर अनेक कल्पनायें और शब्द बदले होंगे। हमारा विचार है 'रघुवंश' के ग्यारहवें सर्ग के ४७ और ४८ ये दो समानार्थक श्लोक कालिदास के माने जाँय तो उन में से एक के रचने के बाद उसकी कल्पना नापसंद होने पर उन्होंने दूसरा श्लोक रचा होगा। इतने परिश्रम से रचे हुये काव्यों में क्लिष्टता और कृत्रिमता कहीं नहीं आने पाई, वे नवोन्मीलित पुष्पों के समान ताजे और रस से भरे हुये देख पड़ते हैं। इसी में उस कविवर की कला का परमोत्कर्ष है। ललित पदयोजना पर कालिदास का विशेष आग्रह था, इसी से संस्कृतानभिज्ञ पाठकों का मन उनकी श्रुतिमनोहरता पर ही आकृष्ट हो जाता है। उसी तरह कालिदास के ग्रंथों में समासों का यथोचितकर्म उपयोग होने के कारण उनकी रचना में सर्वत्र सरलता, सुबोधता और प्रसाद ये गुण दृष्टिगोचर होते हैं। बड़े बड़े समासों के रखने से रचना कितनी क्लिष्ट हो जाती है और उस में कृत्रिमता आ जाती है, यह बाण के 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' से स्पष्ट है। उसके साँप की तरह लंबे और दीर्घ समासों का अर्थ लगाते समय पाठकों को इतनी तकलीफ होती है कि उसकी सुंदर कल्पनाओं की ओर से उनका ध्यान सहज ही

हट जाता है। दीर्घसमासयोजना नाटकों में तो और भी हानिकारक है। उदाहरणार्थ, भवभूति का 'मालतीमाधव' नाटक लीजिये। उस में भी स्त्री पात्रों के मुँह से समासप्रचुर क्लिष्ट भाषा निकलने के कारण रसिकों का मन ऊब जाता है। इसके विरुद्ध कालिदास के नाटकों में सभाषण अतिसरल भाषा में हैं और इसलिये वे स्वाभाविक और सहज सुंदर हुये हैं।

४ अलंकार

उत्कृष्ट काव्य में प्राय ध्वनि या रस प्रतीत होने पर भी सर्वत्र उसी की अपेक्षा करना इष्ट नहीं होता। काव्य का प्रधान उद्देश्य आनंद की भावना के उद्रेक की तरह कल्पना से भी हो सकता है। अतएव भामहादि आलंकारिकों ने कल्पना के विलास—अलंकारों को काव्यनिर्माण में मुख्य मानकर उसका विस्तार के साथ वर्गीकरण और विवेचन किया है। अलंकारों की समुचित योजना से रसोत्कर्ष में सहायता मिलती है, यह ऊपर दिये हुये उदाहरणों से स्पष्ट देख पड़ेगा। अतएव महाकवियों ने अपने काव्यों में उनका उपयोग अच्छी तरह किया है।

अलंकारों के शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा शब्दार्थालंकार, ये तीन भेद माने गये हैं। अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकार विशेष कृत्रिम हैं इसीलिये रसिकों को कम प्रिय मालूम होते हैं। कलाभिज्ञ कालिदास ने उनका कहीं भी अधिक उपयोग नहीं किया है। रचना के प्रवाह में जहाँ वे सहजस्फूर्ति से सूझे, वहीं उनकी योजना की गई है। उदाहरणार्थ, 'भुजे भुजगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज।' (रघु० २, ७४), 'सम्बन्धिन सद्म समाससाद' (रघु० ७, १६), 'प्रजा प्रजानाथ पितेव पासि' (२, ४८) इत्यादि

पक्तियों में अनुप्रास देखने योग्य हैं । कभी कभी विवक्षित अर्थ की प्रतिध्वनि भी उस में दिखाई देती है । उदाहरणार्थ 'मायूरी मदयति मार्जना मनासि' इस में मकारानुवृत्ति से मृदग के ताल का सुन्दर अनुकरण दिखाई देता है ।

यमक—

इस अलकार के लिये कवि को बड़े प्रयत्न से विशिष्ट शब्द खोज खोज कर योजना करनी पड़ती है । अतएव उसकी रचना में कृत्रिमता आ जाती है और रस भग हो जाता है । इसलिये शृगार रस के, विशेषत विप्रलम्भ शृगार के वर्णन में यमकों का उपयोग न करना चाहिये यह ध्वनिकारों ने नियम बनाया है । कालिदास ने भी अपने शृगाररसप्रधान ग्रन्थों में कहीं भी यमकों का विशेष उपयोग नहीं किया । पात्रों के सभाषण में तो उन्हें सतकता से टाल ही दिया है । अन्यत्र भी जहां उपयोग दोषावह नहीं होगा वहीं उन्होने उसका क्वचित् उपयोग किया है । उदाहरणार्थ, 'वधाय वध्यस्य शर शरण्य' (रघु० २, ३०), 'मनुष्यवाच्चा मनुवशकेतुम्' (रघु० २, ३३) इत्यादि में देखिये । नवम सर्ग के पहिले ५४ श्लोकों में दशरथ की राज्यव्यवस्था, वसन्त ऋतु, मृगया, इत्यादि का वर्णन करते समय उन्होंने चतुर्थ पाद के आरम्भ में 'यमवताम वतां च धुरि स्थित' (रघु० ६, १), 'सनगर नगर भ्रकरौजस' (रघु० ६, २) इत्यादि में यमक की योजना की है । किन्तु इसमें शृगारादि रसों का सबध न आने के कारण रसहानि का दोष भी नहीं आ सकता । इतना ही नहीं, कवि से योजित यमकों के नाद माधुर्य से पाठकों का मन आनन्दित हो उठता है और कवि के भाषाप्रभुत्व को देखकर आश्चर्य होता है ।

श्लेष—

ध्यथक शब्दों की योजना से इस अलकार की उत्पत्ति होने के कारण उसका स्वाद लेने के लिथ रसिकता की अपेक्षा विद्वत्ता ही विशेष आवश्यक होती है । इसका उद्देश्य, हृदय का नहीं, बुद्धि का आनद है । कालिदास क उत्तरकालीन वाङ्मय में भी रसिकता की अपेक्षा विद्वत्ता को ही विशेष मान मिलता था । कवियों ने इस अलकार का बहुत उपयोग किया है । अतएव उनके काव्य क्लिष्ट और दुर्बोध हो गये हैं । कालिदास ने बहुत कम स्थानों में—जहाँ उसके कारण विशेष रम्यता आती हो या सारे वर्णन में वह आवश्यक हो, वहाँ से ही—श्लेष का उपयोग किया है । 'मालविकाग्निमित्र' का सविधानक देते समय मालविका के मुख से राजा पर उसका प्रेम व्यक्त करने के लिये कालिदास ने श्लेष का किस खूबी से उपयोग किया है यह हम पहिले दिखा आये है । इस समय उस नाटक के पाँचवें अक के सवाद का कुछ अश उद्धृत करते हैं—

विदू०—भो विश्रब्धो भूत्वा त्वमिमा यौवनवतीं पश्य ।

देवी०—काम् ?

विदू०—तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम् ।

विदूषक को अलकृत और यौवन भरी हुई मालविका की ओर राजा का ध्यान खींचना था । मगर उसके शब्द रानी ने सुन लिये अतएव उसके प्रश्न का उत्तर देते समय 'यौवनवतीम्' इस शब्द का श्लेष से दूसरा अर्थ लेकर और अशोक वृक्ष के पुष्प की शोभा से उसका सबध लगाकर उसने अपना छुटकारा पा लिया । इस जगह छेकापह्नुति नामक सुदर अलकार श्लेष से साधा गया है ।

तस्मिन् काले नयनसलिल योषिता खण्डितानां
शान्ति नेय प्रणयिभिरतो वत्म भानोस्त्यजाशु ।
प्रालेयास्र कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्या
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूय ॥
मेघ० ४१

इस श्लोक में 'हे मेघ ! प्रातःकाल अपनी कमलिनीरूपी खण्डिता प्रणयिनी के कमलमुख से हिमरूपी अश्रु पोंछने के लिये सूर्य के प्रवृत्त होने और तेरे उसका हाथ पकड़ने पर (यानी किरणों के रोकने से) वह तुझ पर बहुत नाराज होगा' यह अति रम्य कल्पना करने के लिये 'कर' शब्द का श्लेष आवश्यक समझ कर कैसी रमणीय योजना की गई है ! कालिदास के श्लेषों का अर्थ साधारण पाठकों को भी आसानी से समझ में आ जाता है और श्लेष से कहीं भी क्लिष्टता या रसभंग दिखाई नहीं देता । इस स्थल पर कालिदास की एक अन्य विशेषता का उल्लेख करना योग्य है । उसके काल्पनिक पात्रों के नाम कुछ खास मतलब से रक्खे हुये मालूम होते हैं । 'मालविकाग्निमित्र' के पाँचवें अंक में मालविका को कारागार से विमुक्त कर उसको उद्यान में भेज देने के बाद विदूषक राजा के पास आता है । पीछे से वे दोनों उद्यान की ओर जाते हैं । इतने में मार्ग में राजा को इरावती की दासी चन्द्रिका दीख पड़ती है । उस समय राजा विदूषक को दीवार की ओट में छिप जाने के लिये कहता है । उसका विदूषक यों उत्तर देता है 'सचमुच चोरों को और कामी पुरुषों को चन्द्रिका से बचना चाहिये ।' इस में 'चन्द्रिका' शब्द पर विदूषक ने श्लेष किया है । इसी तरह बकुलावलिका, अवसिद्धि, प्रियंवदा इत्यादि पात्रों के नाम भी अपना खास अर्थ रखते हैं, यह कालिदास ने पात्रों के संभाषण में दिखाया है ।

शब्दों में, चित्र की तरह खींच दिया है शायद किसी चित्रकार के लिये भी वह सभव न होगा।

परन्तु स्वभावोक्ति की अपेक्षा वक्रोक्तिमूलक उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्तादि अलकारों में कवि की चचल कल्पना का रम्य विलास दीख पड़ता है। उसमें पृथ्वी से लेकर आकाश तक सर्वत्र स्वैर विहार करने वाली और सामान्य लोगों को नीरस तथा भद्दी मालूम होने वाली चीजों में भी सौन्दर्य का दर्शन करने वाली उसकी तीव्र दृष्टि, विविध शास्त्रों के न्यासग से उत्पन्न हुई बहुश्रुतता, अनेक कलाओं के प्रयोग से प्राप्त नैपुण्य और व्यवहार में आये हुये अनुभवों की स्वच्छ परछाई पड़ी हुई दिखाई देती है। इसीलिये हम ने पहिले कवि के चरित्र विषयक अनुमान के लिये उन अलकारों का उपयोग किया है। किसी एक सुभाषितकार ने 'उपमा कालिदासस्य' कह कर उनकी उपमाओं की अलौकिकता दिखाई है। कालिदासकृत उपमाओं की विविधता, मार्मिकता तथा रम्यता ध्यान में लाने से इस विधान की यथार्थता में शका नहीं रहती। परन्तु 'उपमा' शब्द का व्यापक अर्थ लेकर रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास इत्यादि अन्य सादृश्यमूलक अलकारों के विषय में भी वही विधान किया जाय तो भी वह अन्वर्थ ही होगा। प्रथम कालिदास कृत उपमाओं की विशेषता दिखाकर उस अलकार की ओर विचार करें—

(१) रम्यता—

कालिदास कृत उपमाओं का सौन्दर्य प्रथम ही दृष्टि में आ जाने वाली विशेषता है। सामान्य लोगों के चर्मचक्षुओं को न दीख पड़ने वाली वस्तुओं का सौंदर्य कवि के मनश्चक्षुओं के आगे नहीं छिपता।

उदाहरण के लिये 'मेघदूत' में से 'रेवा द्रक्ष्यस्युपलविषमां विन्ध्यपादे विशीर्णां, भक्तिच्छेदैरिव विरचिता भूतिमङ्गे गजस्य।' (मेघ० १६) इसी उपमा को लीजिये। विन्ध्य पहाड़ की तलहटी के चट्टानों वाले प्रदेश में बहनेवाली नर्मदा नदी के प्रवाह को हाथी के बदन पर खींचे गये हुये चित्र विचित्र रंग के बेल बूटों की उपमा देकर कवि ने उसकी रमणीयता व्यक्त की है। कालिदास की उपमायें किसी स्थान पर भी श्लेषमूलक नहीं हैं। वे सहजरम्यसाम्य के ऊपर बनी हुई रहती हैं। उससे विरुद्ध, बाण, सुबन्धु श्रीहर्ष आदि की उपमायें श्लेषाधिष्ठित होने के कारण अत्यन्त कृत्रिम मालूम होती हैं। उदाहरणार्थ बाण की 'कादम्बरी' की उपमा लीजिये—'सा (कादम्बरी) जानकीव पीतरक्तेभ्यो रजनिचरेभ्य इव चम्पकाशोकेभ्यो बिभेति।' इसमें राक्षस और चम्पक तथा अशोक इन में वास्तविक साम्य न होते हुये भी दोनों हो के लिये 'पीतरक्त' विशेषण कह सकते हैं इसलिये श्लेषमूलक उपमा ठीक हुई है। ऐसी उपमाओं में कवि का भाषा नैपुण्य भले ही दीख पड़े पर सहृदय रसिकों को वे अच्छी नहीं लगती।

२ यथार्थता—

कालिदासकृत उपमायें अति यथार्थ मालूम होती हैं। उनके द्वारा पाठकों के मन में वर्णनीय चीजों की यथार्थ कल्पना उत्पन्न होती है। 'शाकुन्तल' में शार्ङ्गरवादि तपस्वी जनों के साथ आई हुई शकुन्तला को देख कर 'मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्' इस तरह की अत्यन्त यथार्थ उपमा राजा ने दी है। और उसके द्वारा वृद्ध ऋषियों की रूखी आकृति में शकुन्तला का विशेष रूप से चमकने वाला यौवन सूचित किया है। 'मेघदूत' में

(श्लो० ६) यक्ष ने स्त्रियों के हृदय को कुसुम की उपमा दी है। देशी पुष्पों की सुगन्ध, रमणीयता और किञ्चित् गरमी से ही कुम्हला कर नीचे गिर पड़ने वाली प्रवृत्ति ये सब देखने से स्त्रियों के निसर्ग मधुर, प्रेममय और अल्प विरह से ही व्याकुल होनेवाले हृदय की दी हुई उपमा यथायोग्य मालूम होती है। इन्दुमती की मृत्यु के बाद वसिष्ठ का उपदेश मानकर और अपना पुत्र दशरथ अल्पवयस्क था इसलिये अज ने, राज्य-पालन में कुछ दिन विताये तो भी उस काल में पत्नी शोक से उसका हृदय धीरे धीरे विदीर्ण हो रहा था। इस कल्पना को व्यक्त करने के लिये किसी विशाल महल के पास अंकुरित होने वाले और अपनी जड़ धीरे धीरे फैला कर कालान्तर में महल को जड़ से उखाड़ डालने वाले प्लक्ष वृक्ष के पौधे की उपमा दी है।

(३) विविधता—

कालिदास की उपमाओं पर सामूहिक रूप से विचार करके उनकी विविधता मन को आश्चर्यान्वित कर देती है। आगमभेद से उनके इस तरह भेद बनाये जा सकते हैं—

(अ) सृष्टपदार्थीय—

लता, वृक्ष, फूल, फल, पृथ्वी पर के भिन्न भिन्न प्रकार के प्राणी, आकाश के ग्रह नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, धूमकेतु इत्यादि सृष्टि के सकल पदार्थों में से उन्होंने अपनी उपमायें ली हैं। इससे उनकी विशाल दृष्टि की कल्पना की जा सकती है। उदाहरणार्थ कण्व ऋषि को अचानक मिली हुई बाल्यावस्था की सुंदर शकुन्तला को मन्दार के वृक्ष पर स्वेच्छा से गिर पड़ने वाली नवमालिका कुसुम की, मदन दाह के बाद दुख से व्याकुल होने वाली रति को तालाब का पानी

सूख जाने से व्याकुल होने वाली मछली की तथा त्रिभुवन को सताने वाले तारकासुर को धूमकेतु से दी हुई उपमायें देखिये।

✓ (आ) शास्त्रीय–

कालिदास ने व्याकरण, दर्शन, राजनीति, वैद्यक इत्यादि अनेक शास्त्रों से अनेक सुन्दर तथा चुनी हुई उपमायें ली हैं। सुरों को अपने स्थान से जबरदस्ती हटाने वाले शत्रु को सामान्य नियमों को बाध करने वाले अपवादों की, बाली की गद्दी पर बिठाये हुये सुग्रीव को धातु के स्थान में आने वाले आदेश की, स्वबल से शत्रु का नाश करने को समर्थ शत्रुघ्न के पीछे रामाज्ञा से चलने वाली सेना को अध्ययनार्थ 'इ' धातु के पीछे लगे हुये निरर्थक 'अधि' उपसर्ग की इत्यादि व्याकरण विषयक उपमायें पढ़कर संस्कृत व्याकरणाभिज्ञ पाठकों को बड़ा आनन्द होता है। हिमालय से उत्पन्न मेनका की पुत्री, पार्वती को राजनीति में उत्साह गुणों से प्राप्त होने वाली संपत्ति की उपमा अर्थशास्त्र से, प्रबल तारकासुर के आगे निष्फल सुरों के उपायों को उग्र औषधि से भी न हटने वाली सान्निपातिक ज्वर की उपमा वैद्यक शास्त्र से और ब्राह्म सरोवर से निकलने वाली सरयू नदी को 'अव्यक्त से उद्‌भूत होने वाली बुद्धि (महत्) तत्त्व की उपमा सांख्य दर्शन से ली है। इन उपमाओं के कारण उन प्रकरणों का भाव अच्छी तरह व्यक्त होता है और बहुश्रुत पाठकों को आनंद भी प्राप्त होता है।

✓ (इ) आध्यात्मिक–

सृष्टि के व्यक्त पदार्थों से उपमान लेकर वर्ण्य विषय को सुगम करने की कवि की सामान्यतः प्रवृत्ति होती है। कालिदास ने अपने 'ऋतुसंहार' में वही मार्ग पकड़ा है। परन्तु आगे अधिक अनुभवी

होने पर अमूर्त कल्पनाओं से या मनोव्यापारों से भी उन्होंने कुछ उपमायें ली हैं । ऋषि वशिष्ठ की धेनु के पीछे जानेवाले दिलीप को श्रद्धायुक्त विधि की, माता को अलकृत करने वाले भरत को सपत्ति को शोभा देने वाले विनय की उपमा पढ़ते ही चमत्कार उत्पन्न होता है । कालिदास के पूर्वकालीन अश्वघोष ने भी इसी तरह की कुछ उपमायें दी थीं जिससे सभवत कालिदास को ऐसी उपमायें सूझी होंगी ।

(ई) व्यावहारिक—

कवि को कुछ उपमायें व्यवहार और अनुभव से सूझी हुई मालूम होती हैं । 'सच्छिष्य को दी हुई विद्या के समान, शकुन्तला तू दुष्यन्त को सौंपने से अशोचनीय हुई है ।' इस तरह कण्व के भाषण की उपमायें और 'अभ्यास से विद्या प्रसन्न होती है उसी तरह तुम सदैव सेवा करके इस धेनु को प्रसन्न करो ।' इस तरह वसिष्ठ के दिलीप को दिये हुये उपदेश में कालिदास के स्वानुभव की परछाईं दीख पडती है ।

(४) औचित्य—

कालिदास ने अपने काव्य और नाटकों में पात्रों के लिये जो उपमायें दी हैं वे सब अपने अपने प्रसग के योग्य ही हैं । साथ ही वे अत्यन्त स्वाभाविक भी मालूम पडती हैं । खब्बू विदूषक के मुख से चन्द्रमा को टूटे हुये मोदक की, समुद्र गृह के पास शिलाखड पर सोये हुये मोटे विदूषक को निपुणिका दासी के मुख से बाजार के साड की और सदैव अध्यापनरत कण्व के द्वारा शकुन्तला को दी गई विद्या की उपमायें देखने योग्य हैं । इनमें उन उन व्यक्तियों के स्वभाव स्पष्ट दीख पड़ते हैं ।

(५) पूर्णता—

कालिदासपूर्वकालीन व्यास, वाल्मीकि आदि कवियों द्वारा अंकित की हुई उपमाओं में उपमान और उपमेय का साम्य किसी एक अंश में दिखाई देता है। अन्य विषयों का साम्य पाठकों को स्वकल्पना से मालूम करना पड़ता है। उदाहरणार्थ महाभारतान्तगत नलदमयन्ती आख्यान की, नीचे उद्धृत की हुई उपमा लीजिये— 'तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव। संपूर्णां पुरुषव्याघ्रैः सिंहैर्गिरिगुहामिव॥' इस में दमयन्ती-स्वयंवरार्थ इकट्ठी हुई राजसभा को एक ही श्लोक में भोगवती नगरी और गिरि-गुफा की— इस तरह दो उपमायें दी हैं। परन्तु उन में से एक का भी पूर्ण विस्तार नहीं हुआ है। उसके विरुद्ध कालिदास ने अपनी उपमाओं में उपमान और उपमेय का सर्वांगीण साम्य दिखाया है, इस कारण अधिक चमत्कार उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ इन्दुमती-स्वयंवर के समय अपने स्थान पर जाकर बैठे हुये अज का वर्णन लीजिये—

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम्।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह॥

रघु० ६, ३

इस में अज के उच्चासन को पर्वतशिखर की और उस आसन पर पहुँचने के लिये बनाई हुई सीढ़ियों को पर्वत के पास पड़ी चट्टानों की उपमा देने से सिंह से अज का सर्वांगीण साम्य ध्यान में आ जाता है। इसी तरह से उपमान और उपमेय का लिंग वचनादि में साम्य होना चाहिये, ऐसा आलंकारिकों ने नियम बनाया है। कालिदास के पूर्वकालीन कवियों की उपमायें इस संबंध में अत्यन्त दोषयुक्त मालूम होती हैं। कालिदास ने भी अपने पहिले के

रचे ग्रन्थ में सर्वत्र इस नियम का पालन नहीं किया। उदाहरणार्थ 'मालविकाग्निमित्र' में 'सा तपस्विनी देव्याधिकतर रक्ष्यमाणा नाग रक्षितो निधिरिव न सुख समासादयितव्या' इस उपमा को देखिये। इस में धारिणी को नाग की और मालविका को निधि की इस तरह जो दो उपमायें दी हैं वे अन्य दृष्टि से अन्वर्थ होते हुये भी उपमानोपमेयों के लिंगसाम्य के अभाव में दोषयुक्त दीख पड़ती हैं। इसके विरुद्ध, 'शाकुन्तल' में 'कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतटोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवित धारयिष्ये' शकुन्तला के इस भाषण में कवि ने जानबूझकर 'चन्दनलता' शब्द की योजना करके *लिंगसाम्य* कर दिया है। *लिंग* वचनभेद होने पर भी यदि सहृदयों को उद्वेग न हुआ हो तो उपमा सदोष नहीं माननी चाहिये, ऐसा 'काव्यादर्शकार' का जो वचन है, उसको प्रमाण मानकर अन्य स्थानों में भी कालिदास की उपमाओं का समर्थन किया जा सकता है।

कालिदास का विशेष झुकाव उपमालकारों की ओर होने पर भी उन्होंने अन्य अनेक रमणीय अलकार अपने ग्रन्थों में दिये हैं। 'रघुवश' के 'राममन्मथशरेण ताडिता' (११, २०) इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक में और 'अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै' (शाकु० २,१०) इत्यादि मनोहर दुष्यन्तोक्ति में रूपक अलकार आया है। इन में से पहले स्थान पर एक ही कल्पना का विस्तार करके साग रूपक अलकार बनाया है। तो दूसरे में एक के बाद एक इस तरह अनेक रूपकों की योजना करके शकुन्तला का सौन्दर्य, कोमलता, उन्माद कता इत्यादि गुण सूचित किये हैं। तो भी कालिदास का मन रूपक की अपेक्षा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास इन अलकारों में ही विशेष तल्लीन हुआ दीखता है। उनके पहिले के ग्रथ 'ऋतु

सहार' 'मालविकाग्निमित्र' आदि में कवि की प्रतिभा से उत्प्रेक्षा अलकार के चमत्कार कहीं कहीं देख पड़ते हैं। परन्तु 'मेघदूत' में मालूम पडता है कि उत्प्रेक्षा की कवि ने वर्षा ही कर दी है। उस खण्डकाव्य का विषय भी इस अलकार के अत्यन्त अनुकूल है। कालिदास ने अलका का मार्ग बतलाते समय, मार्ग में आने वाले पर्वत, नदी आदि के ऊपर मेघ आने से कैसा दृश्य हो जाता है इसका वर्णन यक्ष के मुख से अनेक उत्प्रेक्षाओं द्वारा करवाया है। पक्कफलधारी आम्रवृक्षों से आच्छादित आम्रकूट पर्वत पर मेघ के आने पर वह पर्वत ऐसा दिखाई देता है मानो पृथ्वी का अनावृत स्तन है, चर्मण्वती नदी का जल लेने के लिये मेघ के झुकने पर गगनविहारी व्यक्तियों को ऐसा मालूम होगा कि मानो वह पृथ्वी के मोतियों का एक हार है, जिसके बीच में इन्द्रनील मणि जडा हुआ है, शुभ्र कैलास पर्वत मानो भगवान् शकर का प्रतिदिन बढ़ने वाला हास्यसचय है इत्यादि 'मेघदूत' की उत्प्रेक्षायें अत्यन्त हृदयगम हुई हैं। उत्प्रेक्षा की तरह दृष्टान्त अलकार भी कवि को प्रिय मालूम होता है। 'रघुवश' में इन्दुमती की मृत्यु एकाएक होते ही उसका शरीर अज के शरीर पर गिर पडा और उसको तत्काल मूर्च्छा आ गई। उस समय का वर्णन करते समय दीपक से तैलबिन्दु के साथ नीचे गिरने वाली दीपज्योति का रमणीय दृष्टान्त कवि ने दिया है। शकुन्तला जब दुष्यन्त के लिये अपना अनुराग व्यक्त करती है तब उसकी सखियाँ 'सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति', 'क इदानीं सहकारमुज्झित्वाऽतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते' इस तरह अनुरूप दृष्टान्त से अपनी सम्मति व्यक्त करती हैं। निर्दय दुर्वासा के सिवा अन्य कौन निरपराध शकुन्तला को शाप दे सकेगा, यह भाव 'कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धु प्रभवति' इस दृष्टान्त में

अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। इसी तरह अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कालिदास के अर्थान्तरन्यास में उनके व्यावहारिक अनुभवों का सारसर्वस्व अत्यन्त रसीली वाणी में अंकित हुआ है और उन में से कितने ही अलंकार कहावतों के तौर पर व्यावहारिक भाषा में प्रचलित हो गये हैं। उदाहरणार्थ, 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' 'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः', 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' इत्यादि उक्तियाँ देखिये। इसके अलावा कवि ने निदर्शना, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, पर्याय, समुच्चय, संदेह, विभावना इत्यादि अनेक अलंकार घड़ कर अपनी कवितावधू को अलंकृत किया है। इन सब के उदाहरण स्थलाभाव के कारण यहाँ नहीं दिये जा सकते। जिज्ञासु पाठकों को मम्मटादि आलंकारिकों के ग्रंथों में जहाँ तहाँ वे दीख पड़ेंगे।

यहां तक हम ने ध्वनि, रस, रीति और अलंकार इन संस्कृत साहित्यशास्त्रज्ञों के मतचतुष्टय के अनुसार कालिदासकृत ग्रंथों की समीक्षा की है और काव्य कसौटी पर वे कैसे खरे उतरते हैं, यह भी हम ने दिखाया है। अब हम उनकी अन्य विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

आधुनिक समालोचक रसालंकारादिकों के समान ही काव्य नाटकों की संविधानकरचना, स्वभावपरिपोष इत्यादि अन्य विशेषताओं की ओर भी ध्यान देते हैं। इन विषयों में कालिदास के ग्रन्थों की तुलना किसी अन्य कवि के ग्रन्थों से की जाय तो वे कम सरस नहीं प्रतीत होंगे। 'मालविकाग्निमित्र' के कथानक में बहुत से सूत्रों की उलझन होने पर भी अन्त में कवि ने बड़ी कुशलता से उन्हें सुलझाया है। 'शाकुन्तल' में नायक नायिका के स्वभाव के भिन्न भिन्न मनोविकारों का उत्तम विश्लेषण किया है।

इसके अतिरिक्त कालिदास के ग्रंथों में अनेक जातियों के और भिन्न भिन्न व्यवसायियों के चित्र मार्मिकता अंकित किये हुए मिलते हैं। उनकी रची हुई रमणीय सृष्टि में काश्यप, कण्व और दुर्वासा ये परस्पर भिन्न स्वभाव के महर्षि, कौत्स के समान निःस्पृह ब्राह्मण दुष्यन्त, दिलीप, रघु, राम ऐसे कर्तव्यतत्पर राजर्षि, अज और यक्ष जैसे पत्नी वियोग से छटपटाने वाले प्रेमी जीव, अग्निमित्र और अग्निवर्ण के समान विलासी राजा, हरदत्त और गणदास के समान कलानिपुण परन्तु परस्पर कीत्यसहिष्णु नाट्याचार्य, गौतम, माणवक, माढव्य ऐसे तीन तरह के विदूषक और भोलेपन से सिंहशावक के दाँत गिनने वाले सर्वदमन से लेकर स्वपराक्रम से यवनों को पराजित करके अश्वमेध के अश्व को वापिस लाने वाले वसुमित्र तक—छोटे और बड़े राजकुमार दीख पड़ते हैं। परिस्थिति के परिवर्तन से यदि ये व्यक्ति आजकल के व्यवहार में नहीं दीख पड़ते तो भी इस में शक नहीं कि इस प्रकार के लोग अवश्य दीख पड़ेंगे। कालिदास कालीन परिस्थिति का विचार करने से मालूम होता है कि उसने अपने पात्र इर्द गिर्द की सृष्टि से लिये होंगे। 'विक्रमोर्वशीय' के नायक के स्वभाव में तत्कालीन नगरवासियों की वृत्ति का कैसा प्रतिबिम्ब पड़ा है इस बात को हम पहले बतला चुके हैं।

✓परन्तु कालिदास के पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों ने रसिक लोगों का मन अधिक आकर्षित किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में धारिणी, औशीनरी, पार्वती, उर्वशी, इरावती, मालविका, यक्षपत्नी, शकुन्तला, प्रियंवदा, अनसूया, सुदक्षिणा, इन्दुमती और सीता ये तेरह महत्त्व के स्त्री-पात्र निर्माण किये हैं। इन में से धारिणी, औशीनरी और सुदक्षिणा मध्यम उम्र की और अवशिष्ट तरुणियाँ हैं। उर्वशी के अप्सरा होने के कारण उसकी गणना युवतियों में

ही की जा सकती है। कालिदास की स्त्री सृष्टि में तरुण स्त्रियों के सख्याधिक्य का विचार करने से विलासी तथा शौकीन कवि का मन तरुण स्त्रियों की मुग्ध मधुर लीला में विशेष रमण करता हुआ दीख पड़ता है । ये सब स्त्रियाँ भिन्न भिन्न स्वभाव की हैं। धारिणी, औशीनरी और अनसूया का गभीर स्वभाव, इरावती की ईर्ष्या, मालविका, उर्वशी, यक्षपत्नी और इन्दुमती की विलासिता, पार्वती की कठोर साधना, शकुतला और सीता का स्वाभिमान, प्रियवदा का विनोदी स्वभाव और सुदक्षिणा की कर्तव्यपरायणता ये स्वभाव की भिन्न भिन्न विशेषतायें प्रधानता से दृष्टिगत होती हैं। तो भी अधिकाश में उनका साम्य हम दिखा सकते हैं। ये सब स्त्रियाँ अत्यन्त प्रेमिल हैं। इन में से विवाहित स्त्रियों का पतिप्रेम, पुत्रवती का सतानप्रेम और प्रियवदा आर अनसूया का सखीप्रेम, निस्सीम है। धारिणी और औशीनरी उत्कट पतिप्रेम के कारण ही अपने अपने पति की प्रेमसबधी अनुचित बातें पसद न होने पर भी

पति को सुख होगा, केवल इसी विचार से नई पत्नी को लाने के लिये सम्मति देती हैं। इन में से बहुतों के स्वभाव में बहुत कुछ अश तक स्त्रीस्वभावसुलभ ईर्ष्या भी पाई जाती है । यक्षपत्नी जानती है कि उसके ऊपर पति का असाधारण प्रेम है यदि स्वप्न में उसको परस्त्री का ध्यान करता हुआ देखती है तब एकाएक दुखित होकर चौंक पड़ती है (मेघ० ११६)। इरावती तथा औशीनरी अपने अपने पति को यद्यपि वे उनके पैरों पर पड़ कर अपना अपराध स्वीकार करते हैं तथापि दुतकार देती हैं। कालिदास की अधिकाश मानसकन्यायें कलानिपुण हैं। इरावती और मालविका नृत्यकला में तथा प्रियवदा और अनसूया चित्रकला में निपुण बताई गई हैं। यक्षपत्नी विरहावस्था में अपने दुखी मन को कुछ

सान्त्वना देने के लिये कभी कभी ऐसे पदों को रचती थी जिन में पति का नाम होता था, और वीणा बजा कर उन पदों को गाने का प्रयत्न करती थी। कभी विरह से कृश पति का चित्र खींच करके मन बहलाती थी। इसी तरह कालिदास के स्त्रीपात्रों में से अधिकांश लतावृक्षों पर सन्तान के समान प्रेम करने वाली दिखाई देती हैं। पार्वती, सीता, शकुन्तला और उनकी सखियाँ आश्रम के वृक्षों को पानी देतीं तथा बड़े प्रेम से उनकी शुश्रूषा करती थीं। यक्षपत्नी ने अपने घर के आंगन में एक छोटे से मन्दार वृक्ष को गोद लिये हुये बेटे के समान पाल पोस कर बड़ा किया था। धारिणी का प्रेम अपने उद्यान के सुवर्णाशोक वृक्ष पर इतना था कि जब बसन्त ऋतु में अन्य वृक्षों के साथ उस में कलियाँ नहीं लगीं तब उसको अत्यन्त दुःख हुआ। मालविका के चरणप्रहार के बाद शीघ्र ही उस में आया पुष्पसभार देख कर आनन्द की लहर में स्त्रीस्वभावसुलभ सपत्नीमात्सर्य को भी भूल कर उसने स्वयं मालविका के साथ राजा का विवाह कर दिया। कालिदास की नायिकायें लतावृक्षों की तरह पशुपक्षियों से भी निस्सीम प्रेम करने वाली हैं। यक्षपत्नी सन्ध्या के समय अपने भवन के आगन में रत्नजटित सुवर्ण की लकड़ी पर बैठे हुयें मोर को मधुर तालरव से नचाया करती थी। शकुन्तला ने जन्म ही से मातृहीन दीर्घापाङ्ग नामक मृगछौने को अच्छी तरह से पाल पोस कर बड़ा किया था। कालिदास ने वर्णन किया है कि पार्वती हिरनियों से इतनी हिल गई थी कि वह उनके नेत्रों की लम्बाई की अपनी सखियों के नेत्रों से तुलना करती थी। ऊपर उल्लिखित स्त्री पात्रों के अतिरिक्त अन्य भी कई युवतियों के अस्फुट शब्दचित्र 'मेघदूत' में कवि ने खींचे हैं। सदाचार नीतिकल्पना में मुक्तमनस्क होने के कारण

वनकुंज में आनन्द मनाने वाली वनचरवधू तथा विदिशा के पास नीचैर्गिरि में नागरिकों के साथ विहार करनेवाली वार विलासिनी, महाकालेश्वर के आगे नृत्य करने वाली वेश्यायें, आकाश में गहरे काले तथा विशाल मेघ देख कर ये सब पवन से लाई हुई पहाड़ की चोटियाँ हैं ऐसा समझने वाली सरल स्वभाव सिद्धागनायें और कृषिकार्य के लिये आवश्यक मेघों की ओर स्निग्ध दृष्टि से देखने वाली भ्रविलासानभिज्ञ, ग्रामतरुणियाँ, इन सब का संक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन कवि ने किया है। तथापि इन की अपेक्षा पौरस्त्रियों का ही वर्णन उनके ग्रंथों में बार बार आता है। अँधेरी रात में रत्नालकारों से भूषित होकर प्रिय के पास जाने वाली और मेघगर्जना से भयत्रस्त होनेवाली अभिसारिकायें, नगर के समीपस्थ उद्यान में फूल बीनने से उत्पन्न हुये श्रम के कारण पसीने से तर होने वाली 'पुष्पलावी' तरुणियाँ, कटाक्षनिक्षेप में चतुर और चंचल नेत्रवाली पौरस्त्रियाँ, परदेश गये हुये प्रियतमों के विरह से व्याकुल तथा अपने शरीर की ओर ध्यान न देनेवाली पथिक वनिताओं के शब्द-चित्र कवि ने बड़ी कुशलता से खींचे हैं। जब भगवान् शंकर और अज विवाह के लिये नगरप्रवेश करने लगे तब स्त्रियों की हल चल का वर्णन कवि ने किया है। उससे और 'मेघदूत' के यक्ष पत्नी के वर्णन से हम को तत्कालीन पौरस्त्रियों के विलासी जीवन की पूर्णता मालूम होती है।

कालिदास की स्त्री विषयक कल्पनायें अत्यन्त उदात्त थीं। 'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ' यह, अजविलाप की इस उक्ति से मालूम होता है। तथापि गृहिणी और मंत्री इन दो संबंधों से उसके स्त्री-पात्रों ने अपने कर्तव्यों का पालन

किया इस बात का वर्णन उनके ग्रंथों में कहीं नहीं पाया जाता। इस दृष्टि से 'स्वप्नवासवदत्त' में राजकार्य के लिये अपनी मृत्यु की झूठी खबर फैला कर पति का विरहदुःख सहने वाली तथा ईर्ष्यादि विकारों को मन में स्थान न देने वाली और अपनी सौत को भी पुष्पालंकारों से भूषित करने वाली भास की नायिका वासवदत्ता, तथा पति से बिना कारण त्यागी होने पर भी प्रजारंजन की तत्परता के कारण उसकी प्रशंसा करने वाली भवभूति की सीता, कालिदास के विलासी स्त्री-पात्रों की अपेक्षा अधिक उदात्त मालूम होती हैं। कालिदासकृत तीनों नाटकों के नायक बहुपत्नीक हैं। इसलिये समीक्षक कहते हैं कि वे एकपत्नीव्रत की महत्ता नहीं जानते थे। इस बात से हम सहमत नहीं हैं। क्योंकि 'मेघदूत' का यक्ष और 'रघुवंश' के अज और राम एक पत्नीव्रतधारी ही हैं। कालिदास के नाटकों के नायकों के बहुपत्नीक होने का कारण उनका राजाश्रय होना ही है। राजदरबार में दिखाया जाने वाला नाटकीय विषय राजचरित्र ही होना चाहिये। उस में यदि उनका बहुपत्नीत्ववर्णन न आया होता तो आश्चर्य की बात होती। जिस समय भवभूति ने नाटकों की रचना की थी उस समय उनके सामने राजाश्रय का बंधन नहीं था। अतएव उनके 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' नाटकों में विशुद्ध पति-पत्नी प्रेम का चित्र रंगा गया है।

सृष्टिवर्णन—

आधुनिक पाठकों को कालिदास के ग्रंथों की लगन लग जाने का दूसरा कारण उन में अंकित किया हुआ अप्रतिम सृष्टिवर्णन है। कालिदास में सृष्टिवर्णन करने की विशेष प्रवृत्ति थी। हम ने पीछे बतलाया है कि उनके ग्रंथों में किसी न किसी ऋतु का वर्णन

आया ही है। तो भी 'ऋतुसंहार' से 'रघुवंश' तक उनके ग्रंथों का क्रमश पाठ करने से मालूम होता है कि प्रकृति की ओर निहारने की तथा उनके सृष्टिवर्णन करने की रीति में कैसा परिवर्तन हो गया था। 'महाभारत' और 'रामायण' के अधिकांश भाग में लता वृक्षों की लम्बी चौड़ी लिस्ट देकर सृष्टिवर्णन किया हुआ मिलता है। इस में संदेह नहीं कि 'ऋतुसंहार' में कालिदास इस से बहुत आगे बढ़ गये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कवि की नजर सृष्टि के उज्ज्वल रूप की ओर लगी हुई है। (ऋतु० ३, २)। ऋतु विभिन्नता से कामी व्यक्तियों पर होने वाले परिणामों का तथा उनके मन में उत्पन्न होने वाले विकारों और विचारों का उन्होंने यथार्थ वर्णन किया है। इस में संदेह नहीं कि निसर्ग के नदीवृक्षों पर चेतनधर्म का आरोप करके उनका अलंकारिक वर्णन ही उनकी रचना में है। तथापि सारी सृष्टि में एक ही चैतन्य भरा हुआ है, स्त्रीपुरुष के समान लतावृक्षादि उसके ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं, ऐसी कल्पना उनके पहले के ग्रन्थों में नहीं मिलती। बाद के ग्रन्थों में उपनिषदों के वर्णन के अनुसार उन्होंने कुछ स्थान पर लता वृक्षों में वन-देवता का अस्तित्व माना है। 'मेघदूत' में एक जगह लिखा है कि स्वप्न में पत्नी का दर्शन होने पर बड़ी प्रसन्नता से आलिंगन करने के लिये यक्ष अपनी भुजायें पसारता है, यह दृश्य देख कर वनदेवताओं की आँखों से मोती के समान स्थूल अश्रुबिंदु वृक्ष के पत्तों पर गिरते हैं। 'शाकुन्तल' में यह बतलाया है कि जब शकुंतला वन से विदा होने लगी तब कुछ वृक्षों में निवास करने वाली वनदेवताओं ने अपने कोमल हाथ कलाई तक बाहर निकाल कर उस को अलंकार दिये थे। अन्य स्थानों पर लतावृक्षों को सचेतन समझ कर मनुष्य प्राणी की विपदावस्था से पशु पक्षी की

तरह उन्हें भी सहानुभूति होती है । रावण सीता को लेकर जिस मार्ग से गया था वह मार्ग लताओं ने अपनी शाखायें और पल्लव उस ओर करके राम को सूचित किया था । हरिणियों ने दर्भांकुर (तृण) खाना छोड़ कर दक्षिण दिशा की तरफ दृष्टि करके वही कार्य किया (रघु० १३, १४, १५)। इस तरह के वर्णन से कवि ने प्रकृति की सुख दुःख-संवेदना प्रकट की है। 'कुमारसंभव' में मनुष्य के समान अन्य प्राणियों के ऊपर तथा लतावृक्षादि अचेतन मानी गई वस्तु पर भी वसन्तादि ऋतुओं का कैसा परिणाम होता है, इसका वर्णन किया गया है (कुमार० ६, ३६, ३९) । कवि की सब नायिकाओं को फूलों का बड़ा शौक है । कालिदास के ग्रन्थों में तत्कालीन लोगों का पुष्पानुराग दिखाई देता है । शहर के बाहर फूलों के विशाल बगीचे थे, और तरुण बालिकायें उन में फूल बीनतीं और शहर में जाकर बेचतीं थीं । बड़े बड़े महलों में पुष्पों का सुगन्ध प्रवाहित रहता था । तत्कालीन स्त्रियों की पुष्पमय वेष भूषा से कालिदास को अलका की रमणियों का निम्नलिखित वर्णन सूझा होगा—

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामाननश्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥

मेघ० ७१

'जिस अलका में स्त्रियाँ हाथ में लीलाकमल, केशपाश में बालकुन्द, मुख पर लोध्रपुष्प का चूर्ण, बालों के जूड़े में नया कुरबक पुष्प, कान में सुंदर शिरीष पुष्प और सिर की माँगों में

कदम्ब फूल—इस तरह से सब ऋतुओं के पुष्पों को धारण करती हैं।'

कालिदास का निसर्गवर्णन अत्यन्त सूक्ष्म तथा मार्मिक है। उनका मन राजशिबिर के इर्द गिर्द के दृश्यों में, ऋषियों के तपोवन में, पर्वत की उच्च चोटियों पर, और मृगया के जंगलों में—एक ही तरह से लीन होता है। उनके खींचे हुये निसर्ग के चित्र केवल साम्प्रदायिक रीत्यनुसार नहीं हैं, किन्तु उन में प्रत्यक्ष निरीक्षण की नवीनता, सहृदयता की भावना, रसिकता तथा कल्पना की उड़ान भी नजर आती है। विस्तार भय से यहाँ अन्य उदाहरण नहीं दिये गये हैं। परन्तु पहिले उद्धृत किये हुये श्लोकों से ही सहृदय पाठकों को ऊपर दिये हुये विषयों की सत्यता में सन्देह न रहेगा। इस विषय को समाप्त करने से पहिले कालिदास की कल्पना का निदर्शन के तौर पर उनके सृष्टिवर्णन की एक विशेषता का उल्लेख यहां आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होंने अनेक स्थान पर आकाश चारी व्यक्तियों को भूभाग के पदार्थ कैसे दीख पड़ते हैं, इसका रम्य वर्णन स्वकल्पना से किया है। 'मेघदूत' में नदी-पहाड़ों के ऊपर मेघ आने से कैसा दृश्य दीख पड़ेगा इसका वर्णन यक्ष ने किया है। दुष्यन्त को स्वर्ग से हेमकूट पर्वत पर उतरते समय पृथ्वी कैसी दीख पड़ी, इसका वर्णन नीचे दिये हुये श्लोक में है—

> शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
> पर्णाभ्य तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
> सन्तानात्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगा
> केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते॥
>
> शाकु० ७, ८

'पहाड़ के वेगपूर्वक ऊपर आने के कारण ऐसा दीख पड़ता है कि मानो उसकी चोटी के नीचे पृथ्वी जा रही है। शाखा के दीख पड़ने से वृक्ष पहिले की तरह पत्तों से आच्छादित नहीं दिखाई देते। दूर से निर्जल मालूम होतीं हुई नदियाँ अब साफ दीखने लगी हैं। देखो, ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो पृथ्वी (गेंद की तरह) ऊपर फेंकी जाकर मेरी ओर आ रही हो।' आजकल की हवाई दौड़ में नीचे उतरने वाले लोगों को भी ऐसा ही अनुभव होता है। इससे कालिदास की कल्पना के विषय में सानन्द आश्चर्य होता है।

विनोद—

कालिदास कृत ग्रंथों के संबंध में ध्यान में रखने लायक एक अन्य विशेषता उनका विनोद है। जयदेव कवि ने भास को कविता कामिनी का हास्य कहा है। वर्तमान में उपलब्ध भास के तेरह नाटकों में से सिर्फ चार पाँच नाटकों में ही विनोद पाया जाता है। इसलिये यह शंका उत्पन्न होती है कि कहीं अनुप्रास-लालसा से तो जयदेव ने यह वर्णन नहीं किया है? चाहे जो हो तो भी उस उक्ति का यह अर्थ नहीं है कि अन्य कवियों की कृतियों में उत्कृष्ट तरह का विनोद नहीं पाया जाता है। किं बहुना कालिदास की कृतियों में भी अनेक स्थानों पर उत्तम कोटि का सुरुचिपूर्ण विनोद है। ध्यानपूर्वक विचार करने से यह भावना मन में आये बिना नहीं रहती कि कालिदास को भी 'कविताकामिनी का हास' यह उपाधि शोभित होगी।

विनोद की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है, कि असंबद्धता, अनपेक्षितपन, कृत्रिमता, पाखंडीपन आदि कारणों से जो हास्यो

त्पादक चमत्कार उत्पन्न होता है, वही विनोद है। विनोद के, स्वभावनिष्ठ, प्रसगनिष्ठ और शब्दनिष्ठ इस प्रकार तीन भेद किये जा सकते हैं। ये तीनों ही कालिदासकृत ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उसके नाटकों में मुख्य विनोदी पात्र विदूषक है। 'मालविकाग्निमित्र' में गौतम, 'विक्रमोर्वशीय' में माणवक, और 'शाकुन्तल' में माढव्य, इनके स्वभाव में कहीं कहीं साम्य और कहीं कहीं वैषम्य पाया जाता है। ये तीनों ही विदूषक ब्राह्मण और नायक के नर्मसचिव हैं। उनका काम राजा का मनोरजन करना और उसके प्रेमव्यवहार में यथाशक्ति सहायता देना है। तीनों ही ब्राह्मण जाति के होने पर भी निरक्षर भट्टाचार्य हैं। इसलिये उनको हँसी में महाब्राह्मण कहा है। देखने में तीनों ही बड़े कुरूप हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में एकाएक इरावती के आ जाने से राजा का गौतम भी चक्कर में पड़ जाता है। इतने में वसुलक्ष्मीनामक छोटी राजकन्या पिंगल वानर से डर जाती है और उसके सँभालने के लिये इरावती राजा को वहाँ भेजती है जिस से गौतम भी आपत्ति से छुटकारा पा जाता है। उस समय वह पिंगल बदर को बधाइयाँ देता है। 'ऐन मौके पर तू अपने मित्र की रक्षा करने आ गया।' 'विक्रमोर्वशीय' में मन में किसी तरह की शका न कर माणवक को प्रणाम करने के लिये राजा के अपने पुत्र से कहने पर माणवक जवाब देता है—'डर काहे का? इसने आश्रम में बन्दर तो देखे ही होंगे।' इन स्थलों में शरीर की बदसूरती के कारण विनोद उत्पन्न हुआ है। फिर भी कुरूप आदमी का खुद अपने लिये ही मजाक करना उतना चुभता हुआ नहीं दिखाई देता। अस्तु। इसके अतिरिक्त तीनों विदूषक पेटू और सुस्त जान पड़ते हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में गौतम अन्त पुर की स्त्रियों के त्यौहारों पर दी गई दान दक्षिणा से खूब मोटा दिखाई देता है।

'विक्रमोर्वशीय' में माणवक को रसोई घर में पञ्चविध व्यजन तैयार होते देखने के सिवा अन्य विनोद का साधन ही नहीं सूझता। 'शाकुन्तल' का माढव्य, अरण्य में अनियमित समय में प्राप्त होने वाले रूखे सूखे भोजन तथा गदले पानी से अत्यन्त ऊब जाता है। तीनों ही विदूषकों को हमेशा आँखों के आगे खाद्य पदार्थ ही दीख पड़ते हैं। अतः उन को उपमा दृष्टान्तादि अलंकार उन खाद्य पदार्थों से ही सूझे दिखाई देते हैं। वैसे ही ये तीनों अत्यन्त डरपोक भी हैं। गौतम केतकी पुष्प की नोक अपनी उँगली में चुभाकर सर्पदंश का अभिनय करने में निपुण है, तथापि निद्रित अवस्था में साँप की तरह टेढ़ी मेढ़ी लकड़ी शरीर पर गिरने से अत्यन्त भयभीत हो जाता है। माढव्य को पहले तो शकुन्तला को देखने की अत्यन्त उत्सुकता होती है परन्तु आगे चलकर राक्षसों के डर से वह उत्सुकता बिल्कुल मिट जाती है। इस तरह उनके स्वभाव में नितान्त साम्य होने पर भी बहुत सी विषमतायें हैं। इन में गौतम, चालाक, धीठ, तथा धूर्त है तो माणवक नितान्त भोला और माढव्य जितना उससे कहा जाता है उतना ही करने वाला है। विदूषकों के स्वभाव में यह जो उत्तरोत्तर भेद दिखाई देता है वह कालिदास ने जान बूझ कर किया है। 'मालविकाग्निमित्र' में पात्रों का स्वभाव चित्रण करते समय उस नाटक में गौतम की करतूत के कारण नायक कर्तृत्वहीन पात्र बन गया है यह पीछे दिखाया जा चुका है। नायक के स्वभाव का उत्थान करने के लिये और विदूषक के स्वभाव में विसंगति हटाने के लिये कालिदास ने अपने अन्य नाटकों में प्राचीन परम्परा की तरह विदूषक को पेटू, मूर्ख तथा सुस्त दिखाया है। विदूषक के भाषण में घरेलू उपमा, दृष्टान्त आदि से आश्चर्य उत्पन्न होता है और विनोद भी अच्छा लगता है।

हरदत्त और गणदास के कलह के कारण धारिणी को यह डर लगता है कि कहीं मालविका राजा की दृष्टि में न पड़ जाय। इस कारण जब वह कहती है कि 'मुझे इनका विवाद ही पसन्द नहीं है' तब गौतम उत्तर देता है 'रानी साहिबा, देख लो मेढों की टक्कर! क्या इन को फिजूल ही वेतन दिया जाता है?' इस में कलह करने वाल नाट्याचार्य को दी हुई मेंढे की उपमा अनपेक्षित होने के कारण विनोदोत्पादक जान पड़ती है। जब औशीनरी रानी अपने पति को उर्वशी के पीछे पड़ा हुआ देखती है तब प्रियानु प्रसादन व्रत के मिस से रोहिणीयुक्त चन्द्र को साक्षी बना कर उर्वशी से प्रेम भाव से वर्ताव करने का अपना निश्चय प्रगट करती है। उस समय विदूषक कहता है, 'हाथ से मछली छूट जाने पर मछलीमार कहता है कि अच्छा हुआ मुझे पुण्य मिलेगा!' इस में मच्छीमार का दृष्टान्त वैसा ही आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। रनिवास के स्त्री पात्रों को छोड कर वन की मुनि कन्या के ऊपर आसक्त हुये दुष्यन्त को, हमेशा मीठे छुहारे खाकर ऊबे हुये आदमी को इमली चखने की इच्छा होती है, ऐसी जो उपमा दी है वह भी वैसी ही विनोदवर्धक है।

विदूषक अत्यन्त भोला भाला और मन्द बुद्धि होने के कारण काव्यमय उक्ति या कथन नहीं समझ पाता है। वाच्यार्थ ही सच है ऐसी भावना करके वह अपने को हास्यास्पद बना लेता है। वसत ऋतु की आम्र मजरी को दुष्यन्त मदनबाण कहता है, तब माढव्य लाठी लेकर मदन बाणों का नाश करने के लिये दौडता है यह देखते ही दुखी राजा को भी हँसी आ जाती है।

कालिदास ने जैसे नायकों को विदूषक दिये हैं वैसे ही नायिकाओं को विनोदी सहेलियाँ दी हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में

मालविका की समदुखी, विपत्ति में न डिगने वाली 'विमर्दसुरभि' सखी बकुलावलिका, सदैव उर्वशी के साथ रहने वाली चित्रलेखा और शकुन्तला की स्नेहमयी विनोदिनी सहेली प्रियवदा इन की बातचीत में उत्तरोत्तर अधिक विनोद पाया जाता है। पाठकों ने पीछे देखा होगा कि श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से बकुलावलिका मालविका के मुख से राजा से सम्बद्ध प्रेम कैसी खूबी से व्यक्त करवाती है। चित्ररथ गधर्व के साथ स्वर्ग में जाते समय राजा को एक बार और देखने के बहाने उर्वशी अपनी मुक्तामाला लता में उलझी हुई प्रदर्शित करती है और चित्रलेखा को उसे सुलझाने के लिये कहती है। तब वह हँस कर कहती ह— 'यह बहुत ही उलझी हुई मालूम होती है। इसे सुलझाना बहुत कठिन है। प्रयत्न करके देखूँगी।' परन्तु इन दोनों की अपेक्षा प्रियवदा अधिक विनोदिनी है। उसके विनोद में उसका स्वच्छन्दी और आनन्दी स्वभाव अच्छी तरह से झलकता है। जब वसन्त ऋतु में नई कोपलों से पूर्ण आम्रवृक्ष और कलियों से लदी हुई वनज्योत्स्ना के रमणीय सयोग को शकुन्तला बडी देर तक देखती है तब प्रियवदा कहती है, "अनसूया! क्या यह तेरे ध्यान में आया कि शकुन्तला वनज्योत्स्ना की ओर इतने गौर से क्यों देखती है? वनज्योत्स्ना को जैसा योग्य वृक्ष मिला है वैसा ही अनुरूप पति क्या मुझे भी मिलेगा? इस तरह के विचार उसके मन में आ रहे हैं।" उसका विनोद शकुन्तला मन से तो पसन्द करती है किन्तु उपर से क्रोध का भाव प्रदर्शन करती है। 'शाकुन्तल' नाटक के पहले अक में ऐसे तीन चार प्रसग आये हैं। उस में कवि ने समवयस्क, स्नेहमय, तरुण, अविवाहित लडकियों में हमेशा होने वाले रम्य विनोद का सुन्दर चित्र खींचा है। पार्वती के विवाह के

समय पैरों में महावर लगा कर सखी विनोद से कहती है "इस से चन्द्रकला को ताडन कर जो तेरे पति के सिर पर बैठी है।" उस समय पार्वती से कुछ कहते न बना और वह अपने हाथ में ली हुई पुष्पमाला से उसको मारने लगी, ऐसा 'कुमारसंभव' में कवि ने वर्णन किया है। 'रघुवंश' में भी अनेक राजाओं को नापसंद करके केवल अज पर ही आसक्त होने वाली इन्दुमती को उसकी सखी सुनन्दा विनोद से कहती है कि 'चलो, अब हम दूसरे राजा की ओर चलें।" तब इन्दुमती क्रुद्ध होकर उसकी ओर देखती है। यहाँ भी वैसा ही विनोद दीख पड़ता है। इस के अतिरिक्त विसंगत बर्ताव से अपना आडम्बर व्यक्त करने वाले पात्र निर्माण करके मानवी स्वभाव के दोष भी कालिदास ने दिखाये हैं। स्वतः शिकार से ऊब जाने पर भी सिर्फ राजा को खुश करने के लिये उसकी प्रशंसा करके हाँ में हाँ मिलाने वाले सेनापति तथा एक घड़ी पहिले धीवर के गले में लाल फूलों की माला डाल कर उसको वधस्तम्भ की ओर ले जाने के लिये अत्यन्त उत्सुक, परन्तु उसके पास मिला हुआ पुरस्कार देख कर मदिरा पीने की आशा से उसके जानी दोस्त बननेवाले सिपाहियों का विनोदी दृश्य भी 'शाकुन्तल' में खींचा गया है।

कालिदासकृत ग्रन्थों में प्रसंगनिष्ठ विनोद के भी कुछ उदाहरण पाये जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति स्वयं विनोदी न हो, फिर भी किसी समय ऐसी परिस्थिति में पड़ जाता है कि उस समय उसका बर्ताव और बातचीत उसके ध्यान में आये बिना ही विनोद उत्पन्न करती है। 'मालविकाग्निमित्र' के पहिले अंक में नाट्याचार्यों का कलह ऐसा ही है। मालविका को देखने के लिये उत्सुक परन्तु

ऊपर से यह बहाना करने वाला कि मै बिल्कुल उसके बारे में कुछ जानता ही नहीं, ऐसा अभिमित्र, निष्पक्षपात का बहाना करके राजा का मनोरथ पूर्ण करने के लिये सब के सामने मालविका का नाट्यप्रसग कराने वाली परिव्राजिका, उपहासपूर्ण वचनों द्वारा गणदास को चिढ़ाने वाला गौतम धारिणी रानी को ऐसी पेंचीली स्थिति में डाल देता है कि लाचार होकर उसको नाट्यप्रयोग की सम्मति देनी ही पड़ती है। यह प्रयोग राजा के सामने नहीं होना चाहिये इसलिये वह जितना ही प्रयत्न करती है, उतना ही यह प्रसग उसके सिर पर पड़ता है। यह दृश्य बड़ी निपुणता से दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त कालिदास ने दूसरे ही प्रकार के विनोदी प्रसग की आयोजना कुछ स्थानों पर की है। जिस समय दो व्यक्तियों की भेट होती है, अगर उस समय एक का सच्चा स्वरूप दूसरे को मालूम न हो तो उनकी बातचीत में विनोद उत्पन्न होता है। ऐसे प्रसग भास के 'मध्यमव्यायोग' और 'पञ्चरात्र' नाटकों में आये हैं। कालिदास के 'कुमारसभव' में भी अजिनदण्डधारी ब्रह्मचारी का स्वरूप धारण करने वाले भगवान् शकर और दृढ निश्चय से पतिप्राप्ति के लिये तपश्चर्या करने वाली पार्वती की बात चीत में इस प्रकार का विनोद आया है। ऐसा ही एक दूसरा प्रसग 'रघुवश' के सिंह दिलीप सवाद में आया है। परन्तु उसका पर्यवसान दिलीप के आत्मत्याग में होने से उस में विनोद की अपेक्षा गाम्भीर्य की छटा अधिक है।

अस्तु, कालिदास के नाटक राजदरबार में विद्वत्परिषद् के आगे खेले जाते थे। अत गँवार लोगों की समझ में आने वाला और रुचने वाला विनोद तथा अश्लील भाव उनके नाटक में दिखाई नहीं देता। शब्दगत विनोद भी कई जगह उन में पाया जाता है।

तो भी उन स्थानों पर किया गया विनोद विद्वानों को पसन्द होने वाला ही है। राजा के शकुन्तला के ऊपर अपने प्रेम की अभिव्यंजक बातें कहने पर विदूषक कहता है 'कृत त्वयोपवन तपोवनमिति पश्यामि' ऐसा जान पड़ता है कि तूने तपोवन को उपवन ही बना डाला है। इस में उपवन और तपोवन के उच्चारण-सादृश्य से विदूषक ने विनोद किया है। 'मालविकाग्निमित्र' में बकुलावलिका तथा विदूषक के शब्द-श्लेषमूलक छल के उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं। 'विक्रमोर्वशीय' में राजा के उर्वशी का सौन्दर्य वर्णन करने पर विदूषक कहता है "यह मालूम होता है कि इसीलिये आप ने दिव्यरसाभिलाषी बन कर 'चातकव्रत' लिया है।" उर्वशी दिव्यलोक की अप्सरा है। इसलिये राजा के उसके प्रति प्रेम को 'दिव्यरसाभिलाष' कहा है। चातक पक्षी का मेघ से दिव्य रस की अभिलाषा करना प्रसिद्ध है। इस स्थल पर भी शब्द-श्लेष से छल किया गया है। तथापि शब्द-श्लेष में कालिदास की अधिक आसक्ति न होने के कारण ऐसी श्लेषगर्भ उक्तियाँ उनके काव्यों में अधिक मात्रा में नहीं पाई जातीं।

परिहास की तरह उपहास करने में भी कालिदास बड़े निपुण हैं। मालविका को राजा की दृष्टि में न पड़ने देने की इच्छा से रानी धारिणी अपने नाट्याचार्य से कहती है 'तुम व्यर्थ ही इस पचड़े में मत पड़ो।' इस पर विदूषक कहता है—'रानी साहबा! आपका कहना ठीक है। गणदास! तू संगीत के बहाने सरस्वती के आगे नैवेद्यार्थ प्रस्तुत कर लड्डुओं को खाने वाला है। तू इस माथापच्ची में न पड़। इस में तेरी हार निश्चित है।' राजा को मालविका के दर्शन के लिये हर तरह की कोशिश करते देख कर धारिणी बोली—'अगर आप राजकार्यसञ्चालन में ऐसी ही निपुणता दिखलायें तो

बहुत अच्छा होगा।' यों कह कर वह राजा के एक तमाचा सा मारती है। जब मालविका से प्रेमालाप करते समय राजा पकड़ा जाता है तब "तूने यहाँ आने में देर की, इसलिये उतने समय क लिये इसके साथ मैं अपना दिल बहला रहा था।" इस तरह कह कर उसने इरावती को सान्त्वना देने का प्रयत्न किया। तब उसने उत्तर दिया—'मुझे नहीं मालूम था कि मेरी अनुपस्थिति में आप को ऐसी विनोद सामग्री मिल गई है। नहीं तो यह मन्दभागिनी यहाँ आती ही नहीं।' उनके अन्य नाटकों में भी ऐसी ही उक्तियाँ आई हैं।

यहाँ तक कालिदास के ग्रथों की अनेक रमणीयताओं का उल्लेख किया गया है। इस से पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी कि कालिदास के ग्रथ आज लगभग डेढ़ हजार वर्षों से सस्कृत प्रेमियों को क्यों प्रिय हो रहे हैं। परन्तु प्रत्येक मनुष्यकृति में कुछ न कुछ त्रुटि, अथवा दोष होते ही हैं। इसके अनुसार समालोचकों ने कालिदास कृत ग्रथों में भी बहुत से दोष ढूँढ निकाले हैं। इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले उनका सक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है।

पिछले किये हुये विवेचन के अनुसार कालिदासरचित ग्रथों में शृगार तथा करुणारस का उत्कृष्ट परिपाक मिलता है। उस में भी करुणारस में भवभूति उनकी अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुये हैं। 'कारुण्य भवभूतिरेव तनुते'—यह सुभाषितोक्ति प्रसिद्ध ही है। हमारे विलासी, रगीले और सौन्दर्यान्वेषक कालिदास रौद्र, करुणा, वीर तथा बीभत्स रस का निर्वाह अच्छी तरह नहीं कर सकते थे। 'रघुवश' के ७वें सर्ग में इन्दुमती के विवाह के बाद—उनके न मिलने से निराश हुये—राजाओं का युद्ध वर्णन है। परन्तु उस में

ललित मधुर पदों की योजना होने के कारण वीर और रौद्र रस की अच्छी पुष्टि नहीं हो सकी। भट्ट नारायण कवि का 'वेणीसहार' नाटक वीररस की दृष्टि से कहीं अधिक अच्छा है। कालिदास के ग्रथों में नीच श्रेणी के पुरुषों के चित्र कहीं पर भी दिखाई नहीं देते। उनकी नाट्य सृष्टि में विविधता कम है। 'विक्रमोर्वशीय' और 'शाकुतल' के प्रथम दृश्य में नायक नायिका का दर्शन, परस्पर प्रेमसूचक हाव भाव, नायक को पुन देखने की इच्छा से नायिका का किसी बहाने उस जगह रुकना, इत्यादि प्रसगों में इतनी समानता है कि ऐसा मालूम होता है, मानो कवि ने 'शाकुन्तल' सदृश सर्वोच्च नाटक की रचना अच्छी होनी चाहिये, इस विचार से 'विक्रमोवशीय' नाटक लिखने का प्रयत्न पहले किया होगा। 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय' में इसी तरह का प्रसग साम्य आया है। उनके नाटक के अधिकाश पात्र ऐसे हैं जो राजदरबारी कवि की दृष्टि के सामने हमेशा आते रहते हैं। उन में भास तथा शूद्रक कवि की सर्वतोगामी निरीक्षणशक्ति और सहानुभूति नहीं दीखती। हम पहले यह बतला चुके हैं कि उनकी नाट्य-स्त्री-सृष्टि में उदात्तता का अश कम है। इसके अतिरिक्त ऐसा जान पड़ता है कि कवि का लक्ष्य निसर्ग गम्भीर तथा भीषण रूप की ओर नहीं रहा था। अगर उस ओर उनका लक्ष्य गया भी हो तो अपने सौम्य स्वभाव के कारण उन्हें वह पसद न हुआ होगा। गम्भीर प्रकृति भवभूति के नाटक में उस रूप का यथाथ रूप दीख पड़ता है।

प्रोफेसर कीथ साहब ने अपने Sanskrit Drama (सस्कृत नाटक) में (पृ० १६०) कालिदास के सबध में निम्नलिखित उद्‌गार निकाले हैं—"कालिदास के ग्रथ प्रशसार्ह हैं। तथापि वह

अपने काव्य-नाटकों में जीवन और भाग्य, इन महत्त्व के प्रश्नों पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते, इस बात को छिपाना उचित नहीं होगा। जर्मन कवि गेटे के द्वारा की हुई प्रशंसा और सर विलियम जोन्स ने 'भारतवर्ष का शेक्सपियर' की जो उपाधि उन्हें दी है वह यथार्थ है। तथापि यह स्पष्ट है कि कालिदास की तत्कालीन ब्राह्मण प्रणीत धर्म के ऊपर निष्ठा होने के कारण उनकी सहानुभूति के विषय, अन्य कवियों की अपेक्षा कम हुये हैं। उनका विश्वास था कि मनुष्य अपने कर्मों से दैव की उत्पत्ति करता है। उस दैव का ही सर्वत्र न्याय्य अधिकार चलता है। इसी कारण से 'संसार एक दुःखपूर्ण स्थान है, इस में अन्याय का राज्य चल रहा है' ऐसी भावना का होना और बहुजन समाज के कष्टमय जीवन की ओर सहानुभूति का उत्पन्न होना उनके लिये सम्भव नहीं था। अपनी संकुचित सीमा के बाहर वे नहीं जा सकते थे।" प्रो० कीथ का यह मत अधिकांश में संगत है। हम पीछे बतला चुके हैं कि कालिदास की नाट्यसृष्टि में विविधता कम है। परन्तु इसका कारण वे ब्राह्मण धर्मानुयायी थे, यह नहीं है, किंतु वे राजकवि थे यह है। परन्तु प्रो० कीथ की टीका में जो मुख्य आक्षेप है वह दूसरा ही है। ऐसा जान पड़ता है कि ऊपर बतलाये हुये विधान का प्रतिपादन करते समय उनकी नजर के सामने प्राचीन ग्रीक नाट्यसाहित्य था। प्राचीन ग्रीक नाटकों के सुखान्त तथा दुखान्त दो विभाग हैं। ग्रीक लोग स्वयं बड़े आनन्दी, विलासी तथा कलाभिज्ञ थे। ऋग्वेद कालीन आर्यों के अनुसार उन्होंने भी सृष्टि के भिन्न भिन्न स्वरूपों और व्यापारों में चेतन धर्म का आरोप करके अनेक सुन्दर देवी और देवताओं की कल्पना की थी। तथापि उनके शोक पर्यवसायी नाटकों पर दैववाद की भीषण छाया पड़ी हुई दीख पड़ती है।

सृष्टि के गूढ रहस्यों के भीतर दैव नाम की एक बलिष्ठ, सर्वव्यापी और निष्ठुर शक्ति है। मनुष्यों की तरह देवादिकों पर भी उसका अधिकार है। उसके आगे सब को गर्दन झुकानी ही चाहिये। यदि कोई उसका प्रतिकार करने लगे तो वह अधिक निष्ठुरता से अपनी इच्छा पूरी कर लेती है, ऐसा ग्रीक लोगों का विश्वास था। उस दैव की कृति में कुछ विशिष्ट हेतु दीख पड़ता है या नहीं, इसका माननीय कर्मों से कुछ नैतिक सबध है या नहीं, यदि है तो किस प्रकार का, इत्यादि प्रश्नों का विचार ग्रीकों के दु खान्त नाटकों में पाया जाता है तथा उनके द्वारा जीवन के सुख दुखों के गूढ प्रश्न सुलझाने का प्रयत्न किया हुआ जान पड़ता है। कुछ नाटकों में मानवी जीवन के विविध कर्तव्यों का विरोध प्रतिबिम्बित हुआ है। कितने ही अवसरों पर नागरिकपन के कारण किंवा समाजसस्था के अग होने से वे प्राप्त कर्तव्य कौटुम्बिक कर्तव्यों का विरोध करते हैं। ऐसे समय उत्पन्न होने वाले कर्तव्यकलह के आधार पर कुछ नाटकों की रचना हुई है। ऐसे प्रश्नों का विचार कालिदास के ग्र थों में नहीं मिलता।*

यहाँ पर ध्यान में रखने लायक पहली बात यह है कि किसी भी कवि के ग्र थ स्वकालीन परिस्थिति से शून्य नहीं होते। प्रत्येक ग्र थकार की कृति पर तत्कालीन रस्म रिवाजों और आचार विचारों का थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य पड़ता है। उसकी कृति के सौन्दर्य का अगर अनुभव करना हो तो पाठकों को चाहिये कि स्वय अपने को तत्कालीन परिस्थिति में रखें। दिग्विजयी, विजयी तथा समृद्ध गुप्तक साम्राज्य में रहने वाले कवि की कलाकृति में सर्वत्र उत्साह, आनन्द

* Cf Keith—The Sanskrit Drama PP 280-81

और आशावादिता पाइ जाय तो आश्चर्य ही क्या ? उनके ग्र थों में दु खवाद की किंवा नैराश्य की काली छाया फैली हुई देख नहीं पड़ती, इसलिये उन पर नाक भौं सिकोड़ना ठीक न होगा। इसके सिवा ग्राक नाटककारों ने जिन प्रश्नों को अपने ग्रन्थों में विचाराथ लिखा है, उनके उत्तर कालिदास के पूर्वकालीन ऋृषियों ने सैकड़ों वर्षों के गभीर विचार के बाद अपने उपनिषदादि ग्र थों मे लिख रक्खे हैं। सृष्टि की मूल आधारशक्ति कोई भयकर, निर्दय और दैत्यस्वरूप शक्ति नहीं है, किन्तु सर्व यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा दयालु भगवान् का न्यायी राज्य है। हम को दुनिया में बाह्य प्रकृति अन्यायी दीख पड़ती है। किन्तु उसके नीचे न्याय अन्तर्हित रहता है। मनुष्य को इस लोक तथा परलोक में अपने कर्मों का फल चखना पड़ता है। इसलिये जीवन के त्रिविध ताप से निराश न होकर 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' की हमारे प्राचीन ग्र थों में शिक्षा दी गइ है। हरएक को चाहिये कि अपने ही प्रयत्न से अपना श्रेष्ठ ध्येय प्राप्त करे। हम आगे के प्रकरण में यह दिखायेंगे कि कालिदास की उपनिषद् और भगवद्गीता पर निस्सीम श्रद्धा होने से उन धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों का उन्होंने अपने ग्र थों में निवेश किया है। इसके अतिरिक्त सब भारतीय दार्शनिकों को कर्मवाद मान्य है। अत अगर कालिदास ब्राह्मणधर्मानुयायी न होकर बौद्ध किंवा जैन धर्मानुयायी होते तो भी उनके ग्र थों में ग्रीक नाटकों में विचारार्थ लिये हुये प्रश्नों के वैसे उत्तर नहीं मिल सकते थे।

परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उनके ग्रथों में कहीं भी दैववाद नहीं पाया जाता। उ होंने अनेक स्थानों पर सूचित किया है कि दैव किंवा भवितव्यता प्राणिमात्र के जीवन को नियन्त्रित करती हैं। इन्द्रियाँ भवित यता का अनुसरण करती हैं। इसलिये

'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक के प्रसंग में उर्वशी के मुख से 'पुरुषोत्तम' के बदले 'पुरूरवा' निकल गया। मालविका को बिना कारण सालभर अज्ञातवास के कष्ट सहन करने पड़े। अशुभ ग्रह की पीड़ा के कारण शकुन्तला को पति वियोग का दारुण दुख भोगना पड़ेगा यह जानकर कण्व मुनि ने उसके प्रतिकूल दैव की शान्ति करने के लिये सोमतीर्थ जैसे सुदूर तीर्थ की यात्रा की। इन स्थलों में कालिदास ने दैव किंवा भवितव्यता का अप्रतिहार्य आक्रमण सूचित किया है। तथापि उन्होंने अनेक स्थानों पर बतलाया है कि दैव कोई अंधी किंवा निष्ठुर शक्ति नहीं है किन्तु पूर्वजन्मों के कृत्यों का परिणाम है। स्वयं निर्दोषी हूँ और बिना कारण ही पति ने मेरा त्याग किया है, यह जानकर भी सीता पति को दोष नहीं देती बल्कि कहती है 'ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्य' (यह मेरे पूर्व जन्म के पातकों का असह्य परिणाम रूपी वज्राघात है)। उद्यान विहार करते समय इन्दुमती की एकाएक मृत्यु हो जाती है। कालिदास ने इसका कारण उसके पूर्वजन्म का अविवेक ही बतलाया है। कर्मवाद को भारतीय तत्त्वज्ञान में पुनर्जन्म की कल्पना के साथ जोड़ देने से अत्यन्त दुखी, हीन और दीन मनुष्य भी आशावादी हो जाता है। उसको विश्वास रहता है कि इहलोक का अन्याय और दुःख हमेशा टिकने वाला नहीं है। किन्तु 'चक्रनेमिक्रमेण' के अनुसार इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में उसकी परिणति अवश्य सुख में होगी। कालिदास के काव्यों में शोकमय प्रसंगों की कमी नहीं है। मदन दहन, इन्दुमती का मरण, उर्वशी का रूपान्तर, शकुन्तला का निरादर इत्यादि प्रसंगों के वर्णन से यह नहीं मालूम होता कि कवि मानव जीवन को केवल गुलाब की सेज ही समझता है। तो भी इन दुखपूर्ण प्रसंगों को

अन्तिम न मानकर उन्होंने उनका पर्यवसान सुख तथा आनन्द में किया है। इसलिये उनके काव्य नाटक पढ़ कर मन को आनन्द के साथ साथ शान्ति और सान्त्वना भी मिलती है। इस सम्बन्ध में प्रो॰ विलसन ने जो विचार प्रगट किये हैं वे उल्लेखनीय हैं—

'भारतवर्ष में—सुखान्त और दुःखान्त—यह नाटकों का भेद नहीं है, तो भी सारे हिन्दू नाटकों का पट विविध रंगों के सूत्रों से बुना हुआ दीख पड़ता है। उस में गाम्भीर्य और दुख की रूपरेखा में हास्यविनोद का पुट है। यद्यपि उनका उद्देश्य मानवी हृदय के भय और अनुकम्पासहित समस्त भावनाओं का उद्रेक प्रकट करना है तो भी प्रेक्षकों के मन पर दुखपूर्ण परिणाम उत्पन्न कर उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं की गई है।'

हम ने कालिदास के ग्रंथों की त्रुटियों का यहाँ तक विचार किया। जगत् में कोई वस्तु सर्वगुणसम्पन्न नहीं होती। इसलिये किसी के स्वभाव या कृति की त्रुटियों के कारण उस व्यक्ति को दोष देना ठीक नहीं है। परन्तु हमारी इच्छा रहती है कि उसकी कृति किंवा उक्ति निर्दोष हो। इसके अतिरिक्त काव्य में यदि कोई दोष हो तो उस में रसापकर्ष होता है, इसलिये सभी आलंकारिकों ने काव्यदोषों का सविस्तर विचार और वर्गीकरण किया है। आनन्दवर्धन जैसे रसिक साहित्यमहारथी ने भी 'तत्तु सूक्तिसहस्र द्योतितात्मना महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवति' (जिन्होंने सहस्रों सुन्दर सूक्तियों से अपने को उज्ज्वल किया है, ऐसे महात्माओं के दोषों का उद्घाटन करना समालोचकों के लिये दोषावह है) यह कह कर उन दोषपूर्ण उदाहरणों की उपेक्षा की है। परन्तु अन्य आलंकारिकों ने इतना विवेक न रख कर प्रत्येक दोष के उदाहरण महाकवियों के काव्यों में से खोज निकाले हैं।

अ य कवियों की अपेक्षा कालिदास के ग्र थों से बहुत उदाहरण लिये गये हैं । इससे कुछ अविवेकी पाठकों की यह धारणा हो सकती है कि कालिदास के ग्र थ अ य कवियों के ग्र थों की अपेक्षा अधिक दोषपूर्ण हैं । पर बात ऐसी नहीं है । उनके ग्र थों स लोगों ने जो बहुतसे उद‌ाहरण चुने उसका कारण उनकी लोकप्रियता ही है । अगर विद्यार्थी को ऐसे श्लोक में दोष बतलाया जाय जिसे वह जानता है तो उसकी समझ में उसका मतलब जल्दी आ जाता है । अ य महाकवियों के काव्य क्लिष्ट होने से उनका प्रचार कम हुआ । अत आलकारिकों ने अपने उदाहरणों में कालिदास की रचनाओं को चुना । दूसरी बात यह है कि कालिदास 'कविकुलगुरु' ठहरे, परम्परा से यह धारणा चली आती है कि दैवी प्रसाद से उनकी प्रतिभा प्रोत्साहित हुई । जब ऐसे कवि से भी ऐसी गलतियाँ होती हैं, तब अ य कवियों के सबध में क्या कहना । यह सूचित करके दोषों की सर्वत्र उपल धि तथा दोषवर्जन का महत्त्व विद्यार्थियों को और उदीयमान कवियों को अच्छी तरह समझाना, यह भी इन आलकारिकों का उद्देश्य रहा होगा । अस्तु । हम ने यहाँ कालिदास के का यों के छोटे छोटे दोषों का विचार न करके कुछ खास खास दोषों का ही विवेचन किया है ।

अश्लीलता—

सुरुचिपूर्ण पाठक के हृदय में उद्वेग उत्पन्न करनेवाले कालिदास के ग्र थों का प्रधान दोष अश्लीलता ही है । हमारे विलासी कवि को अपने रँगीले स्वभाव के कारण वर्णन के जोश में इस बात का ध्यान नहीं रहा है । 'ज्ञातास्वादो विवृतजघना को विहातु समर्थः ।' (मेघ० ४१), 'नितम्बमिव मेदिन्या स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ।'

(रघु० ४, ५८) इत्यादि उक्तियों में और अग्निवर्ण के स्त्री सभोग वर्णन में यह दोष पाया जाता है। कालिदास के ग्रंथों के कुछ भाग उद्दाम शृङ्गार पूर्ण होने के कारण पाठशालाओं में अध्यापन के अयोग्य प्रमाणित हुये हैं। इस दोष की चरम सीमा 'कुमारसम्भव' के देवीसभोगवर्णन में पाई जाती है। पहिले तो देवप्रकृति पात्रों के सम्भोग शृङ्गार का वर्णन पढ़कर पाठकों के मन में लज्जा उत्पन्न होती है। इतने पर भी उन पात्रों के अत्यन्त पूज्य तथा त्रैलोक्य के जनकजननी शिव पार्वती होने से वह अत्यन्त अनुचित लगता है। सर्वप्रमुख आलकारिकों ने कहा है, कि इस शृङ्गार का वर्णन पढ़ कर प्रत्येक सहृदय पाठक को स्वत माता पिता के सभोग वर्णन की तरह घृणा उत्पन्न होनी चाहिये। आनन्दवर्धन ने कहा है कि कालिदास जैसे महाकवि के ग्रंथों में यह दोष इतना तीव्र मालूम नहीं होता इसका कारण उसकी अलौकिक प्रतिभा है, जिस से वह छिप गया है। तथापि जैसा कि हम पीछे बतला आये हैं, तत्कालीन विद्वानों ने इसको निन्दनीय ठहराया था, अत कालिदास ने 'कुमारसम्भव' अधूरा ही छोड़ दिया। कालिदास ही के ग्रंथों में यह दोष पाया जाता है यह बात नहीं है। सस्कृत वाङ्मय में शृङ्गार रस को प्रधानता मिलने से समस्त सस्कृत काव्यों में यह थोड़ा बहुत दिखाई देता है। नाटक के दृश्यकाव्य होने से उसका रसास्वाद स्त्री पुरुषों को मिलकर और एक साथ बैठ करके चखना पड़ता है। अतएव नाटकों में तो अश्लीलता का दोष अधिक दूषणाई होता है। परन्तु भवभूति जैसे गम्भीर स्वभाव के नाटककार के 'मालतीमाधव' नाटक में तो वह उग्र रूप से पाया जाता है। यह भी ध्यान में रखने लायक है कि कालिदास के नाटकों में वह अधिकाश दिखाई नहीं देता। अधिकाश कहने का कारण यह है कि पहली नाट्यकृति

में—'मालविकाग्निमित्र' में—इरावती के भाषण में अश्लीलता सूचित हुई है। अशोक की तरह पादप्रहार सह कर अपने मनोरथ को पूर्ण करने के लिये राजा मालविका से बिनती करता है। उस समय इरावती एकाएक आगे बढ़ कर कहती है, 'इसका मनोरथ पूर्ण करो, पूर्ण करो! अशोक सिर्फ फूल देगा। परन्तु ये फूल और फल भी देंगे।'

२ च्युतसंस्कृति—

काव्य में अशुद्ध व्याकरण का प्रयोग किया गया हो तो 'च्युतसंस्कृति' का दोष लगता है। प्राचीन आलंकारिकों ने शुद्ध भाषा का महत्व ध्यान में रख कर अपने ग्रंथों का एक स्वतन्त्र प्रकरण संस्कृत कवियों के विवादास्पद प्रयोगों की समीक्षा करने के लिये लिख डाला है। कालिदास के पूर्वकालीन अश्वघोष और भास कवियों का ध्यान व्याकरण शुद्धता की ओर अधिक न था। इसीलिये उनके ग्रंथों में अशुद्ध व्याकरण प्रयोगों की भरमार दिखाई देती है। व्यास-वाल्मीकि आदि ऋषियों के काव्य में भी ये दोष पाये जाते हैं। परन्तु उनकी अलौकिक तपस्या से उनके ग्रंथों को आदर प्राप्त हो गया है तथा उन में जो व्याकरणदुष्ट प्रयोग हैं उनको 'आर्ष' कहने की प्रथा चल पड़ी है। तो भी अश्वघोषादि के काव्यों के अशुद्ध प्रयोगों के समालोचक दोषपूर्ण ही मानते हैं। कालिदास का विशेष लक्ष्य भाषाशुद्धि की ओर था। 'संस्कारवत्येव गिरा मनीषी' (कुमार० १, २८) इस उपमा में उन्होंने स्वयं कहा है कि 'सुसंस्कृत भाषा से विद्वान् पवित्र तथा शोभित होता है।' और सामान्यतः उनके ग्रंथों में दुष्ट प्रयोग बहुत कम मिलते हैं। तथापि आलंकारिकों और टीकाकारों ने असाव

धानी से की गई इन त्रुटियों का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ—

(१) लावण्य उत्पाद्य इवास यत्न। (कुमार० १, ३५)

तेनास लोक पितृमान् विनेत्रा। (रघु० १४, २३)

इन पंक्तियों में कवि ने 'अस्' धातु का द्वितीय भूतकालिक अन्यपुरुष एकवचन का 'आस' प्रयोग किया है। 'अस्तेर्भूः' (२, ४, ५२) पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार 'अस्' धातु का द्वितीय भूतकाल में स्वतन्त्र रूप का प्रयोग नहीं है। इस सम्बन्ध में 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' कार वामन ने यह कहा है कि 'अस गति दीप्त्यादानेषु'—इस धातुपाठ के सूत्रानुसार इसे दीप्त्यर्थक 'अस्' धातु का रूप मानना चाहिये। शाकटायन ने इसको विभक्तिप्रतिरूपक, विभक्त्यन्त शब्दरूप जैसा अव्यय कहा है। तथापि, ऐसा मालूम होता है कि असावधानी से कवि से यह प्रमाद पूर्ण प्रयोग हो गया है।*

(२) राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम्।

रघु० १९, ५०

इस पंक्ति में 'कामयान' यह रूप 'कामयमान' शुद्ध रूप के बदले आया है, अतः दुष्ट प्रयोग है।

यदि कहीं पर पाणिनीय व्याकरण के अनुसार कोई रूप अशुद्ध मालूम हो फिर भी श्रेष्ठ कवियों के अनेक बार उसका प्रयोग करने के कारण वह 'शिष्टसम्मत' अतएव अदुष्ट माना जाता है। कालिदास के पूर्वकालीन मान्य कवियों ने ऐसे कुछ रूपों के प्रयोग किये हैं।

---

* कालिदास से लगभग सौ वर्ष पहिले उत्पन्न आर्यशूर की 'जातकमाला' में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। (देखिये मैत्रीबलजातक)

'नोऽभ्युचूडाघ्रशासनस्य तस्य स्वबलकारवदास शास्त्रम्'।

अत कालिदास ने भी अपने ग्रंथों में उनका प्रयोग किया होगा। उदाहरणार्थ, पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि इन तीनों व्याकरणाचार्यों के मत से द्वितीय भूतकालवाचक धातुसाधित कृदन्त रूप का प्रयोग केवल वैदिक भाषा में ही होता है, लौकिक सस्कृत में नहीं। परन्तु स्वकालीन शिष्ट सम्प्रदाय का अनुकरण करने से 'त तस्थिवास नगरोपकण्ठे' (रघु० ५, ६), 'श्रेयासि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते' (रघु० ५, ३४) इत्यादि स्थलों में कालिदास ने उन धातुसाधित कृदन्तों के रूप प्रयुक्त किये हैं।* उसी तरह "व्यापारयामास' 'हासयामास' इत्यादि द्वितीय भूलकालिक रूप अखण्ड होना चाहिये, ऐसा स्पष्ट नियम कात्यायन ने अपने वार्तिक में कर दिया है। तथापि अश्वघोष ने अपने 'बुद्धचरित' में 'यथावदेन दिवि देवसङ्घा दिव्यैर्विशेषैर्महयाञ्च चक्रु।' (६, ५८) इस पंक्ति में 'महया' तथा 'चक्रु' ऐसे दो विभाग करके बीच में 'च' अव्यय ज़बर्दस्ती डाल दिया है। कालिदास ने भी इसी तरह के तीन रूप प्रयुक्त किये हैं। 'त पातया प्रथममास पपात पश्चात्' (रघु० ६,६१) 'प्रभ्रशयां यो नहुष चकार' (रघु० १३, ३६), 'सयोजया विधिवदास समेतबन्धु' (रघु० १६, ८६)। ऐसे रूप उस काल में शिष्ट समत थे†। इसलिये ई० स० ४५७ के एक शिलालेख में भी दो स्थानों में ऐसे रूपों का प्रयोग मिलता है।‡

---

* 'ऊचिवान्' (बुद्धचरित, ३, ४३), 'उपजग्मिवान्' (१२, २), इत्यादि।

† देखिये 'बुद्धचरित' (२, ११) और (८, ३)।

‡ Gupta Inscriptions No 14

निकले हैं। एक स्त्री का दूसरी को 'इन्दुवदना' कहना विचित्र सा दिखाई देता है। इसलिये यहाँ भी वही दोष प्रतीत होता है।

४ रसदोष—

अगर कवि किसी रस का वर्णन करना चाहता है तो उस को चाहिये कि उस रस को प्रवाह रूप से अखड बहाये। बीच बीच में अतराय पड़ने से सहृदय पाठक विरस हो जाते हैं। 'कुमारसभव' के चौथे सर्ग में मदन को भस्मशेष होते देखकर उसकी स्त्री रति ने जो अत्यन्त शोक किया उसका वर्णन है। 'साहित्यदर्पण' में यह बताया है कि उस में बीच में ही वसन्तागमन के वर्णन से विच्छेद होने के कारण रसहानि हुई है। उसी तरह 'रघुवश' के ताडकावध वर्णन में 'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी। गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥' (११, २०) यह श्लोक दिया है। उस में बीभत्स और शृङ्गार—इन परस्परविरोधी रसों के साहचर्य से रसभग हुआ है।

इस के अलावा आलकारिकों ने अपने ग्रथों में अविमृष्टविधेयांशत्व, भग्नप्रक्रमत्व, अक्रमत्व, श्रुतिकटुत्व, निहतार्थत्व, अनुचितार्थत्व इत्यादि दोषों के भी एक दो उदाहरण दिये हैं। विस्तारभय से हम उनका यहाँ विचार नहीं कर सकते। कुछ स्थलों में टीकाकारों ने दोषप्रदर्शन के सबध में कवि के साथ अन्याय भी किया है। उदाहरणार्थ—

काप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतो शुद्धवेषयो।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव॥ रघु० १, ४६

इस में वशिष्ठाश्रम में स्वच्छ वस्त्र धारण कर जाने वाले राजा रानी को कवि ने हिम के नष्ट होने पर उज्ज्वल दिखाई देने वाले

चित्रा नक्षत्र और चन्द्र की सुन्दर उपमा दी है और वह उपमान और उपमेय के लिंग वचनों के बारे में निर्दोष है। तथापि 'चित्रा और चन्द्र सुन्दर दिखाई देते हैं उसी तरह से राजा और रानी सुन्दर दिखाई दिये।' इस तरह कालभेद आने के कारण इस में विश्वनाथ ने 'भग्नप्रक्रमत्व' नामक दोष माना है। इतनी सूक्ष्म दृष्टि अगर स्वीकार की जाय तो कालिदास की तरह अन्य कवियों की सैकड़ों उपमायें दुष्ट माननी पड़ेंगी। अतएव कालविध्यादिभेद होने पर भी अगर सहृदयों को उद्वेग न हो तो 'काव्यादर्श'कार के नियम के अनुसार उपमा को सदोष नहीं मानना चाहिये, यही मत अधिक ग्राह्य मालूम होता है। वैसे ही 'पद सहेत भ्रमरस्य पेलव शिरीषपुष्प न पुन पतत्रिण' (कुमार० ५, ४), 'सा सन्यस्ता भरणमबला पेलव धारयन्ती' (मेघ० ६८), 'नवमालिकाकुसुम पेलवा' (शाकु० १) इत्यादि स्थानों में 'कोमल' अर्थ में पेलव शब्द का प्रयोग कालिदास ने किया है। वह शब्द कालिदास की विशेष रुचि का होगा। तथापि 'पेल' अश से स्वकालीन लाटी (गुजराती) अपभ्रश मे अश्लीलार्थ व्यक्त होता है, इसलिये कालिदास के सैकड़ों वर्षों बाद हुये मम्मट, विश्वनाथ इत्यादि आलकारिकों ने वह शब्द त्याज्य ठहराया है। हम को तो यहाँ छुआछूत का भाव दिखाई देता है। कवि ने स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि 'मेरे शब्दों का ऐसा घृणोत्पादक अर्थ किया जायगा।' भविष्य में किसी समय पर किसी भाषा में उसका ऐसा अश्लील अर्थ होगा इस बात को सर्वज्ञत्व के अभाव से वे जान नहीं सकते थे। अतः यहाँ अश्लीलत्व का दोष लगाना अयोग्य है।

आलकारिकों ने कितने ही दोष बताये हों, तो भी कालिदास की विशाल ग्रन्थसम्पत्ति से उनकी तुलना की जाय तो वे अत्यल्प

ही हैं। उनके ग्रन्थों के गुणसन्निपात में तो वे बिल्कुल छिप जाते हैं। इसलिये कालिदास की वाणी का वर्णन करते समय एक सहृदय ग्रन्थकार ने 'निर्दोष' विशेषण लगाया है। श्रीकृष्ण कवि अपने 'भरतचरित' काव्य के आरम्भ में कालिदास की भाषा का इस तरह वर्णन करते हैं—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघै।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी॥ १, ३

'कमलिनी की तरह अस्पृष्ट दोषवाली (रात में विकास न पाने वाली दूसरे पक्ष में दोषरहित), मुक्ताहार सरीखी गुणसमूहयुक्त (अनेक सूत्रों वाली दूसरे पक्ष में गुणसमुच्चयों से युक्त), प्रिया की गोद की तरह विमर्द से (सवाहन से, परीक्षण से) आल्हादकारक, भाषा कालिदास के सिवा अन्य किसी कवि की नहीं है।*

---

* इस श्लोक में श्लिष्ट विशेषणों का पहिला अर्थ कमलिनी, मुक्ताहार इत्यादि उपमानों की ओर, और दूसरा कालिदास की वाणी की ओर प्रयुक्त कीजियेगा।

आठवाँ परिच्छेद

कालिदास के विचार—

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमालीढमधव: पिबन्ति कटु भेषजम् ॥

भामहकृत 'काव्यालंकार' ५, ३

[दुर्बोध शास्त्रों का अभ्यास मधुररसपूर्ण काव्यों के द्वारा रोचक हो जाता है, जैसे रोगी कड़वी दवा का सेवन मीठी शहद के साथ करते हैं]

कालिदास के चरित्र का वर्णन करते समय चतुर्थ परिच्छेद में हम यह दिखला चुके हैं कि उन्होंने अनेक ग्रंथों का अवलोकन तथा विविध विषयों का सूक्ष्म अभ्यास किया था । धर्म, दर्शन, समाजस्थिति, राजतन्त्र, शिक्षा इत्यादि अनेक विषयों पर उन्होंने मननपूर्वक अपना मत निश्चित करके ग्रंथों में उनका उपयोग किया है । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इन विषयों के संबंध में किये गये उल्लेख फुटकर रूप में पाये जाते हैं । तो भी उनके आधार पर कालिदास के एतद्विषयक मतों का अनुमान किया जा सकता है । उन में से कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों के संबंध में हम इस प्रकरण में चर्चा करेंगे ।

धर्म तथा तत्वज्ञान—

ये दो विषय अत्यन्त महत्त्व के हैं। समाज की रक्षा, अभ्युदय और कल्याण के लिये धर्म की अत्यन्त आवश्यकता होती है। 'धारणाद्धर्ममित्याहु', 'यतोभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म' इत्यादि धर्म की व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं। भारतवर्ष में धर्म का अत्यन्त महत्त्व है। इस पुण्यभूमि में ही वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीन जगत्प्रसिद्ध महान् धर्मों का उद्गम तथा विकास हुआ है। मनुष्य के मन पर धार्मिक कल्पना का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है और उसके द्वारा मनुष्य को व्यावहारिक जीवन सयमित करने में बड़ी सहायता मिलती है, यह ध्यान में रखकर हमारे प्राचीन ऋषियों ने धर्म का व्यावहारिक जीवन के साथ सबध जोड़ दिया है। धर्म में यदि तत्त्वज्ञान का आधार न हो तो वह अन्धश्रद्धा का विषय हो जाता है, तथा कुछ काल तक परिस्थिति की अनुकूलता के कारण अथवा धर्मसस्थापक के आकर्षक वैयक्तिक गुणों के कारण प्रसार होने पर भी वह चिरस्थायी नहीं होता, यह बात ध्यान में रखकर बौद्ध तथा जैन दार्शनिकों ने शीघ्र ही अपने अपने धर्म के साथ तत्त्व ज्ञान का सबध जोड़ दिया। हिन्दूधर्म का तो आरभ ही से तत्त्वज्ञान एक अग हो गया था, यह ऋग्वेद के अन्तर्गत तत्त्वज्ञान विषयक सूक्तों से स्पष्ट हो जाता है। अस्तु।

कालिदास के समय में हिन्दूधर्म का सधिकाल था। जैन तथा विशेषकर बौद्धधर्म के प्रबल आघातों से हिन्दूधर्म के विचारशील लोग सचेत हो उठे तथा उन्हों ने अपने विशाल धर्मग्रन्थों में से अनावश्यक भाग निकाल कर अवशिष्ट भाग को व्यवस्थित रूप देकर पहिले सूत्रग्रन्थों की और पीछे सुबोध स्मृति

ग्रन्थों की रचना की। साथ ही प्रतिपक्षियों द्वारा उठाये हुये तत्त्व ज्ञानविषयक आक्षेपों का उन्होंने अपने वेदान्त आदि दर्शन सूत्रों में खण्डन किया तथा उनके पाखण्डी मत का परिहार किया। स्वयं हिन्दूधर्म उस समय अनेक परिस्थितिओं में से गुजर रहा था। बौद्ध धर्म को राजाश्रय मिलने के कारण अहिंसा तत्त्व का जनता में प्रसार हो रहा था और इस से लोगों के मन में वैदिक यज्ञयागादि विषयों पर अश्रद्धा उत्पन्न हो चली थी। बौद्धों द्वारा की गई उपहासात्मक टीका टिप्पणी के कारण लोगों का वर्णाश्रम धर्म पर से विश्वास हट चला था। प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था विकृत हो गई थी। सब लोगों को बौद्धधर्म स्वीकार कर बेरोक टोक संघ में प्रवेश पाने की सुविधा होने से पेटू और आलसी लोगों की खूब बन आई थी। ऐसी विकट परिस्थिति में राष्ट्र के विवेकी सनातनधर्मी विद्वानों ने स्वकालीन परिस्थिति को ध्यान में रख कर हिन्दूधर्म का पुनः संगठन करने के लिये याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन इत्यादि स्मृतियाँ रचीं। तथापि राजा का आश्रय न होने से कुछ काल तक उनके धार्मिक तत्त्वों का जनता में अधिक प्रचार न हुआ। ईसा के बाद चौथी शताब्दी के आरम्भ में गुप्तवंश का उदय हुआ और उस से हिन्दूधर्म को राजाश्रय मिला। गुप्तवंशीय सम्राट् हिन्दू धर्म के पक्के अनुयायी थे। उन्होंने स्वयं यज्ञयागादि अनुष्ठान किये। हिन्दू देवताओं के मन्दिर बनवाये, हिन्दू धर्मावलम्बी विद्वानों को राज्य के बड़े बड़े अधिकृत पदों पर नियुक्त किया। इस तरह उन्होंने अपने धर्म का पुनरुज्जीवन करने का प्रयत्न किया। ऐसे समय में प्राचीन हिन्दू संस्कृति के उदात्त तत्त्वों तथा उच्च आदर्शों को मनोरंजक ढंग से लोगों के आगे रख कर उनकी ओर चित्ताकर्षण करना आवश्यक था। यह कार्य, काव्य, नाटक के समान

मनोरजक रीति से उपदेशामृत पिलाने वाले ग्रथों से ही हो सकता था। मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में 'का तासम्मिततयोपदेशयुजे' यह काव्यनिर्माण का एक प्रधान प्रयोजन बतलाया है। जैसे एक सुन्दरी रमणी अपने रमणीय विलासों द्वारा अपने प्रियतम के चित्त को आकृष्ट कर उससे अपना अभीष्ट सिद्ध करा लेती है, उसी तरह कवि भी अपने मनोरम काव्यनाटकादि ग्र थों द्वारा प्रेक्षकों के मन पर अपने सदुपदेशों को प्रतिबिम्बित कर देता है। इसी कारण महाविद्वान् अश्वघोप ने यह देखकर कि अपने बनाये हुये सूखे तत्त्वज्ञान विषयक ग्रथों की ओर सामान्य लोगों की दृष्टि नहीं जाती है, बौद्ध धर्म और बौद्धदर्शन के प्रसार के लिये 'सौन्दरनन्द' आदि काव्य तथा 'सारिपुत्रप्रकरण' आदि नाटक लिखे। ललित वाङ्मय के द्वारा समाजसुधार में कैसी सहायता मिलती है इसे स्वर्गीय प्रेमचन्द ने अपने आबालवृद्धप्रिय उपन्यासों के द्वारा अच्छी तरह दिखा दिया है। कालिदास ने अपने ग्रथों में कहीं भी अश्वघोष की तरह 'हम हिन्दूधर्म के प्रसारार्थ काव्य और नाटक बनाते हैं' यह नहीं कहा है। तथापि तत्कालीन परिस्थिति और उनके ग्रथों में उदात्त आदर्शों से प्रेरित हुये व्यक्तियों के मनोहर चित्र अकित हुये देख कर उनका यह अप्रत्यक्ष उद्देश्य मालूम हुये बिना नहीं रहता।

कालिदास के समय में अश्विनीकुमार, धर्म, इन्द्र, सकर्षण, कुबेर इत्यादि प्राचीन देवताओं की पूजा का प्रचार उठ गया था और उसका स्थान ब्रह्मा, विष्णु, शिव ने ले लिया था। फिर भी इन देवताओं के उपासकों में जो महान् विरोध आजकल दृष्टिगोचर होता है उसका नामोनिशान भी इस उनके समय में नहीं दीखता। सभवत बौद्धों के आक्रमणों के कारण भिन्न भिन्न देवताओं के उपासक अपने आपस के भेदभाव भूलकर एक हो गये

होंगे और उस समय के दार्शनिकों की शिक्षा भी उसी प्रकार की होगी। कारण कुछ भी हो फिर भी उस काल में उन लोगों में एकता और सख्यभाव था इस में सन्देह नहीं। इतना ही नहीं, एक ही कुटुम्ब में माता पिता एक देवता के, तो पुत्र दूसरे देवता के उपासक थे यह वाकाटक नृपति द्वितीय प्रवरसेन के उदाहरण द्वारा हम पहिले ही दिखला चुके हैं। कालिदास शिव के उपासक थे, उनके समस्त नाटकों के नान्दी श्लोक में शंकर ही की स्तुति पाई जाती है। 'मालविकाग्निमित्र' के आरम्भ में अपने इष्ट देवता का स्मरण उन्होंने निम्नलिखित रीति से किया है—

एकैश्वर्यस्थितोऽपि प्रणतबहुफलो यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥

'भगवान् शंकर सम्र जगत् के ईश्वर होकर भक्तों के बहुविध मनोरथों को पूर्ण करते हुये भी स्वयं गजचर्म पहिनते हैं, आधा शरीर कान्ता से आलिंगित होने पर भी उनका स्वरूप विषयोपभोग से विरक्त रहनेवाले यतियों के भी ध्यान में नहीं आता है, अष्ट मूर्तियों से सारे जगत् को धारण करते हुये भी जिन में अभिमान का लेश भी नहीं है' इत्यादि रीति से कवि ने शंकर के विरोधाभास से यथार्थ स्वरूप का वर्णन किया है। इसी कल्पना का उन्होंने दूसरे नाटकों के नान्दी में भी विस्तार किया है। 'शाकुन्तल' के भरतवाक्य में—

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।

इस प्रकार से अपने को पुनर्जन्म से मुक्त करने के लिये शकर से प्रार्थना की है। कवि ने 'कुमारसभव' में श्रीशकर के चरित्र में से एक रमणीय प्रसग का वर्णन किया है। उस काव्य के छठे सर्ग में ऋषियों द्वारा उन्होंने श्रीशकर की स्तुति कराइ है। उस में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाले तथा सब प्राणियों के अन्तर्यामी ऐसा शिवजी का वर्णन किया है। उसी तरह द्वितीय सर्ग में भी देवताओं की प्रार्थना का उत्तर देते समय ब्रह्मदेव ने निम्नलिखित श्लोक में 'स्वय मुझे अथवा विष्णु को भी श्री शकर के प्रभाव का सम्यक् ज्ञान नहीं होता' यह कहा है—

स हि देव परज्योतिस्तम पारे व्यवस्थितम् ।
परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया नच विष्णुना ॥
कुमार० २, ५८

अत कालिदास के शिवोपासक होने से शका नहीं रहती। फिर भी वह किसी खास शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे यह मालूम नहीं होता, कारण यह है कि उनके ग्रथों में कहीं भी साम्प्रदायिक पारिभाषिक सज्ञाओं अथवा आचारविशेष का उल्लेख नहीं पाया जाता। उन्होंने उपनिषदों तथा भगवद्गीता का अच्छा मनन किया था, यह पिछले परिच्छेदों में हम दिखा चुके हैं। इस मनन से उनकी दृष्टि विशाल और उनके धार्मिक विचार बहुत ही उदार हो गये थे। 'कुमारसभव' के दूसरे सर्ग में ब्रह्मदेव का तथा 'रघुवश' के दशम सर्ग में विष्णु का वर्णन उन्होंने परमेश्वर मान कर किया है—

तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयत् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेक कारणता गत ॥ कुमार० २, ६

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥ रघु० १०, १६

ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर एक ही परमेश्वर के कार्यनिमित्त से भिन्न भिन्न भासमान रूप प्रतीत होते हैं। कार्यवश कभी ब्रह्मदेव को कभी विष्णु को, कभी शंकर को श्रेष्ठता मिलती है। इसलिये श्रेष्ठ कनिष्ठभाव उनके संबंध में समान ही रहता है। इस उदात्त तत्त्व का भाव निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट झलकता है—

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥
कुमार० ७, ४४

सनातन धर्म का भी यही तत्त्व है। मनुष्य किसी भी देवता की श्रद्धा से उपासना करे फिर भी वह एक ही परमेश्वर को पहुँचती है और उसी के द्वारा उसकी इच्छा पूरी होती है, यह भगवद्गीता में कहा गया है (भ० गी० ७, २२)। अस्तु। अब 'कुमारसंभव' तथा 'रघुवंश' में विविध प्रसंगों पर आई हुई ब्रह्मा, विष्णु, महेश की स्तुतियों में कालिदास ने परमेश्वर का कैसा वर्णन किया है उसका उल्लेख करते हैं।

परमेश्वर के स्वरूप का यथार्थ वर्णन करना अशक्य है। क्योंकि वह मन वाणी से अगोचर है ऐसा कालिदास ने अनेक जगह पर वर्णन किया है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवचन किंवा शब्द ही ज्ञान के प्रमुख साधन हैं। वस्तु के इन्द्रियगोचर होने से उसका ज्ञान सुलभ होता है, यह सर्वसाधारण अनुभव है। ईश्वर स्वयं सामान्य जनों को प्रत्यक्ष नहीं दीखता, फिर भी उसके ऐश्वर्य का ज्ञान जिन पदार्थों में होता है (जैसे पृथ्वी आदि) उनका भी ज्ञान

जब अच्छी तरह नहीं हो सकता तो भला अनुमान और वेदवचन ही जिस के लिये आधार है उस ईश्वर के स्वरूप की यथार्थ कल्पना अगर हम को न हो तो इस में आश्चर्य ही क्या ? इसी आशय को कवि ने निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त किया है।

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा॥

रघु० १०, २८

ईश्वर में अनेक विरोधी गुणों का समन्वय दीखता है। इसलिये किसी को भी उसके स्वरूप का यथार्थ भान नहीं होता। वह स्वयं अज अर्थात् जन्मरहित है, फिर भी पृथ्वी पर अवतार लेता है। स्वतः आप्तकाम होते हुये भी शत्रुओं का नाश करता है। समस्त प्राणियों की रक्षा करता हुआ भी उदासीन रहता है (रघु० १०,२५)। वह सब प्राणियों के हृदय में निवास करता हुआ भी उनके पास नहीं रहता। इच्छारहित होकर भी सदा तपस्या करता है। वह दयालु है, फिर भी उसे कभी दुःख नहीं होता। वह पुराणपुरुष है फिर भी वह बूढा नहीं होता (रघु० १०, १९) वह द्रव है उतना ही घन है, जितना ही स्थूल उतना ही सूक्ष्म है, जितना लघु उतना गुरु और वह व्यक्त तथा अव्यक्त है (कुमार० २, ११)*
परमेश्वर ही चराचर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण

---

* इस प्रकार के परस्पर विरोधी विशेषणों द्वारा किया हुआ ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ निम्नाङ्कित अवतरण पढिये — एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमः। इ० (बृहदारण्यक ३, ८, ८), अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। (श्वेताश्वतर—३, १९)

है। सांख्यदर्शनकार के मतानुसार पुरुष और प्रकृति ये दो परस्पर स्वतन्त्र न होकर वे एक ही परमेश्वर के दो रूप हैं (कुमार० १, १३)। उसे सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय करने में किसी भी साधन की जरूरत नहीं रहती होती (कुमार० २, १०) उसने चराचर सृष्टि को व्याप्त कर लिया है। आकाश से गिरने वाला मेघजल सर्वत्र एक ही प्रकार का होते हुये भी भिन्न भिन्न स्थलों में उसे भिन्न भिन्न रूप प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार स्वत परमेश्वर एकरूप होते हुये भी सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों से विविध रूप धारण करता है। हव्य तथा होता, भक्ष्य तथा भोक्ता, ज्ञेय तथा ज्ञाता, ध्येय तथा ध्यान करने वाला, इस तरह इस सृष्टि में सर्वत्र दीखने वाले द्वन्द्व के मूल में एक ही तत्त्व विद्यमान है (कुमार० २, १५) तथा वही प्राणियों के हृदय में अन्तरात्मा के रूप से वास करता है, इत्यादि। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कालिदास के ग्रन्थों में सब जगह पाया जाता है। उपनिषदों में इस तत्त्व को ब्रह्म का नाम दिया गया है, और कालिदास ने एक जगह पर उसी नाम का प्रयोग किया है (कुमार० ३, १५)। तथापि निर्गुण ब्रह्म को जानना और उसका वर्णन करना अशक्य है इसलिये उन्होंने सर्वत्र, ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन सगुण मूर्तियों का मनोहर वर्णन किया है।

परमेश्वर स्वयं आप्तकाम है फिर भी सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का नाश करने के लिये बार बार अवतार लेता है, तथा लोकसंग्रह के लिये विविध कर्मों में संलग्न हुआ दीखता है—इस भगवद्गीता तत्त्व को कालिदास ने निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त किया है—

अनवाप्तमवाप्तव्य न ते किञ्चन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणो ॥

इस की शब्दयोजना भगवद्गीता से ली हुई है ऐसा मालूम होता है । इसी कारण से श्री शकर ने विवाह के अवसर पर, अग्नि प्रदक्षिणा, लाजाहोम, ध्रुवदर्शन इत्यादि स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान किया, यह कालिदास ने वर्णन किया है । कालिदास के समय में केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि वेदान्त के सम्प्रदाय प्रचलित नहीं थे । अत इन में से किस सम्प्रदायविशेष को वे मानते थे इसका निर्णय करना कठिन है । शकराचार्य के 'मायावाद' के बीज उपनिषदों में विद्यमान हैं तो भी उनके पहिले मायावाद का पूर्ण विवेचन किसी ने नहीं किया था । इस कारण कालिदास के ग्रथों में माया का उल्लेख नहीं आया इस में आश्चर्य की बात नहीं । कालिदास के पूर्वकालीन ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता आदि ग्र थों में 'मायावाद' का पोषक कोई उल्लेख नहीं आया है। कालिदास स्वय शिवोपासक थे फिर भी तत्त्वज्ञान के सबध में वे भगवद्गीता के अनुयायी थे, यह हम ने पीछे स्पष्ट कर दिया है।' उनके तत्त्वज्ञानविषयक सिद्धान्त, शकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ इत्यादि आचार्यों के वेदान्तसिद्धान्तों से अक्षरश नहीं मिलते अत वे काश्मीरी शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, ऐसा कुछ विद्वानों ने प्रतिपादन किया है । आगे इस पर विचार किया जायगा ।

काश्मीरी शैव मत की दो शाखायें 'स्प दशास्त्र' तथा 'प्रत्य भिज्ञाशास्त्र' के नाम से प्रख्यात हैं । इन में से पहिली शाखा की स्थापना नवम शताब्दी के आरम्भ में उत्पन्न हुये वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट ने की, तथा दूसरी उनके बाद दशम शताब्दी में सोमानद ने प्रचलित की यह विद्वानों ने निर्णय किया है । पहिले

मत का मुख्यग्रंथ 'शिवसूत्र' महादेव पर्वत पर खुदा हुआ था, श्री शंकर के साक्षात्कार होने पर वसुगुप्त ने वहाँ जाकर उसको उतार कर प्रचलित किया, ऐसी इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की धारणा है। तथापि यह मत वसुगुप्त से पुराना है यह दिखाने के लिये ही यह धारणा पहिले पहल प्रचलित हुई होगी, ऐसा डा० भाण्डारकर ने अनुमान किया है। इस मत के पूर्ववर्ती ग्रंथों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता इस से यह अनुमान युक्तिसंगत मालूम होता है, अतः यह मत कालिदास के समय प्रचलित था ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। इसके सिवाय उस मत में तथा कालिदास के तत्त्वज्ञान में अधिक साम्य नहीं दीखता और जो कुछ थोड़ा सा दीखता है वह उनके उपनिषदादि ग्रंथों के अभ्यास के कारण आया होगा। काश्मीरी शैव सम्प्रदाय में, ईश्वर स्वेच्छा से ही जगत् की उत्पत्ति करता है और उसके उपादान कारणों की आवश्यकता नहीं होती, किंवा वह स्वयं उपादान कारण नहीं बनता—ऐसा माना जाता है। जैसे एक योगी अपने यौगिक बल से विविध पदार्थ उत्पन्न कर सकता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी शक्ति से जीव तथा जगत् की उत्पत्ति करता है, यह इस सम्प्रदायवालों का मत है। 'निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥' वसुगुप्त के इस श्लोक में यही कल्पना की गई है। ईश्वर को अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती, यह कल्पना उपनिषदों में भी मिलती है तथा 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि।' इस ब्रह्मसूत्र में भी इसी बात का उल्लेख है। कालिदास ने भी अपने ग्रंथों में इसी मत का प्रतिपादन किया है। तथापि परमेश्वर स्वयं उपादान कारण नहीं होता यह कल्पना कालिदास को मान्य थी यह नहीं प्रतीत होता है। 'कुमारसंभव' के दूसरे सर्ग में देवताओं

द्वारा की हुई ब्रह्मा की स्तुति में 'आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना । आत्मना कृतिना च त्वमात्म येव प्रलीयसे ॥' यह श्लोक आया है । इस में परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति अपने में से करता है और अपने में ही उसका लय करता है, ऐसा स्पष्ट कहा गया है । और भी दूसरी तरह से, कालिदास का मत काश्मीरी सम्प्रदाय से भिन्न है । जीव परमेश्वर ही का रूप है पर तु सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के कारण उसे अपने स्वरूप का बोध नहीं होता । ध्यानविधि के द्वारा उस मल का नाश होने पर वास्तविक ज्ञान होता है यह स्प दशास्त्रानुयायी मानते हैं । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का मत इस से थोड़ा भिन्न है । जीव परमेश्वर से मूलत भिन्न न होने पर भी जब तक उसे किसी सद्गुरु के अनुग्रह का लाभ नहीं होता तब तक आत्म स्वरूप का भान नहीं होता, यह प्रत्यभिज्ञाशास्त्रानुयायी मानते हैं । पिछले एक प्रकरण में काश्मीर ही कालिदास की ज मभूमि थी इस मत का विचार करते समय, उनके नाटकों पर प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की छाप पड़ी हुई है—इस मत का हम ने विस्तारपूर्वक खण्डन किया है । कालिदास ने अपने ग्रथों में कहीं भी केवल गुरूपदेश से जीव को स्वस्वरूप का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं कहा है । स्प दशास्त्र के अनुसार योग मोक्ष का साधन है, ऐसा कालिदास मानते हैं । यह योग तो भगवद्गीता में भी वर्णित है । अत भगवद्गीता के छठे अध्याय में मोक्षसाधनरूप से योगविधि का वर्णन आया है । कालिदास ने अपने ग्रथों में मनुष्य को अपनी मुक्ति के लिये योग का आश्रय लेना चाहिये, यह प्रतिपादित किया है । जब मदन हिमालय पर आया तब स्वत भगवान् शकर 'पर्यङ्कब ध' आसन मारकर प्राणायाम के निरोध से वायुरहित स्थल पर रक्खे हुये दीपक के अनुसार निष्कप होकर योगबल से अन्तरात्मा के दर्शन

में निमग्न थे ऐसा 'कुमारसभव' में वर्णन है। 'रघुवश' में भी 'तमस परमापदव्यय पुरुष योगसमाधिना रघु।' (रघु ने योगसमाधि के द्वारा अज्ञान से परे अविनाशी परमात्मा की गति प्राप्ति कर ली) ऐसा वर्णन है। तथापि इससे उन को काश्मीरी शैवसम्प्रदायान्तर्गत प्रत्यभिज्ञादर्शन मान्य था यह सिद्ध नहीं होता है।

कालिदास ने 'रघुवश' में अनेक राजाओं की मरणोत्तरगति का वर्णन किया है। इस से उनकी दृष्टि में मनुष्य का अत्युच्च ध्येय क्या होना चाहिये, यह समझ में आ जाता है। दिलीप ने ९९ अश्वमेध करके मृत्यु के अनन्तर स्वर्गारोहण के लिये मानो ९९ सीढ़ियां तैयार की थीं। अज ने गगा तथा सरयू के सगम पर तीर्थ में देहत्याग करके स्वर्ग में इन्दुमती को प्राप्त कर उसके साथ नदनवन के क्रीडाभवन में रमण किया ऐसा वर्णन आया है। उसी तरह मेघदूत में भी अलकापुरी में यक्षों के विविध विलासों के रमणीय वर्णन आये हैं। तथापि स्वर्ग की प्राप्ति और वहाँ के सुखों में रमण करना यह कालिदास की दृष्टि से अत्युच्च ध्येय था यह प्रतीत नहीं होता। 'तद्यथेह कर्मजितो लोक क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक क्षीयते।' इस छान्दोग्य उपनिषद् के (८, १, ६) कथनानुसार स्वर्ग के सभी सुख नाशवान हैं। भगवद्गीता में भी 'ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।' (९, २१) इस तरह का वर्णन आया है। स्वर्ग में सुखभोग के द्वारा पुण्य-सञ्चय का ह्रास होता है, यह बात कालिदास को सम्मत थी। इसीलिये उन्होंने अपने 'मेघदूत' में 'पुण्यसचय की कमी होने पर स्वर्गीय जनों ने पृथ्वी पर आकर अवशिष्ट पुण्याई से उज्जयिनी नगरी के रूप में स्वर्ग का एक सुदर

भाग बसाया' ऐसी उत्प्रेक्षा की है। 'स्वर्ग में सुख अक्षय न होने से मारीच के आश्रम में रहने वाले ऋषि उस सुख का मोह दूर कर उच्चतर पदप्राप्ति के लिये सदैव तपश्चर्या करते हैं।' ऐसा 'शाकुन्तल' में वर्णन किया गया है। स्वर्गप्राप्ति होने पर भी मनुष्य जन्म, जरा मृत्यु के चक्र से नहीं छूटता, इसीलिये उन्होंने 'शाकुन्तल' नाटक के भरतवाक्य में स्वर्गप्राप्ति न माग कर पुनर्जन्म से मुक्त करने की शकर से प्रार्थना की है। ससार से मुक्त होने के लिये यज्ञादि साधन उपयोगी नहीं हैं। योगाभ्यास से परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने से ही 'मोक्षप्राप्ति' हो सकती है यह कवि का मत था यह निर्विवाद है। यही बात उन्होंने 'तमस परमापदव्यय पुरुष योगसमाधिना रघु।' इस श्लोक में स्पष्ट कर दी है। रघु अत्यन्त शीलवान, दानशूर तथा कर्तव्यपरायण राजा था। धर्मशास्त्र में कहे अनुसार उस ने अपनी प्रजा से वर्णाश्रमधर्म का पालन कराया था इतना ही नहीं गृहस्थाश्रम के सभी कर्तव्यों को पूरा कर उसने सन्यासाश्रम ग्रहण किया था, तथा योगाभ्यास के द्वारा परमात्मा का दर्शन कर मृत्यु के अनन्तर अविद्या से परे स्थित परमात्मा का साक्षात्कार किया ऐसा कवि ने वर्णन किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रमाण के अनुसार उसे अपने स्वत के शिव स्वरूप का ज्ञान हो गया था ऐसा नहीं कहा है, यह बात ध्यान में रखने लायक है। कालिदास के उपर्युक्त पङ्क्ति से मोक्षावस्था में जीवेश्वर का भेद बना रहता है यह उनका मत था ऐसा भ्रम पाठकों को हो सकता है, फिर भी अन्यत्र (रघु० १८, २८) किये हुये 'स ब्रह्मभूय गतिमाजगाम' इस वर्णन से परब्रह्म होकर स्थित होना ही उनकी दृष्टि में उच्च ध्येय था, इस में सशय नहीं है।

परमात्मा की प्राप्ति के लिये योगाभ्यास के समान ही और दो

साधन कालिदास ने प्रसगवश वर्णन किये हैं। 'विक्रमोर्वशीय' के,

> अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते।
> स स्थाणु स्थिरभक्तियोगसुलभो नि श्रेयसायास्तु व ॥

इस मगल श्लोकार्ध में 'मुमुक्षु जन प्राणायामादि साधनों द्वारा जिन हृदयस्थ शकर का दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं वह एकनिष्ठ भक्ति से शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं' ऐसा वर्णन आया है। उसी तरह फलेच्छा का त्याग कर स्वकर्तव्य का अच्छी तरह पालन करने से मनुष्य मुक्त हो जाता है, यह उन्होंने 'मारुति सागर तीर्णं ससारमिव निर्मम।' (रघु० १५, ६०) इस उपमा में सूचित किया है। योगसाधन, निष्कामकर्मयोग, भक्तियोग ये एक ही परमेश्वर के पास पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग हैं, प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार इन मार्गों का उपयोग करना चाहिये, यह कालिदास का मत था। यही बात उन्होंने निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट की है—

> बहुधाप्यागमैर्भिन्ना प थान सिद्धिहेतव।
> त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥
>
> रघु० १०, २६

श्रीमद्भगवद्गीता में भी ज्ञान, पातञ्जल योग, भक्ति, निष्काम कर्म इत्यादि परमेश्वर प्राप्ति के विविध साधनों का वर्णन करके उनका समन्वय किया गया है। यही मत कालिदास का भी था यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है।

कालिदास का कर्मवाद तथा पुनर्जन्म पर विश्वास था, यह हम पिछले परिच्छेद में बतला चुके हैं। अपने कर्मों के द्वारा उर्वशी तथा हरिणी इन दो अप्सराओं को मृत्युलोक में आना पड़ा। 'आत्मा को स्वकर्मानुसार मरणोत्तरगति प्राप्त होती है, तब तैरे

देहत्याग करने पर तुझे परलोक में अपनी पत्नी का सहवास प्राप्त होगा ऐसा मत समझ' यह कह कर वसिष्ठ ने अज को पत्नी शोक से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। मनुष्य को किये हुये कर्म का फल भोगना ही पड़ता है, सिर्फ ज्ञान के द्वारा कर्म दग्ध होते हैं यह भगवद्गीता का तत्त्व 'इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना' [दूसरा अर्थात् रघु ज्ञानाग्नि में स्वकर्मों का दहन करने के लिये प्रवृत्त हुआ] इस श्लोकार्ध में कवि ने उल्लिखित किया है। मोक्ष प्राप्ति के लिये इन्द्रियनिग्रह की अधिक आवश्यकता भी उन्होंने 'रघुवंश' के ८, २३ में प्रतिपादित की है।

जीवन-मरण के चक्र में पड़े हुये जीव को कई बार पूर्वजन्म की अज्ञात बातों का ज्ञान होने पर दुःख होता है, यह उन्होंने कहीं कहीं कहा है। राम विश्वामित्र के साथ वामनाश्रम में पहुँचे, उस समय अपने पूर्वावतार के कृत्यों की उनको कुछ भी स्मृति नहीं थी तो भी राम के अन्तःकरण में कुछ खलबली सी मच गई ऐसा कवि ने 'रघुवंश' में (स० ११, २२) वर्णन किया है। 'शाकुन्तल' के निम्नलिखित श्लोक में भी यही तत्त्व बतलाया गया है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

शाकु० ५, २

आज भी अमेरिका में परलोकविद्या का अनुसन्धान जारी है, वहाँ अनुसन्धान करनेवालों को इस तरह के अनुभव रखने वाले व्यक्तियों का पता लगा है तथा इस से उन की पुनर्जन्म की कल्पना

ठीक बैठती है, यह देखकर कालिदास की सूक्ष्म मनोविज्ञान की दृष्टि पर आश्चर्य होता है।

अब कालिदास के सामाजिक विचारों की ओर हम झुकते हैं। बौद्धधर्म ने जातिभेद को उठा दिया था। तथा संसार दुःखमय है ऐसा लोगों को समझा बुझाकर आबालवृद्ध जनता को संन्यासमार्ग का उपदेश देना आरम्भ कर दिया था। इस उपदेश की अस्वाभाविकता, तथा मनुष्य की नैसर्गिक मनोवृत्ति से विरोधभाव देखकर, सनातन धर्म के पुनरुज्जीवनार्थ लिखी हुई स्मृतियों में वर्णाश्रम धर्म की श्रेष्ठता बतलाई गई थी। कालिदास ने अपने ग्रंथों में उसी का महत्त्व दिखाया है। 'रघुवंश' में राज्य में प्रत्येक जाति के लोग अपना अपना कर्तव्य पालन करते हैं या नहीं इस बात की ओर श्रेष्ठ राजा ध्यान देते थे, ऐसा वर्णन आया है। दुष्यन्त के राज्य में नीच जाति के लोग भी बुरे मार्ग से नहीं चलते थे, ऐसा 'शाकुन्तल' में कहा गया है। ब्राह्मणादि वर्णों के अपने अपने स्मृत्युक्त कर्म करने से राज्य में सब जगह सुख, समृद्धि फैलती है और लोग दीर्घायु होते हैं, उन पर मानवी तथा दैवी आपत्तियाँ नहीं आती यह दिलीपादि राजाओं की राज्यव्यवस्था के वर्णन में कवि ने बतलाया है। वर्णधर्म के साथ ही आश्रमधर्म को भी कालिदास ने प्रधान माना है। 'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्। वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥' (रघुवंशी राजा लोग बाल्यावस्था में विद्या का अभ्यास करते थे, युवावस्था में विषयोपभोग करते थे, और वृद्धावस्था में ऋषियों की तरह तपोवन में तपश्चर्या करते थे तथा अन्त में योग के द्वारा देहविसर्जन करके मुक्त हो जाते थे।) इस श्लोक में कालिदास ने आश्रमधर्म के कर्तव्यों का संक्षेप में वर्णन किया है। उनके ग्रंथों में राजाओं की जीवन-चर्या

का भी इसी तरह से विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । उनके नाटकों में राजकुमार का बाल्यकाल किसी एक आश्रम मे व्यतीत हुआ बतलाया गया है । बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर विद्या का सम्पादन करो, यौवन में विषयोपभोग द्वारा संसार सुखों का अनुभव तथा आनन्द लूटो, परंतु साथ ही वहीं पर 'न पुनरेति गतं चतुरं वयः' (रघु० ६, ४७) (उपभोगक्षम वय अर्थात् युवावस्था फिर नहीं आती) यह जान कर, 'सदैव विषयासक्ति से शरीर की हानि मत करो, एक बार इन्द्रियों को विषयोपभोग का चस्का लगा कि उस से निवृत्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है', यह उन्होंने राजा अग्निवर्ण के भोगविलास का वर्णन करते समय साफ कह दिया है। इन्द्रियतृप्ति की अपेक्षा इन्द्रियनिग्रह ही श्रेष्ठ है यह उन्होंने 'रघुवंश' के तेरहवें सर्ग में शातकर्णी तथा सुतीक्ष्ण के परस्परविरोधी जीवन क्रम के चित्रों को पास पास रख कर दिखला दिया है। ये दोनों ही ऋषि महान् तपस्वी थे, उन की उग्र तपस्या से डर कर इन्द्र ने दोनों को ही मोहजाल में डालने के लिये उनके पास दो अप्सरायें भेजीं। शातकर्णी ऋषि उनके जाल में फँस गये और 'पञ्चाप्सर' नामक सरोवर में अदृश्य महलों में उनके नृत्यादि गीत विलास में अपना समय बिताने लगे। इस से उल्टा सुतीक्ष्ण का उदाहरण है। उनके सामने भी अप्सराओं ने आकर सस्मित कटाक्ष फेंक कर, किसी बहाने से अपने शरीर के मेखलांकित भाग को आधा खोल कर उनको नीचे गिराने का प्रयत्न किया परंतु वे उनके मोहजाल में न फँस कर पञ्चाग्निसाधन करते थे, ऐसा कालिदास ने वर्णन किया है । 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' (सन्तानोत्पत्ति के लिये गृहस्थाश्रम) यह आदर्श उन्होंने अपने पाठकों के सामने रक्खा है । सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ, क्योंकि वह सर्वोपकारक्षम है, अर्थात् उस आश्रम

में मनुष्य को सब प्राणियों पर उपकारभाव दिखलाने का अवसर मिलता रहता है, गृहस्थाश्रम में स्वजाति के कर्मों का अनुष्ठान कर वृद्धावस्था में किसी तपोवन में जाकर ऋषियों के सहवास में आत्मानात्म का विचार करना चाहिये, योगाभ्यास सीखना चाहिये और अन्त में योग से देहत्याग कर जीवन का सार्थक्य करना चाहिये, यही कालिदास की शिक्षा है।

कालिदास ने प्रसगानुसार अनेक कौटुम्बिक तथा सामाजिक सद्गुणों का उल्लेख किया है। माता पिता का प्रेम, पति पत्नी का प्रेम, बन्धुप्रेम, सन्तानप्रेम इत्यादि कौटुम्बिक सस्था के प्रेम सबधी मनोहर चित्र उन्होंने अपने ग्रन्थों में अकित किये हैं। खुद को चौदह वर्ष के लिये वनवास में भेजने वाली कैकेयी के प्रति राम का कितना आदर भाव था! 'माता! हमारे पिता स्वर्गसाधनीभूत सत्य से डिगे नहीं इसका श्रेय तुम्हीं को है' ऐसा कह कर राम ने उसकी लज्जा को कैसे दूर किया, यह कवि ने बहुत सुन्दर ढग से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त गुरुजनों की आज्ञा, उसकी युक्तायुक्तता का विचार न कर पालना चाहिये (आज्ञा गुरूणा ह्यविचारणीया), पूज्य जनों का आदर करना चाहिये (प्रतिबध्नाति हि श्रेय पूज्यपूजाव्यतिक्रम), अतिथि का स्वागत करना चाहिये और विद्वानों का सन्मान करना चाहिये, यह उपदेश उन्होंने प्रसगानुसार दिया है।

कालिदास के ग्रथों का अनुशीलन करने से यह मालूम होता है कि उनको प्रौढ विवाह सम्मत था। मालविका, पार्वती, शकुन्तला इन्दुमती—ये कालिदास के ग्रन्थों की मुख्य नायिकायें हैं। कवि ने इन को विवाह के समय विविधकलानिपुण और प्रौढ दिखलाया है। इन्होंने अपने पति को स्वय चुना है, इस से कुछ लोग कहते

हैं कि कालिदास को प्रीति विवाह मा य था तो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'शाकु तल' के पाचवें अक में जब राजा ने शकु तला का परित्याग कर दिया तो 'अत परीक्ष्य कर्तव्य विशेषात्सगत रह । अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम् ॥' [एकान्त की मित्रता बहुत विचारपूर्वक करनी चाहिये, नहीं तो जिस के हृदय को अच्छी तरह नहीं पहिचाना उस पर किये हुये प्रेम का पर्यवसान वैर में होता है ।] इस प्रकार की शार्ङ्गरव की उक्ति की तरफ़ इशारा करके कालिदास ने उसका दुष्परिणाम दिखाया है । कि तु इन दोनों विभिन्न मतों के बीच में सत्य निहित है ऐसा हम समझते हैं । कालिदास ने 'रघुवश' में सर्वत्र राजाओं का केवल प्रीतिविवाह ही नहीं वर्णन किया है । रघु, दिलीप इत्यादि का उन्होंने आजकल के अनुसार ब्राह्म विधि से विवाहसस्कार वर्णन किया है । राम, कुश इत्यादि राजाओं को उनके पराक्रम के कारण विशिष्ट स्त्रियाँ मिलीं ऐसा दिखाया है । उस में भी प्रेम का सम्ब ध नहीं आता । यह सबध दु खपर्यवसायी हुआ था, ऐसा वर्णन कहीं नहीं मिलता । इसलिये प्रीति विवाह कौटुम्बिक सुख के लिये अत्यावश्यक है—ऐसा कालिदास का मत मालूम नहीं पड़ता । फिर भी प्रीतिविवाह की ओर उनकी उदासीनता भी न थी । नहीं तो वे अपने सभी नाटकों में उनके रमणीय चित्र न रगते । उर्वशी और शकुन्तला पर उनके विवाह के बाद घोर आपत्ति आती है यह सच है, किन्तु इस का कारण उनका प्रणयविवाह न होकर भवितव्यता ही थी, यह हम पहिले बतला चुके हैं । नाटकों में किसी एक पात्र के उद्गारों में कवि के मत का प्रतिबिम्ब देखना योग्य नहीं होगा । कवि का रचनाकौशल इसी में है कि किसी विशेष परिस्थिति में पात्रों के हृदय में जो विचार उठते हैं उन्हें उनके मुख से कहलवादे । तथापि

केवल बाह्य सौन्दर्य पर ही टिका हुआ प्रेम स्थायी नहीं होता, इस लिये प्रेमी जनों को विवाह के पहिले अपने अपने माता पिता की सम्मति लेनी चाहिये और उनको भी सभी बातों का विचार करके अपने कन्या पुत्रों को सुखावह सलाह देनी चाहिये, यह कालिदास का मत है, ऐसा प्रतीत होता है । यही मत उन्होंने 'श्री सामि लाषापि गुरोरनुज्ञा धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ।' इस (रघु० ५, ३८) पंक्ति में लक्ष्मी को गभीर स्वभाववाली कन्या की उपमा देकर व्यक्त किया है । उनकी सभी नायिकाओं में पार्वती श्रेष्ठ मालूम होती है । अपनी तपश्चर्या तथा एकनिष्ठ प्रेम के द्वारा श्रीशंकर को वश में कर लेने पर भी एकदम उनसे गान्धर्व विवाह न कर 'पिता की सम्मति लेनी चाहिये' इस प्रकार 'कुमारसंभव' में श्रीशंकर को सखी के द्वारा पार्वती ने सूचित किया है । इस से भी उपर्युक्त अनुमान ठीक मालूम होता है ।

राजतन्त्र—

कालिदास के तीनों नाटकों का तथा 'रघुवंश' काव्य का प्रधान विषय राजचरित्र वर्णन करना था । इसलिये उन्होंने अपने राजनैतिक विचार जगह जगह पर व्यक्त किये हैं । राज्यसंस्था किस प्रकार की होनी चाहिये, राजा में कैसे गुण होने चाहिये, तथा प्रजा-राजा के परस्पर संबंध क्या होने चाहिये इत्यादि अनेक विषयों पर अपना निश्चित मत उन्होंने प्रतिपादन किया है । यहाँ इन बातों पर विचार करना प्रासंगिक तथा मनोरंजक होगा ।

कालिदास के समय में हिन्दुस्थान में कुछ गणराज्य अस्तित्व में थे, फिर भी उनका वर्णन कहीं नहीं किया गया । इस से मालूम होता है कि अपने ग्रन्थों में उनके वर्णन करने का कोई प्रसंग ही

नहीं आया या उनको वह राज्यपद्धति पसन्द नहीं थी। हिमालय में रहने वाले 'उत्सवसंकेत' नामक पर्वतीय गणों का रघु के दिग्विजय में एक बार उल्लेख आया है, पर उससे युद्धविषयक पद्धति के सिवाय उनके बारे में अधिक परिचय नहीं मिलता। सामान्यत कालिदास को प्रजाहिततत्पर एकतन्त्र राज्यपद्धति पसन्द थी। 'मालविकाग्निमित्र' में एक बार मन्त्रिपरिषद् का उल्लेख आया है, पर वे मन्त्री प्रजा द्वारा निर्वाचित हुये नहीं दीखते। इसके अतिरिक्त उनका मत राजा को अवश्य मान्य था, ऐसा भी नहीं मालूम होता। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में सलाह का मन्त्री तथा कार्यकारी अमात्य इन दोनों के बीच में जैसा भेद दिखाया गया है, वैसा कालिदास ने नहीं किया है। कारण, ऊपर उल्लिखित मन्त्रिपरिषद् को ही अमात्य परिषद् बताया गया है। अमात्य, मन्त्री तथा सचिव इन संज्ञाओं को कालिदास ने समानार्थक माना है। इन मन्त्रियों की सलाह लेकर राजा जो ठीक समझता था वही करता था। राजा को किसी कारण राजधानी से बाहर जाना होता था तब वह मन्त्रियों पर राज्य का भार छोड़ कर चला जाता था। वसिष्ठ के आश्रम को जाते समय दिलीप ने, गन्धमादन पर्वत पर उर्वशी सहित विहार करने के लिये जाते हुये पुरुरवस् ने, तथा राजधानी में ही रहते हुये विषय भोगों में आसक्त राजा अग्निवर्ण ने राज्य का भार सचिवों के अधीन कर दिया था, ऐसा वर्णन किया गया है। राजा की आकस्मिक मृत्यु होने पर उसके लड़कों को गद्दी पर बैठाने का तथा उसके नाबालिग होने पर उसकी माता की सहायता करते हुये उसके द्वारा योग्य रीति से प्रजापालन करवाने का उत्तरदायित्व मन्त्री पर होता था। इस से कभी कभी मन्त्रियों के हाथ में ही सारी सत्ता रहती थी तथा कई राजा मन्त्रियों की ही सलाह से चलते थे।

उदाहरणार्थ, मृगया एक व्यसन माना गया था, इसलिये दशरथ ने मन्त्रियों की सम्मति लेकर वन में मृगयार्थ प्रस्थान किया ऐसा कालिदास ने वर्णन किया ह । राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के अधिकारियों की 'तीर्थ' ऐसी उपाधि थी, इसका भी कालिदास ने उल्लेख किया है। (रघु० १७, ६८)

एकतन्त्र राज्यपद्धति पर मुख्य आक्षेप यह किया जाता है कि सारी राज्यव्यवस्था एक ही व्यक्ति की इच्छा के अनुसार सचालित होने से अगर वह कहीं अत्याचारी हुआ तो प्रजा पर अन्याय, जुल्म, जबर्दस्ती होना अधिक सम्भव है । ऐसा न हो इसके लिये हमारे प्राचीन राज्यशास्त्रज्ञों ने दो सरक्षक उपायों की (Safeguards) योजना की थी। उन में से पहिला यह कि नियम बनाने की सत्ता राजा के हाथ में न देकर विद्वान् और निःस्पृह ऋषियों के हाथों में रक्खी गई थी । राज्यशासन के आवश्यक बहुत से नियम स्मृतियों में लिखकर रक्खे गये थे । उन में परिवर्तन करने का अधिकार राजा को न था । जब समय के अनुसार नियमों में परिवर्तन करने की आवश्यकता दीखती थी तब नवीन स्मृतियाँ लिखी जाती थीं अथवा प्राचीन स्मृतियों से ही समय के अनुकूल अर्थ निकाला जाता था । नियम बदला गया तो भी यह बदला नहीं यह दिखलाने की पद्धति (Fiction) प्रत्येक देश के प्राचीन कानून-शास्त्रों में मिलती हैं । राजा को मनु आदि स्मृतियों के नियमों को ही कार्य में लाना चाहिये, यह बात कालिदास ने, 'नृपस्य वर्णाश्रमपालन यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीत ।' (रघु० १४, ६६), 'रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मन परम् । न व्यतीयु प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तय ॥' (रघु० १, १७) इन श्लोकों में सूचित किया है तथा न्याय करते समय अतिथि राजा धर्मवेत्ता की

सहायता लिया करता था, ऐसा स्पष्ट कहा गया है (रघु० १७, ३६) दूसरा सरक्षक उपाय यह था कि राजकुमार को उत्तम शिक्षा देकर तथा इन्द्रियनिग्रह का महत्त्व उसको अच्छी तरह समझा कर, योग्य राजकुमार को ही युवराज बनाया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजकुमार की शिक्षा के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है, तथा काम, लोभ आदि दुर्गुणों से नाश को प्राप्त हुये अनेक राजाओं के उदाहरण देकर 'तस्मादरिषड्वर्गत्यागेन इन्द्रियजय कुर्वीत' (अपने शरीर के षड्रिपुओं का त्याग कर इन्द्रियों पर अधिकार करना चाहिये) ऐसा उपदेश दिया गया है। कालिदास के समय में भी समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि नरपतियों की विद्वत्ता, कलाप्रवीणता वगैरह का जो उत्कीर्ण लेखों में उल्लेख मिलता है, उस से उनकी शिक्षाविषयक विशेष सावधानी की जाती थी ऐसा मालूम होता है। पिछले एक परिच्छेद में प्रयाग के स्तम्भ की हरिषेणकृत प्रशस्ति का एक श्लोक उद्धृत किया गया है। उस से प्रथम चन्द्रगुप्त ने दूसरे राजकुमारों को दूर रख कर समुद्रगुप्त को सिर्फ उसकी योग्यता के कारण अपना उत्तराधिकारी बनाया था, यह साफ दीखता है, तथा इसी अर्थ का उल्लेख गुप्तों के दूसरे शिलालेखों में भी मिलता है। कालिदास ने भी 'रघुवश' में दिलीप को कुमार रघु की शिक्षा की कितनी चिन्ता थी इसका वर्णन किया है। तथा 'निसर्गसस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्।' 'स्वभाव से ही तथा उत्तम शिक्षा से विनयसम्पन्न होने पर राजा दिलीप ने रघु को युवराज बनाया' ऐसा स्पष्ट कहा है। राजसिंहासन पर आते ही अतिथि राजा ने बाह्य शत्रुओं को जीतने के पहिले अन्तः शत्रुओं को जीता था, दशरथ को मृगया, द्यूत, मद्य और

स्त्री—इन में से किसी का भी व्यसन नहीं था (रघु० ६, ७), दिलीप ज्ञानी थे, बकवादी नहीं, बलवान थे साथ ही क्षमाशील थे, दाता थे पर आत्मश्लाघी नहीं थे, इत्यादि वर्णनों से राजा में कौन कौन से गुण होने चाहिये और किन किन दुर्गुणों से उसे बचना चाहिये इन सब बातों का दिग्दर्शन कराया है। राजा को अपना जीवनक्रम किस प्रकार रखना चाहिये इस विषय का सविस्तर विवेचन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। कौटिल्य ने दिन और रात के चौबीस घंटों के सोलह भाग कर प्रत्येक भाग के लिये अलग अलग कर्तव्य निर्धारित किये हैं। उन्हीं नियमों के अनुसार कालिदास के नायक अपनी जीवनचर्या रखते थे। (रात्रिंदिव विभागेषु यदादिष्ट महीभृताम् । तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्प पराङ्मुख ॥ (रघु० १७, ४९) 'विक्रमोर्वशीय' में दिखाया गया है कि प्रात काल राज्यकार्य देखने के बाद (कार्यासनादुत्थित) विहार के समय राजा उर्वशी का ध्यान करता था। 'शाकुन्तल' में कण्व के शिष्य शकुन्तला को लेकर राजा के पास जाते हैं, उस समय वह राजसभा में लोगों का न्याय करके तत्काल उठा ही था, इस से कुछ तपस्वी राजा से भेंट करने आये हैं, यह राजा को विदित करना कञ्चुकी को कुछ कष्टकर मालूम होता है। इन सब उल्लेखों से राजा को सदैव प्रजाहित में तत्पर रहना चाहिये और अपने सुख की अभिलाषा न रखनी चाहिये ऐसा कालिदास ने उपदेश किया है। किं बहुना राजा शब्द की उत्पत्ति भी 'राज्–शोभने' इस धातु से न कर 'रञ्ज्–अनुरञ्जने' इस धातु से करके (तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्) प्रजा का अनुरञ्जन ही राजा का ध्येय होना चाहिये, यह उन्होंने सूचित किया है।

कर—

राजा को प्रजा के आय का षष्ठांश (छठवाँ हिस्सा) कर मिला करता था। यह कर सभी वर्णों और आश्रमों पर लगाया जाता था। (यथा स्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडशभाक्) (रघु० १७, ६५) अरण्य में रहने वाले वानप्रस्थ तथा तपस्वी, वन में उत्पन्न होने वाले नीवार धान्य का षष्ठांश राजा के अधिकारियों को देने के लिये नदी के तट पर जमा कर के रख देते थे। (तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित्) (रघु० ५)। तथापि दुष्यन्त जैसे महात्मा राजा उस षष्ठांश कर की अपेक्षा नहीं रखते थे। उस से तपस्वी जन जो अपनी तपश्चर्या का छठवाँ हिस्सा दिया करते थे वही दुष्यन्त को अधिक मूल्यवान प्रतीत होता था। (तप षड्भागमक्षय्य ददत्यारण्यका हि नः।) (शाकु०)। सपत्ति के लोभ से राजा को प्रजा से पैसा वसूल नहीं करना चाहिये, ऐसा कालिदास ने कई स्थलों में सूचित किया है। (प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रस रवि।) (रघु० १, १८)। रघु को दिग्विजय से जो अटूट सपत्ति मिली थी उसका सर्वस्वदान उसने यज्ञ में कर डाला था। उसके बाद एक विद्वान् ब्राह्मण जब गुरुदक्षिणा के लिये आया, उस समय अपनी मानरक्षा के लिये प्रजा के ऊपर अधिक कर न लाद कर उसने कुबेर पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। तथा उस से मिली हुई सुवर्णराशि सब की सब उस ब्राह्मण को दे डाली। राज्य में जब एक धनवान व्यापारी निपुत्रक मरा तब तत्कालीन राज्यनियम के अनुसार उस की सारी सम्पत्ति राजा को मिल रही थी, फिर भी उस धन का लोभ न करते हुए, उस व्यापारी की स्त्री अगर गर्भवती हो तो उस गर्भ के नाम से

उस सम्पत्ति को रख दो, ऐसी आज्ञा दुष्यन्त ने की थी। इस से राजाओं को कितना निर्लोभी होकर रहना आवश्यक है, इस पर कालिदास ने प्रकाश डाला है।

राज कर्तव्य—

लोगों से कर लेने के कारण राजा को अनेक कर्तव्य पालन करने पड़ते थे। उन में से कुछ खास कर्तव्यों का निर्देश ('प्रजानां विनया धानाद्रक्षणाद्भरणादपि। स पिता पितरस्तासां केवल जन्महेतव॥' (रघु० १, २४) इस श्लोक में किया गया है। लोगों की रक्षा करना, उनको शिक्षा देना तथा उनकी जीविका का साधन प्रस्तुत करना इत्यादि राजा के मुख्य कर्तव्य 'रघुवंश' के राजाओं ने उत्तम रीति से पूर्ण किये थे ऐसा कालिदास ने दिखाया है। उनके राज्य काल में प्रजा को शत्रु के आक्रमण का डर नहीं था, दिलीप के कठोर शासन के कारण लोगों को चोर का परिचय तदर्थक शब्द से ही होता था, पुत्रजन्म के उत्सव में मुक्त करने के लिये उसके बन्दीगृह में एक भी कैदी नहीं था, उसके राज्य में इतनी शान्ति और सुव्यवस्था थी कि रात्रि में विहारस्थल को जाती हुई थक जाने के कारण अभिसारिकायें रास्ते में ही निद्रावश हो जाती थीं। तब उनको शरीर पर के वस्त्रों को हिलाने की या हटाने की हिम्मत वायु को भी नहीं होती थी। दशरथ के राज्य में रोग का निशान भी नहीं था तब शत्रु का आक्रमण कहाँ से होता? (रघु० ६, ४) अतिथि राजा के शासन में व्यापारियों को नदिया नालों की तरह और गहन वन उद्यान की तरह प्रतीत होते थे और व्यापारी गण उत्तुङ्ग पर्वतों पर घर की तरह निःशङ्क होकर घूमते थे (रघु० १७, ६४), ऐसा वर्णन 'रघुवंश' में आया है। व्यापारियों की तरह

तपश्चर्या करने वाले अरण्यवासी ऋषियों की राक्षसादिकों से रक्षा करना राजा का प्रधान कर्तव्य माना जाता था। इसीलिये दुष्यन्त के पास जब तपस्वी आये तब 'ऋषियों की तपश्चर्या में कुछ विघ्न तो नहीं आ रहे हैं? तपोवन के प्राणियों की किसी ने हत्या तो नहीं कर डाली? मेरे दुष्कृत्यों के कारण अरण्य में लतावृक्षों में फल फूलों का आना बन्द तो नहीं हो गया है?' इस प्रकार के अनेक संकल्प विकल्प उसके मन में उठे थे। इसी तरह के प्रश्न रघु ने भी कौत्स से किये हैं (रघु० ५, ५–६)। इस से राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था संबंधी कालिदास के विचार समझ में आ जाते हैं।

शिक्षा—

लोगों को शिक्षित बनाना ही राजा का प्रधान कर्तव्य माना जाता था। इसके लिये राज्य में जगह जगह नदियों के तटों पर ऋषियों के आश्रम होते थे और उनके निर्वाह के लिये आस पास की जमीन खेती के लिये छोड़ दी जाती थी। उन आश्रमों में शिक्षा का क्रम निर्विघ्नता से चलाने के लिये राजा एक अधिकारी नियत करता था। "आश्रम के सारे काम निर्विघ्नतापूर्वक चले जा रहे हैं—यही देखने के लिये मैं यहाँ अधिकारी रूप से आया हूँ" इस तरह दुष्यन्त 'शाकुन्तल' में अपना प्रथम परिचय देता है। शिक्षा का क्रम समाप्त करने पर शिष्य को गुरु की जो दक्षिणा देनी पड़ती थी, वह राजा के पास से मिलती थी। इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से भी शिक्षा के लिये द्रव्य द्वारा राजा सहायता किया करता था। कौत्स नामक ब्रह्मचारी को गुरुदक्षिणा देने के लिये जब चौदह करोड़ मुद्रायें आवश्यक हुईं तो रघु ने कुबेर से पाकर कौत्स को दी थीं—ऐसा प्रसंग 'रघुवंश' में आया है।

पोषण—

राजा लोग रास्ते, पुल इत्यादि आवागमन के साधन प्रस्तुत कर सर्वत्र शान्ति तथा सुरक्षा की व्यवस्था कर व्यापारियों को प्रोत्साहन देते थे। उसके सिवाय राज्य की तरफ़ से छोटे बड़े कई कारखाने चलाये जाते थे उनके द्वारा लोगों को जीविका का साधन मिलता था। कालिदास के ग्रथों में इनका सविस्तर वर्णन नहीं मिलता, फिर भी एक दो जगह सेतु अर्थात् नदियों पर बड़े बड़े पुल बँधवाना, खेती कराना, जगली हाथियों को पकड़वाना और खानों से रत्न निकलवाना इत्यादि कामों का निर्देश है। उससे उनके सबध में यह कल्पना की जा सकती है (रघु० १६, २, १७, ६६)

यज्ञ कर्म—

कालिदास के समय में, 'देवता यज्ञों से सन्तुष्ट होते हैं' (रघु० १, ६२) ऐसी लोगों की धार्मिक श्रद्धा होने के कारण राजा लोग समय समय पर अनेक यज्ञ किया करते थे। दक्षिण में आन्ध्रों तथा वाकाटकों ने, आप्तोर्याम, अग्निष्टोम इत्यादि अनेक यज्ञ किये थे, इसका उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में मिलता है। कालिदास ने भी अपने काव्यों में दिलीप, रघु इत्यादि राजाओं के यज्ञों का वर्णन किया है। राजा दिलीप यज्ञ द्वारा स्वर्ग का और इन्द्रवृष्टि द्वारा मृत्युलोक का पालन करते थे। (रघु० १)। वसिष्ठ के आश्रम को जाते समय स्वत याज्ञिकों को दिये हुये ग्रामों में दिलीप को यज्ञस्तम्भ खड़े हुये दीख पड़े—ऐसा वर्णन कालिदास ने किया है। इस से राजा लोग यज्ञकर्म के उपलक्ष में विद्वान् और धार्मिक ब्राह्मणों को अग्रहार दिया करते थे इसका पता चलता है।

इसके अतिरिक्त धर्मसरक्षण, न्यायदान इत्यादि कर्तव्य राजा को करने पड़ते थे। लोगों के द्वारा, स्मृतियों के अनुसार, वर्णाश्रम धर्म का आचरण करवाना राजा का कर्तव्य था। वह किसी को भी स्वजातिविहित कर्म छोड़ कर परजाति के कर्म नहीं करने देता था। स्वय राजा को लोगों की शिकायतें सुन कर निष्पक्षपात रीति से वादी प्रतिवादी का जिस से समाधान हो, इस तरह का न्याय करना चाहिये, ऐसा कालिदास ने कई जगह सूचित किया है। दिलीप हमेशा गुणों की कद्र किया करता था। सज्जन मनुष्य अपना शत्रु हो, फिर भी उसे वह सम्मान देता था और अपना निकट से निकट सम्बन्धी क्यों न हो अगर वह दुर्गुणी है तो उस का त्याग कर देता था। अपराध के अनुसार सजा देकर रघु ने सब लोगों का मन आकर्षित कर लिया था, इत्यादि वर्णनों से उन राजाओं की न्यायप्रियता और निष्पक्षपात का महत्त्व कालिदास ने दिखाया है।

✓'रघुवश' में राजा लोग सरक्षण, शिक्षण, पोषण इत्यादि विविध प्रकार से अपनी प्रजा का पालन करते थे, और वे ही प्रजा के सच्चे पिता समझे जाते थे—इस तरह का कालिदास ने स्थान स्थान पर वर्णन किया है। प्रजा के दुःखों का कारण खोज कर उन्हें दूर करने में हमेशा लगे रहने से राम अपनी प्रजा को पुत्र की तरह प्रिय हो गये थे। (तेनास लोक पितृमान् विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री)। (रघु० १४, २३)। "जब तक पास में खूब सम्पत्ति रहती है तब तक मनुष्य को भाई बन्धु घेरे रहते हैं, परन्तु जब वह नष्ट हो जाती है तब वे ही बन्धु तीन तेरह हो जाते हैं। राजा! तू ही सदैव लोगों के काम आता है इसलिये तुझ में बन्धुत्व का भाव अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है" इस प्रकार

वैतालिक का कथन दुष्यन्त के चरित्र से अक्षरश सत्य मालूम होता है। इस प्रकार आठों प्रहर प्रजा के कल्याण की चिन्ता रखने वाला राजा एक प्रकार से कठिन तपश्चर्या करता था। इसीलिये उसको 'राजर्षि' की पदवी शोभा देती थी। यह बात कालिदास ने निम्नलिखित श्लोक मे बतलाई है।

अध्याक्रान्तावसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तप प्रत्यह सञ्चिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीत
पुण्य शब्दो मुनिरिति मुहु केवल राजपूर्व ॥
शाकु० २, १४

प्राचीन काल मैं दूसरे राजाओं को जीत कर स्वय चक्रवर्ती होने की महत्त्वाकाक्षा प्रत्येक राजा को होती थी। अन्य राजा अपना सार्वभौमत्व स्वीकार करें इसके लिये राजा दिलीप ने ९९ अश्वमेध यज्ञ तथा रघु ने दिग्विजय किया था। इस दिग्विजय में रघु ने अनेक राजाओं को परास्त कर दिया था। कई एक राजा युद्ध में मारे गये, तथापि उनके राज्यों को हड़प न कर उनसे सिर्फ कर लिया तथा मृत राजाओं के उत्तराधिकारियों को गद्दी पर बिठाया। शत्रु पर विजय प्राप्त करना गौतम धर्मसूत्र में क्षत्रियों का कर्तव्य बतलाया गया है, परन्तु यह विजय पराये राज्यों को लोभ से हड़प लेने के लिये नहीं होती थी किन्तु निर्बलों की रक्षा और दुर्जनों का नाश करके पृथ्वी पर धर्मराज्य स्थापित करने के लिये तथा अश्वमेध, राजसूय, विश्वजित् जैसे बड़े बड़े यज्ञों को करके देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिये कालिदास ने जगद्विजयी रघु को 'धर्मविजयी' यह सार्थक विशेषण दिया है। (रघु० ४, ४३)। ईस्वी की पहिली तीन शताब्दियों में शक तथा कुशानवशी विदेशी राजाओं से टक्कर

लेकर हिन्दूधम को पुनरुज्जीवित करने की शक्ति भारतवर्ष के छोटे छोटे राज्यों में नहीं थी। यह काम दिग्विजयी समुद्रगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त ने किया। चक्रवर्तित्व का आदर्श कवि अच्छी तरह जानता था, इसलिये उसने अपने ग्रंथों में उस आदर्श की गहरी छाप लगा दी है।

शिक्षा—

कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय', 'शाकुन्तल' तथा 'रघुवश' में आश्रमों की परिस्थिति का वर्णन किया गया है तथा 'मालविकाग्निमित्र' में भी शिक्षा विषयक विचार आये हैं। उन से हम कवि के शिक्षा संबंधी सिद्धान्तों को समझ सकते हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में मालविका का नाट्यप्रयोग राजा के सामने होना चाहिये, इस उद्देश्य से विदूषक ने वह प्रसग लाकर उपस्थित कर दिया है। उस प्रसग में परिव्राजिका आदि के भाषणों में आये हुये शिक्षा विषयक विचारों के आपातत एकागी मालूम होने से वे स्वय कालिदास के न होंगे ऐसी शका होना सम्भव है। तथापि यदि वे सचमुच वैसे होते तो धारिणी ने अवश्य उनके विरुद्ध आक्षेप किया होता। एक दो स्थलों पर जहाँ मतभेद के लिये स्थान था वहाँ उसने आक्षेप उठाया ही है। इस से अनुमान कर सकते हैं कि उस प्रवेश में कालिदास ने अपने सर्वसम्मत शिक्षाविषयक विचार उल्लिखित किये हैं।

कालिदास के ग्रन्थों में, तपोवन में ऋषियों के आश्रम ही शिक्षा के मुख्य केन्द्र वर्णन किये गये हैं। ये आश्रम बहुधा बड़े बड़े नगरों से बहुत दूर किसी नदी के तट पर हुआ करते थे। 'शाकुन्तल' में कण्व का आश्रम दुष्यन्त की राजधानी से इतना दूर था कि वहाँ तक पहुँचने में कई दिन लग जाते थे और वह हिमालय की

उपत्यका में मालिनी नदी के तट पर स्थित था, ऐसा वर्णन है। 'रघुवंश' में वसिष्ठाश्रम तक पहुँचने के लिये दिलीप को लगभग दिवस भर रथ में प्रवास करना पड़ा था, ऐसा वर्णन आया है। 'विक्रमोर्वशीय' में च्यवन ऋषि का आश्रम राजधानी से दूर नहीं था, कारण यहाँ से राजधानी में आने के लिये तापसी और राजकुमार आयु को देर नहीं लगी—ऐसा मालूम होता है। इसके सिवा सपन्न लोग घरों में ही शिक्षक रख कर अपने बालकों को विविध विद्या और कला की शिक्षा देते थे। रघु, पार्वती आदि को घर ही पर विविध विषयों के योग्य शिक्षक रख कर शिक्षा दिलाई गई थी। मालविका तथा इरावती को नृत्यगायन आदि की शिक्षा देने के लिये राजमहलों में नाट्याचार्य नियुक्त किये गये थे। कहीं कहीं पिता पुत्र को, पति पत्नी को कुछ विषयों की शिक्षा दिया करता था। रघु ने अपने पिता दिलीप से धनुर्विद्या प्राप्त की थी। इन्दुमती अपने पति अज की ललितकलायें सीखनेवाली प्रिय शिष्या थी।

आश्रमों में बालकों की तरह बालिकाओं को भी शिक्षा दी जाती थी। प्राचीन काल मे गृहस्थाश्रमों के कर्तव्यों को पूरा कर लोग वानप्रस्थाश्रमी बन कर तपश्चर्या के लिये किसी एक तपोवन में जाते थे, उस समय उनके साथ छोटे छोटे बालक भी रहते थे। मारीच आश्रम में सर्वदमन को देखने पर तथा यह पुरुवंशी संतान है ऐसा समझने पर दुष्यन्त को वह किसी वाणप्रस्थी पौरव राजा का कुमार होगा, ऐसा मालूम हुआ था। 'फूल फल, तथा देवताओं के नैवेद्य के लिये उपयुक्त वन्य नीवार धान्य, लाकर तथा मीठे मीठे वचन बोल कर ये मुनिकन्यायें तेरे दुःख का परिहार करेंगी'—ऐसा कह कर वाल्मीकि ऋषि ने वन में परित्यक्त सीता को सान्त्वना

दी थी। 'शाकुन्तल' की प्रियंवदा, अनसूया और शकुंतला आश्रम में ही बड़ी हुई और वहीं शिक्षा पाइ थी। बालक बालिकाओं की एक ही शिक्षा होती थी या उनके अलग अलग वर्ग थे इसका कालिदास के ग्रंथों में उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी उनके बाद ३०० वर्ष के पश्चात् उत्पन्न हुये भवभूति के 'उत्तररामचरित' में आत्रेयी, लव और कुश का कुछ समय तक सहशिक्षण दिखलाया गया है। इस से कालिदास के समय में भी वही पद्धति प्रचलित होगी ऐसा सम्भव प्रतीत होता है।

इन आश्रमों में सामान्यत उपनयन संस्कार होने पर अर्थात् आठवें वर्ष से बालक लिये जाते थे तथा वहाँ उनकी शिक्षा सोलह से लेकर बीस वर्ष की अवस्था तक होती थी। 'विक्रमोर्वशीय' में आयु नामक राजकुमार आश्रम की शिक्षा समाप्त करते समय कवच धारण करने योग्य हो गया था—ऐसा कवि ने वर्णन किया है। उस से उस समय उसकी अवस्था १६–१७ वर्ष की होगी, ऐसा मालूम होता है। ब्राह्मण वर्ण में बुद्धिमान विद्यार्थी को चौदहों विद्याओं का अभ्यास करना पड़ता था, इसलिये उसे अध्ययन करने में अधिक वर्ष लगते थे। शकुन्तला और उसकी सखियाँ वयस्क होने तक आश्रम में ही रही थीं, और शकुन्तला के जाने के अनन्तर कण्व ने तुरंत ही उनका विवाह करने का निश्चय किया था। हारीतधर्मसूत्र में आश्रम में शिक्षा पाने वाली विद्यार्थिनी के सद्योवधू (विवाह योग्य) तथा ब्रह्मवादिनी इस प्रकार दो भेद वर्णन किये गये हैं। इस में से पहिले वर्ग की कन्या की शिक्षा समाप्त होने पर विवाह होता था और दूसरे वर्ग की कन्यायें आजीवन आश्रम में ब्रह्मचर्य व्रत पालन करके रहती थीं। ऐसी ही परिस्थिति कालिदास के समय में भी रही होगी। इसीलिये दुष्यन्त

आश्रमों में किसी भी प्राणी की हत्या न होने का कड़ा नियम था। शिकार करते करते दुष्यन्त कण्व के तपोवन के समीप जाकर पहुँचा। वहाँ एक हरिण उसके सामने से गुजरा ही था कि उसे वह बाण से मारने को तैयार हो गया। इतने में समिधा लानेवाले तपस्वी बीच में आ पड़े और उन्होंने राजा से 'यह आश्रम का मृग है, अतएव अवध्य है' ऐसा कह कर बाण को पीछे तरकश में रखने की प्रार्थना की। राजा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करली, ऐसा प्रसंग 'शाकुन्तल' में आया है। 'विक्रमोर्वशीय' में ऋषिकुमारों के साथ फूल, समिधा वगैरह लेने के लिये गये हुये राजकुमार आयु ने संगमनीय मणि लेकर जानेवाले गीध को एक बाण मार कर नीचे गिरा दिया, यह आश्रम के नियमविरुद्ध होने से च्यवन ऋषि ने एक तापसी के साथ उसके संबंधियों के पास उसे भेज दिया। इस से पता चलता है कि आश्रमों में इस नियम का पालन कितनी कड़ाई से किया जाता था।

आश्रमों में ब्राह्मण बालकों को चौदहों विद्याओं की शिक्षा मिलती थी। उन विद्याओं का उल्लेख पहिले आ चुका है। क्षत्रिय कुमारों को अनिवार्य रूप से धनुर्वेद की शिक्षा आश्रमों में दी जाती थी, यह बात 'विक्रमोर्वशीय' से मालूम होती है। स्त्रियों को लिखना, पढ़ना, चित्रलेखन, संगीत, गृहकृत्य इत्यादि उपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती थी, यह 'शाकुन्तल' में शकुन्तला तथा उनकी सखियों के भाषण से स्पष्ट होता है। जो स्त्रियाँ सांसारिक बातों में पड़ना चाहती थीं उन्हें उद्यानकला की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये, ऐसा कालिदास का अभिप्राय मालूम पड़ता है। वृक्षों को ठीक समय पर पानी दे कर उनकी देख रेख करने से स्त्रियों के हृदयों में अप्रगट रूप से धीरे धीरे अपत्यवात्सल्य का

अङ्कुर उत्पन्न होता है ऐसा उन्होंने अनेक जगह वर्णन किया है। तपश्चर्या करते समय पार्वती ने जिस वृक्ष को पानी देकर बड़ा किया था उस पर उनको अपने पुत्र कार्तिकेय से भी अधिक प्रेम हो गया था। उठ सकने योग्य घड़ों द्वारा आश्रम के छोटे छोटे वृक्षों में पानी डालने से पुत्रोत्पत्ति के पहिले ही तुझे सन्तानप्रेम का अनुभव होगा ऐसा वाल्मीकि ने सीता से कहा था। कुछ स्त्रियाँ पुरुषों की तरह, अन्य विद्याओं का भी अभ्यास करती थीं। 'मालविकाग्निमित्र' में परिव्राजिका इसी तरह की विविध विद्या-पारगत विदुषी दीखती है।

'यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्त लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मे' इस श्लोक में कालिदास ने अज्ञान का नाश कर मनुष्य को नवीन दृष्टि देने वाले शिक्षक को, रात्रि का अन्धकार दूर कर सारे विश्व में चैतन्य उत्पन्न करने वाले सूर्य की उपमा दी है। इस से यह भी मालूम होता है कि कालिदास की सम्मति में समाज में शिक्षकवर्ग को कितना उच्च सम्मान प्राप्त होना चाहिये। सच्चा शिक्षक ही विद्या द्वारा निष्ठापूर्वक अध्यापन का कार्य करता है, जो सिर्फ पेट भरने के लिये ही विद्या का उपयोग करता है उसको ज्ञानरूपी माल मसाला बेचने वाला बनिया बक्काल कहते हैं (यस्यागम केवलजीविकायै त ज्ञानपण्य वणिज वदन्ति), इस प्रकार की स्पष्टोक्ति उन्होंने 'मालविकाग्निमित्र' में की है। सभी शिक्षक समान योग्यतावाले नहीं होते। कुछ का ज्ञानभडार बहुत विशाल होता है, परन्तु उनसे अपनी विद्या शिष्य को देना सधता नहीं। कुछ शिक्षक टटपुँजिये—बहुत ही सीमित ज्ञानवान—होते हैं, फिर भी उनका सिखाने का ढग अच्छा होता है। ये दोनों गुण जिस में एक साथ हों उसी को सब शिक्षकों में श्रेष्ठ समझना चाहिये। ऐसा स्वानुभव कालिदास ने 'शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसस्था सक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।

यस्योभय साधु स शिक्षकाणा धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥' (माल० १, १६) इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया है।

विद्यार्थियों के मन की लगन, बुद्धि, पात्रता इत्यादि देखकर उस के योग्य विषय को चुनने में शिक्षक का कौशल है। यदि ऐसी सावधानी पहले ही से की जाय तो विद्यार्थियों का तथा शिक्षकों का परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता। ऐसे विद्यार्थियों को परीक्षा के हाल की यात्रा नहीं करनी पड़ती, यह सिद्धान्त आजकल सर्वमान्य हो चुका है। इसी को कालिदास ने अपने 'मालविकाग्नि मित्र' के पात्रों के सभाषण में कहलाया है। परस्पर नाट्याचार्यों को अपनी अपनी शिष्या से नाट्य की परीक्षा दिलवा कर अपनी शिक्षण निपुणता दिखलानी चाहिये, ऐसा परिव्राजिका के सूचित करने पर धारिणी कहती है—'अगर कोई विद्यार्थिनी मन्दबुद्धि हो और वह सिखाई हुई विद्या को क्रियात्मक रूप न दे सके तो उसका दोष शिक्षक के मत्थे मढ़ा जाना चाहिये क्या?' इस पर विदूषक उत्तर देता है, 'शिक्षा के लिये अयोग्य विद्यार्थिनी को चुनने में शिक्षक का मन्दबुद्धित्व प्रगट होता है।' अन्यत्र कवि ने 'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति'। (रघु० ३, १६) योग्य विद्यार्थी देख कर शिक्षा देने से फलदायी होती है ऐसा कहा है।

उपर्युक्त प्रवेश में कालिदास ने विद्यार्थियों के लिये कुछ सूचनायें दी हैं। 'अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्यान्याय्य प्रकाशनम्' ली हुई शिक्षा पूरी तरह से आत्मसात् हुये बिना परीक्षा में बैठने से विद्यार्थी को हानि होती है साथ ही अध्यापक के प्रति भी अन्याय होता है। वर्तमान काल में परीक्षा पास कर लेने पर ही सारी सफलता निर्भर है और अधिकांश में विद्यार्थियों के लिये परीक्षा लाटरी की तरह हो गई है। यह भ्रम सर्वत्र फैलने के कारण बहुतसे

विद्यार्थी आजकल सतोषदायक तैयारी न होते हुये भी परीक्षा में यों ही बैठ जाते हैं। यदाकदाचित् पास हो भी गये तो उनको मिला हुआ ज्ञान अच्छी तरह आत्मसात् न होने के कारण आगे की श्रेणियों में या व्यवहार में उसका कुछ भी उपयोग वे नहीं कर सकते हैं। उसी तरह सिर्फ रट रट कर कोई भी विद्या हस्तगत नहीं होती, मन लगा कर उसका अभ्यास करना पड़ता है, यह 'विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हसि' (रघु० १, ८८) इस श्लोक में कवि ने सूचित किया है।

शिक्षकों और विद्यार्थियों की तरह ही परीक्षा लेनेवाले विश्व विद्यालयों और मडलों को भी कुछ उपयुक्त सूचनायें उक्त प्रवेश में मिलती हैं। 'हरदत्त तथा गणदास के झगड़े का निपटारा आप को करना चाहिये' ऐसा राजा के परिव्राजिका से कहते ही वह हँसकर कहती है—'यह दिल्लगी रहने दीजिये। समीप में नगर के रहते हुये रत्न की परीक्षा क्या कोई गाव में करेगा?' इस पर राजा कहता है—'आप विदुषी और मध्यस्थ हैं। मैं और रानी दोनों पक्षपाती हैं।' इस में कालिदास ने यह बात सूचित की है कि ऐसे परीक्षकों को कभी नियुक्त न करे जो विद्यार्थियों के सगे सबधी हों या उनके पास होने में उनका कुछ हितसभव हो। साथ ही कवि ने आगे चल कर यह भी कहा है कि 'सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय' परिव्राजिका की इस उक्ति में एक ही परीक्षक के मत पर परीक्षा का परिणाम निर्धारित रखने से विद्यार्थी के प्रति अन्याय हो सकता है, इसलिये परीक्षा में दो या उससे अधिक परीक्षकों को नियुक्त करना चाहिये। इस प्रकार की व्यवस्था करने से अन्याय की सम्भावना नहीं रहती है। यही पद्धति आज कल सर्वसम्मत हो चुकी है। चित्रलेखन, नृत्य, गीत

इत्यादि जितनी प्रयोगप्रधान कला और विद्यायें हैं उनकी केवल पुस्तकी शिक्षा पूर्ण न मान कर प्रत्यक्ष प्रयोग देख कर ही परीक्षकों को विद्यार्थी की योग्यता का निर्णय करना चाहिये। यह सिद्धान्त भी कवि ने इस प्रवेश में दिखलाया है।

प्रसगानुसार, कालिदास ने शिक्षा के हेतु का उल्लेख किया है, उसका विचार कर हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। शिक्षा का ध्येय अनेकों ने अनेक तरह से वर्णन किया है। जिस के द्वारा शरीर सुदृढ, वाणी प्रगल्भ और सुसस्कृत हो उसी को कुछ लोग सच्ची शिक्षा कहते हैं तो दूसरों की सम्मति में जिस के द्वारा विद्यार्थी उत्तम नागरिक बने वही शिक्षा है। कालिदास ने 'सम्यगागमिता विद्या प्रबोधविनयाविव' इस उपमा में प्रबोध अर्थात् ज्ञानप्राप्ति तथा विनय अर्थात् शीलसम्पन्नता इन दोनों को ही विद्या का उद्देश्य बतलाया है। केवल ज्ञान से मनुष्य श्रेष्ठ नहीं होता। साथ ही उसे सच्छील होना चाहिये, यह बात उन्होंने उक्त उपमा में सूचित की है। विद्या की अच्छी तरह उपासना करने से ये दोनों उद्देश्य सफल होते हैं। परीक्षा के लिये नियुक्त पुस्तकों को रट कर नियत समय पर परीक्षा पास करने से शील की प्राप्ति तो दूर रही, ज्ञान तक हाथ नहीं लगता यह आजकल का भी अनुभव है। ज्ञान से ससार में मनुष्य के सुख साधन बढ़ते हैं, शील के न होने से मनुष्य के स्वभाव में लोभ, मात्सर्य, द्वेष इत्यादि दुष्ट मनोविकारों की वृद्धि होकर ससार में सर्वत्र कलह, युद्ध तथा रक्तपात दिखाई देते हैं। इसीलिये कालिदास ने ज्ञान के उद्देश्यों में प्रबोध के साथ साथ विनय का भी उल्लेख किया है।

९ वाँ परिच्छेद

कालिदास और उत्तरकालीन ग्रन्थकार

ख्यात कृती सोऽपि च कालिदास शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाचण्डमरीचिगोत्रसिंधो पर पारमवाप कीर्ति ॥

सोड्ढलकृत उदयसुंदरीकथा।

[धन्य हैं वे कवि कालिदास जिन की कीर्ति कविता के समान दोषरहित, अमृततुल्य और मधुर है। उनकी वाणी जैसे सूर्यवंश का पूर्ण वर्णन कर सकी वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के पार पहुँची है।]

मालूम होता है कि कालिदास के जीवनकाल ही में उनके सुधामधुर ग्रंथों की प्रशंसा और प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई थी। दानशूर गुप्त सम्राट् के आश्रय से कीर्ति के साथ साथ धन दौलत भी उनको खूब मिली थी। अत भवभूति की तरह उन्होंने "उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा कालोह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"* इस तरह असंतोष के और अपने समकालीन विद्वान् कवियों के संबंध में तुच्छतादर्शक और अभिमानपूर्ण उद्गार कहीं पर नहीं

---

* अर्थ—कभी न कभी तो कहीं कोई मेरे ग्रंथों का सहानुभूति पूर्ण समालोचक उत्पन्न होगा या अब भी पृथ्वीतल पर विद्यमान होगा, क्योंकि काल अनंत और पृथ्वी विशाल है।

निकाले। मृत्यु के बाद तो उनकी कीर्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। उनके ग्रंथों ने आबालवृद्धों को मोहित कर लिया। उनके बाद ईस्वी सन् की छठी शताब्दी से आज तक प्राचीन और अर्वाचीन कवियों ने जो स्तुति पुष्पाञ्जलि कालिदास की प्रशसा में अर्पण की है उन में कुछ सूक्तियाँ इस ग्र थ के अ त में सकलित की गई हैं। पर तु प्रत्यक्ष प्रशसा के उद्गारों की अपेक्षा उत्तरकालीन ग्रथकारों ने कालिदास के ग्रथों की कल्पनाओं और वर्णित प्रसगों का अनुकरण कर एक प्रकार से जो उनकी श्रेष्ठता स्वीकार की है उसका महत्त्व विशेष है। क्योंकि उससे उनके ग्रथों की लोकप्रियता और सार्व जनिक प्रचार की कल्पना सहज में ही हो जाती है। हम पीछे बतला चुके हैं कि कालिदास की मृत्यु के अनन्तर शीघ्र ही रची हुई वत्सभट्टि की म दसोर वाली प्रशस्ति में उनके 'ऋतुसहार' और 'मेघदूत' काव्यों की कल्पनाओं का स्वच्छ प्रतिबिम्ब किस खूबी से झलकता है। ईसा की छठी शताब्दी में गया के समीप नागार्जुन पहाड़ी के ऊपर गुफा में खुदे हुये अनन्तवर्मनामक मौखरी राजा के लेख में 'यस्याहूतसहस्रनेत्रविरहक्षामा सदैवाध्वरे। पौलोमी चिर मश्रुपातमलिनां धत्ते कपोलश्रियम्॥' इस श्लोक में 'रघुवश' के (६, २३) श्लोक की नकल स्पष्ट मालूम होती है। ईसा की ७वीं शताब्दी में भट्टि-काव्य में और ऐहोले की रविकीर्तिकृत प्रशस्ति मे कई स्थलों पर कालिदास की कल्पनाओं की प्रतिध्वनि सुनने में आती है। इस शताब्दी में कालिदास की कीर्ति भारतवर्ष ही में नहीं, हि दुस्तान के बाहर समुद्र पार फैल गई थी। क्योंकि उस शताब्दी में कम्बोडिया में खुदे हुये भववर्मा के निम्नलिखित दो श्लोकों में कालिदास की कल्पना स्पष्ट प्रतिबिम्बित दीखती है—

शरत्कालाभियातस्य परानाक्रान्ततेजस ।
द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि ॥
यस्य सेनारजोधूतमुज्भितालक्तितिष्वपि ।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावमुपागतम् ॥*

उत्तरकालीन ग्रथकारों ने कालिदास के ग्रथों से कुछ रमणीय कल्पनायें ही नहीं ली हैं किन्तु उनके ग्रथों की अनेक घटनायें भी कालिदास की घटनाओं से मिलती-जुलती हैं। सस्कृत के नाट्यसाहित्य में कालिदास के बाद भवभूति का स्थान है । किं बहुना ऐसी जनश्रुति है कि ये दोनों कवि समकालीन और परस्पर प्रतिस्पर्धी थे। परन्तु इन कवियों के समय निर्णय करने से यह कल्पना निराधार मालूम पड़ती है । इतना ही नहीं बल्कि यह भी सिद्ध होता है कि भवभूति ने कालिदास के नाटकों का बहुत सूक्ष्म रीति से अनुशीलन कर उन में से अनेक मनोहर कल्पना, शब्द प्रयोग और मार्मिक घटनाओं का अपने नाटकों में अच्छी तरह उपयोग किया है। 'मालतीमाधव' में मालती का मन आकृष्ट करने के लिये कामन्दकी, दुष्यन्त शकुन्तला तथा पुरूरवा-उर्वशो—इन की प्रेमकथाओं का दृष्टान्त देती है। ये दृष्टान्त कालिदास के नाटकों से भवभूति को अवगत हुये होंगे। इस नाटक के नवम अक में मालती के एकाएक अदृश्य हो जाने से माधव उन्मत्त हो जाता है और अपनी प्रियतमा के पास सदेश ले जाने के लिये मेघ से प्रार्थना करता है और हाथी, वायु इत्यादिकों से मालती का समाचार पूछता है । यह कल्पना भवभूति को कालिदास के 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशीय' से मिली होगी। 'उत्तररामचरित' के अतिम अक में विविध कारणों से कुश

* देखिये रघुवश' ४, ४६; ४, ५४

लव अपने ही पुत्र हैं ऐसा विश्वास रामचन्द्र को होता है । यह प्रसग 'शाकुन्तल' के अतिम अक के 'प्रत्यभिज्ञान' प्रसग की तरह दीखता है । इसके अतिरिक्त 'गौरीगुरो पावना' ऐसे शब्दप्रयोग भी मिलते हैं । इस तरह की समानताओं से, कालिदासकृत काव्य नाटकों की छाप कितनी पड़ी है, इसका अनुमान किया जा सकता है । कुछ भी हो, भवभूति के नाटक कालिदास के नाटकों की हूबहू नकल नहीं हैं। उन नाटकों की रचना में उस विख्यात नाटककार की निज की कुछ विशेषतायें हैं। इसके विरुद्ध हर्ष की 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली', राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' और 'विद्धशालभञ्जिका' और बिल्हण की 'कर्ण सुन्दरी' इन नाटिकाओं पर कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की पूर्ण रूप से छाप पड़ी है। इससे यह कहा जा सकता है कि कालिदास के इस नाटक ने सस्कृतसाहित्य में एक विशेष प्रकार के नाट्यसम्प्रदाय को जन्म दिया। कालिदास के पूर्ववर्ती भास कवि का 'स्वप्नवासवदत्त' भी कुछ अशों में इस नाटक से मिलता जुलता है। फिर भी उस में उदयन, वासवदत्ता तथा पद्मावती जैसे प्रधान पात्रों के समान उदात्त स्वभाव के पात्र, हर्ष आदि के नाटकों में दिखाई नहीं पड़ते । 'मालविकाग्निमित्र' के अग्निमित्र, धारिणी, इरावती, मालविका जैसे पात्रों को उत्तरकालीन नाटककारों ने अपनी अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। उन नाटकों की रचना 'स्वप्नवासवदत्त' के समान न होकर 'मालविकाग्निमित्र' के अनुसार हैं। इस से यह सिद्ध होता है कि उन नाटककारों ने कालिदास के नाटकों को ही आदर्श माना था ।

इन सब नाटकों को अन्तःपुर की घटनाओं के आधार पर खड़ा किया है। उन में नायक का स्वच्छन्द रूप से एक अन्तःपुर

वासिनी राजकन्या पर आसक्त होना, विवाहिता रानी का ईर्ष्यावश होकर उस प्रेम में बाधा डालना, आगे किसी निमित्त से उस राजकन्या का पूर्ववृत्त प्रगट हो जाने पर राजा से उसका विवाह होना—इत्यादि कल्पनायें सभी में किसी न किसी रूप में विद्यमान मालूम होती हैं। नाटक के अंत में राजा को खबर मिलती है कि उसकी सेना ने शत्रु पर विजय पाई। परन्तु इस घटना का संविधानक (कथावस्तु) से जैसा घनिष्ठ संबंध भास तथा कालिदास के नाटकों में दीख पड़ता है वैसा अन्य नाटकों में नहीं दीख पड़ता। किं बहुना बिल्हण और राजशेखर के आश्रयदाता राजा ही उन नाटकों के नायक हैं, इसलिये उनके विजयोत्सव या विवाहोत्सव पर उन नाटिकाओं की रचना राजा की आज्ञा से हुई, प्रतीत होती है। इन नाटिकाओं में विजय और विवाह का बादरायण संबंध प्रदर्शित किया गया है। इस से उनके संविधानकों में कार्यैक्य (Unity of Action) नहीं दीखती। पात्रों के चरित्र चित्रण और भाषा-सौन्दर्य में भी ये नाटक-नाटिकायें 'मालविकाग्निमित्र' की अपेक्षा निम्नश्रेणी की हैं।

कालिदास ने नाट्य साहित्य की तरह ही काव्य-साहित्य में भी एक खास सम्प्रदाय की स्थापना की है। उनका नितान्त रमणीय 'मेघदूत' काव्य लोगों को इतना पसन्द आया कि अन्य कवि भी उसी का अनुकरण करने लगे और सौ डेढ़सौ वर्षों के भीतर ही, वायुदूत, भ्रमरदूत, हारीतदूत, चक्रवाकदूत आदि अनेक दूतकाव्यों का निर्माण हुआ। ये काव्य अब उपलब्ध नहीं हैं, तथापि ईसा की छठी शताब्दी में वर्तमान भामह नामक काश्मीरी आलंकारिक ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में ऐसे दूतकाव्यों पर बड़ी कड़ी टीका टिप्पणी की है। इससे यह अनुमान होता है कि भामह के समय

में ऐसे दूतकाव्य रहे होंगे । भामह की कड़ी आलोचना की लापर्वाही करके उत्तरकालीन कवियों ने दूतकाव्यों की रचना जारी रक्खी । हाल में ऐसे लगभग पचास दूत-काव्य उपलब्ध अथवा नाममात्र से परिचित हैं । उन में से बहुत से ईसा की ११वीं शताब्दी के बाद के हैं । इन काव्यों में 'उद्धव' सदृश मनुष्य, शुक, कोकिल, चातक, चक्रवाक जैसे पक्षी, चन्द्र, पवन जैसे अचेतन पदार्थ, और मन, भक्ति सदृश अमूर्त कल्पनाओं को दूत बना कर उनके द्वारा काव्य के नायक-नायिकाओं ने एक दूसरे को सन्देश भेजे हैं । इन में से अधिकांश विप्रलम्भ शृङ्गारात्मक होने से 'मन्दाक्रान्ता' वृत्त में ही रचे हुये हैं । इन में अनेक स्थानों पर 'मेघदूत' की कल्पना और पदों का उपयोग दीख पड़ता है । कुछ कवियों ने तो 'मेघदूत' के प्रत्येक श्लोक का चौथा चरण लेकर समस्यापूर्ति करके अपने काव्यों की रचना की है । इस बात का भी यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक है कि आधुनिक काल में 'मेघदूत' की पूर्ति करने वाले दो काव्यों की रचना हुई है । उन में से 'मेघप्रतिसन्देश' नामक एक दूतकाव्य में यक्षपत्नी ने अपने प्रियतम को मेघ के द्वारा सन्देश भेजा है । दूसरे 'मेघदौत्य' नामक काव्य में इस तरह का कथाभाग है कि यक्षपत्नी ने कुबेर के समीप मेघ के द्वारा अपनी विज्ञप्ति भेज कर अपने प्रियतम यक्ष को मुक्त कराया ।*

मालूम होता है कि 'मेघदूत' के अत्यन्त लोकप्रिय हो जाने से वैष्णव और जैन कवियों ने अपने धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार के

---

* Chintaharan Chakravarti—'The Origin and Develop ment of Dutakāvya Literature in Sanskrit (I H Q Vol III pp 273-293)

लिये उसका पूरा पूरा उपयोग किया है। वैष्णव कवियों ने सीता राम और गोपी-कृष्ण के प्रेमकथाओं को लेकर अपने अपने दूत काव्य रचे। दूसरी ओर जैन कवियों के काव्यों में शान्तरस का साम्राज्य दीख पड़ता है। ईसा की आठवीं शताब्दी में 'जिनसेन' नामक एक जैन कवि ने अपन 'पार्श्वाभ्युदय' नामक काव्य में 'मेघदूत' की प्रत्येक पङ्क्ति समस्यापूर्ति के लिये ले ली है। 'मेघदूत' काव्य सम्पूर्ण विप्रलम्भ शृङ्गार का है। उसके प्रत्येक चरण का अपने तीर्थङ्कर के चरित्र में उपयोग करते समय कवि को मतलब निकालने के लिये कल्पनाओं की बहुत खींचतान करनी पड़ी है, पर उसने यह काम प्रसन्नता के साथ किया है। इस से मालूम होता है कि कालिदास के काव्यों ने लोगों को कितना मोहित कर डाला था। इतर जैन कवियों ने भी उपर्युक्त कारणों से दूतकाव्य के रूप में अपने आचार्यों को स्ववृत्तविषयक पत्र भेजे हैं।

'मेघदूत' में अनेक देश, नगर, पर्वत, नदी आदि का अत्यन्त रम्य वर्णन आने से वह अधिक हृदयगम हुआ है। कालिदास ने स्वय देशपर्यटन कर अथवा भिन्न भिन्न देशों के यात्रियों से बहुत सी बातें जान कर उनको अपनी इस रचना में स्थान दिया है जिस से इसकी ऐतिहासिक महत्ता बढ़ गई है। उनके अनुकरण करने वालों में वैसी सूक्ष्मदर्शिता के न होने से उनके बनाये हुये ग्रन्थों में ऐतिहासिक महत्त्व नहीं आया है। अधिकांश कवियों ने भौगोलिक उल्लेख छोड़ दिये हैं। अगर किसी ने भौगोलिक उल्लेख किये भी हैं तो उल्लिखित स्थलों का प्रामाणिक वर्णन न होने से वे पाठक को भ्रम में डाल देते हैं।

जब कालिदास के ग्रन्थों का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हुआ तब यूरोपीय रचनाओं पर भी उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष

प्रभाव पड़ा है। 'शाकुन्तल' का जर्मन अनुवाद देख कर ही प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे को अपने 'फाउस्ट' नामक जगद्विख्यात नाटक के आरम्भ में संस्कृत नाटक की तरह प्रस्तावना लिखने की बात सूझी। दूसरे जर्मन कवि शिलर ने 'मेघदूत' पढ़ने के बाद रचे हुये अपने 'Maria Stuart' नामक काव्य में बन्दीगृह में पड़ी हुई स्काटलैण्ड की रानी से मेघ को दूत बना कर उसके द्वारा स्वदेश को संदेश भेजवाया है।

प्रसिद्ध अंगरेजी दार्शनिक तथा ग्रंथकार कार्लाइल ने अपने एक ग्रंथ में एक जगह कहा है कि यदि कभी शेक्सपियर और भारतीय साम्राज्य, इन में से सिर्फ एक को चुन लेने की जरूरत पड़े तो मैं शेक्सपियर को ही पसंद करूँगा। परन्तु कार्लाइल का यह मत आज शायद प्रत्येक अंग्रेज को मान्य न होगा। तथापि इस से यह प्रतीत होता है कि विचारशील लोग अपने राष्ट्र के ग्रन्थकार को कितना महत्त्व देते हैं। समृद्ध, स्वतंत्र और एकधर्मी इंग्लैण्ड शेक्सपियर को कितना प्यार करता है और महत्त्व देता है, उससे सौगुना अधिक महत्त्व दरिद्री, पराधीन और अनेक जाति उपजाति, मत-मतान्तर और विविध भाषाओं से विभक्त भारत को, अपने कालिदास को देना चाहिये। धर्म, संस्कृति और भाषा की तरह ही श्रेष्ठ ग्रन्थकार भी राष्ट्र के एकीकरण में और उत्थान में सहायक होते हैं, इसका उत्कृष्ट उदाहरण कालिदास है। उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में मद्रास तक और पश्चिम में महाराष्ट्र से लेकर पूर्व में बंगाल तक सभी प्रान्तों के विद्वानों ने कालिदास को अपना ही समझ कर उसके कालनिर्णय में, जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने में और उनके ग्रंथों में भरे हुये गूढ़ रहस्यों को प्रगट करने में सहायता दी है। यूरोपीय विद्वानों को भारतीय संस्कृति और

सस्कृत भाषा का प्रथम परिचय कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' स ही हुआ । आज स्वतन्त्र, समृद्ध, पाश्चात्य देशों को दरिद्र, परतन्त्र भारतीय लोगों के पास अभिमानपूर्वक उल्लेखनीय वस्तुओं में कालिदास की कृतियों का समावेश आवश्यक है । इंग्लैण्ड का शेक्सपियर, जर्मनी का गेटे और इटली का डाण्टे—इन महाकवियों की तरह भारत के कालिदास को भी ससार की कविमाला में अत्यन्त प्रमुख स्थान मिला है। ऐसे सर्वश्रेष्ठ महाकवि के ग्रन्थों को कौन भारतीय साभिमान होकर नहीं पढ़ेगा ?

कालिदासस्तुतिकुसुमाञ्जलिः ।

१ लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः ।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥ दण्डिनः (षष्ठी शताब्दी)

२ निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥ बाणस्य (सप्तमशताब्दी)

३ एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥ राजशेखरस्य । (दशमशताब्दी)

४ अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥ (श्रीकृष्णकवेः)

५ ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य ।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्त्तिः ॥
सोड्ढलस्य । (एकादशशताब्दी)

६ साकूतमधुरकोकिलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ती ॥ गोवर्धनाचार्यस्य ।
(द्वादशशताब्दी)

७ काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥ सुभाषितम् ।

८ पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥ सुभाषितम् । अनामिका

९ वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद् ।
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥
जर्मण्यदेशीय 'गेटे' कवेः (अष्टादशशताब्दी)

कालिदास प्रति*
(भज गोविन्दम्)

१

दिव्यो मोहो विलसति विटप कुञ्जो मञ्जुरय परितः ।
त्वमेव तत्र कवीन्द्र ! प्रियया यौवनसिंहासने स्थित ॥
जगदिदमखिलं कालिदास ! तव मरकतमणिमयपदपीठम् ।
बृहन्नभ इव तवैव मूर्धनि बिभर्ति छत्र हेममयम् ।
ऋतुषड्वर्गच्छलेन नून षडिमा वारविलासिन्य ।
भ्रमन्ति कविवर ! भवन्तमभित सुललितलील नृत्यन्त्य ॥
मधूनि पात्रे सदा नूतनैश्छवि नवनवां बिभ्रन्ति ।
तृष्णामभिनवयौवनस्य ते प्रशमयितु ता सिञ्चन्ति ॥
क्वापि न शोको न वा यातना न कोऽपि अन्तुर्विलोक्यते ।
नान्तरेण तव राशीं किञ्चित् त्वमेव राजा विराजसे ॥

२

कवितावनिताविलास ! सम्प्रति कवि केवल नान्यस्त्वम् ।
क्वासौ राशी विदग्धपरिषद् ? क्व च भवन भवतो यातम् ॥
क्व गत सम्प्रति कालिदास ! ननु महान् स नृपति स्वामी ते ।
क्व च सावन्ती ! हन्त न लेश कस्याप्यधुना विलोक्यते ॥
शश्वद्दिव्यानन्दस्यन्दिनि कुबेरनगरे कविनृपते !
वसतिं सतत त्वं कृतवानिति लोक सम्प्रति मन्त्रयते ॥
यत्राश्लिष्टे शिखरिशेखरे सान्ध्य ध्यानादनन्तरम् ।
हर्षाकुलहृदयेन भगवता शिवेन ताण्डवमारब्धम् ॥
वारिपरिप्लुतमेघगर्जनाच्छलेन पटहध्वनिरभवत् ।
स्फुरत्कान्तिमद्विद्युद्वलय तालैस्ताण्डवमनुगतवत् ॥
सस्तुतिगीतं त्वं च गीतवान् अन्ते सदय स्मित्वा स्वम् ।
श्रवणभूषण मयूरपिच्छं गौर्या मूर्धनि ते निहितम् ॥

---

* मॉडर्न रिव्यू के जून १९३२ के अंक में कवीन्द्र रवीन्द्र की कालिदासविषयक कविता का यह सस्कृत अनुवाद मेरे प्रियशिष्य और मित्र श्रीयुत पुरुषोत्तम नारायण वीरकर ने किया है ।

३

मनोहारिणीं कुमारसम्भवकथां गायता यावत्तौ ।
स्तूयेते स्म कवीश्वर ! भवता गौरीगिरिशौ भगवन्तौ ॥
तस्थु परितः प्रमथा सर्वं शान्तमाथ ततो मन्दम् ।
सायन्तन्यो नीरदमाला आचक्रमिरे गिरिशिखरम् ॥
गगनमण्डले तडिल्लतासौ न विलास निजमदर्शयत् ।
जलदाना वृन्दोऽपि समर्थो न तत्क्षणे गर्जितुमभवत् ।
कण्ठमुन्नत निजमवनमयन् कमनीय च तथा बर्हम् ।
स्कन्दमयूरो देव्यास्तस्थौ गिरिजाया निकटे निभृतम् ॥
किमपि चकम्पे क्वचित्सुमन्दस्मितेन देव्या ओष्ठयुगम् ।
तदनु च शीघ्र मुक्तवती सा दीर्घमलक्षितनि श्वासम् ॥
क्षणे च तस्या नयनापाङ्गे जाते बाष्पै परिप्लुते ।
व्रीडाकुलसम्भ्रान्तलोचना सपदि स्म च सा विलोक्यते ॥
ततस्तादृशीं देवीं गिरिजा कविकुलभूषण ! विलोकयन् ।
सपदि नीतवान् भवान् विराम मधुगान निजमरामासम् ॥

४

सुखदुःखाशानिराशादिभिर्द्वन्द्वैर्वयमिव कदाचन ।
किमभूदभिभूतो न भवानपि कथय कवीश्वर सनातन ॥
उपजापा वा राजकुले किं प्रावर्तन्त न दिवानिशम् ।
प्रवृत्त च किं हनन नासीत्कृपाणादिभिः प्रच्छन्नम् ॥
निर्घृणार्थिताधिकारानर्थै किं ते पीडा नैव कृता ।
तन्निवेदनाकुले त्वयि गता किं वाऽनिद्रा नैव निशा ॥
निखिलमूर्ध्नि तव कविता विमला समुल्ललास स्वच्छन्दम् ।
मन्ये शोभापद्म विकसितमभिप्रमोदप्रभाकरम् ॥
नैवापत्तिर्न चापि शोक परमदारुणा न वा व्यथा ।
नैताभिस्ते समवलोक्यते कविता क्वचिदपि कलङ्किता ॥
जीवितसिन्धु प्रमथ्य गरल प्राणहर त्व प्राशितवान् ।
उदीर्णाश्च ये सुधातुषारा समन्ततस्तान् विकीर्णवान् ।

रवीन्द्रनाथठक्कुरस्य । (विंशा शताब्दी)

संदर्भग्रथावलि

[निम्नलिखित सूची में ग्रथों के नाम के सामने दिये गये अर्धचन्द्राकृतिवेष्टित सक्षिप्त रूपों का प्रयोग प्रस्तुत पुस्तक में किया है]

(अ) कालिदास के ग्रथ

१ ऋतुसहार (ऋतु०) [निर्णयसागर प्रेस]
२ कुमारसभव (कुमार०) [निर्णयसागर प्रेस]
३ मेघदूत (मेघ०) [सपादक प्रो का बा पाठक]
४ रघुवश (रघु०) [सपादक गो र नदर्गीकर]
५ मालविकाग्निमित्र (माल०) [सपादक शि मा परांजपे]
६ विक्रमोर्वशीय (विक्र०) [सपादक श पां पडित]
७ शाकुन्तल (शाकु०) [सपादक प्रो अ बा गजेन्द्रगडकर]

(आ) हिन्दी अनुवाद—

१ कालिदासग्रथावली (अनूदित) (ग्रथ १—१०) हिमालय बुक डेपो, हरद्वार
२ कुमारसभव, रघुवश, मेघदूत और ऋतुसंहार—लाला सीताराम कृत रामनारायणलाल प्रयाग
३ मेघदूत—पं० केशवप्रसाद मिश्र कृत, इडियन प्रेस अलाहाबाद
४ शकुन्तला—राजा लक्ष्मणसिंह कृत
५ रघुवश (पद्यानुवाद) सरयूप्रसाद मिश्र
६ रघुवश (गद्यानुवाद)—प० महावीर प्रसाद द्विवेदी

(इ) हिन्दी समालोचनात्मक ग्रथ—

१ कालिदास और उनकी कविता—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत
२ कालिदास की निरकुशता और उसका निराकरण—प० महावीर प्रसाद द्विवेदी और जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी कृत (गगा पुस्तकालय)
३ कालिदास और भवभूति (अनुवाद) डी एल राय

(ई) संस्कृत ग्रंथ—
१ बुद्धचरित (बुद्ध०) अश्वघोषकृत [सं० प्रो कोवेल]
२ सौन्दरनन्द ,, [सं० जॉन्स्टन्]
३ स्वप्नवासवदत्त भासकृत [सं० म म गणपति शास्त्री]
४ प्रतिमा ,, [सं० म म गणपति शास्त्री]
५ सेतुबन्ध प्रवरसेनकृत [निर्णयसागर प्रेस]
६ भरतचरित श्रीकृष्णकविकृत [त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरिज]
७ काव्यमीमांसा(का मी) राजशेखरकृत [गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरिज]
८ कामसूत्र (का० सू०) वात्स्यायनकृत [निर्णयसागर प्रेस]
९ ज्योतिर्विदाभरण
१० शिवपुराण
११ मत्स्यपुराण
१२ पद्मपुराण
१३ कथासरित्सागर सोमदेव कृत [निर्णयसागर प्रेस]

(उ) अन्य भाषाओं के ग्रंथ—
1 K C Chattopadhyaya *The date of Kalidasa*
2 Lachhmidhar Kalla *The Birth place of Kalidasa*
3 Aravinda Ghose *Kalidasa*
4 S C De *Kalidasa* and *Vikramaditya*
5 Hillebrandt *Kalidasa* (German)
6 H D Sharma *Padmapurana* and *Kalidasa*
7 A B Keith *A History of Sanskrit Literature*
8 A B Keith *The Sanskrit Drama*
9 M Winternitz *Geschichte* der *indischen Litteratur*
10 *Cambridge History of India*, Vol I, *Ancient India*
11 V Smith *Early History of India* (E H I)

12 R G Bhandarkar *Vaishnavism Shaivism and Minor Religious Systems*
13 R G Bhandarkar *A Peep into the Early History of India*
14 K S Aiyangar *Studies in Gupta History*
15 Fleet *Gupta Inscriptions.*
16 H C Chakladar *Social Life in Ancient India*

इसके अतिरिक्त Epigraphia Indica (Ep Ind), Indian Antiquary (Ind Ant) Journal of Bihar and Orissa Research Society
(J B O R S) इत्यादि में प्रकाशित हुये यशोधन पर लेख

सूची

पृष्ठ